卐 ॐ नमः सिद्धेभ्य 卐

आचार्य माघनन्दि द्वारा प्रणीत

# ध्यानसूत्राणि

## प्रथम पुष्प

प्रो० पं०- नवीन

कर्त्ता

युवा मुनि 108 श्री सारस्वत् सागर जी महाराज

एवम

क्षुल्लक 105 श्री समिति सागर जी महाराज

सम्पादन प्रो० पं०

टीकम चन्द जैन, नीवन शाहदरा दिल्ली–32

प्रकाशक :-

आदि सारस्वत् ग्रन्थ माला समिति दिल्ली-31

दिनांक 11-2-1996 मुनि सारस्वत् सागर जी महाराज के केश लोच के शुभ अवसर पर

युवा मुनि 108 श्री सारस्वत् सागर जी महाराज

# 卐 जिनवाणी स्तुति 卐

वाणी सरस्वती तू, जिन देव की दुलारी।
स्याद्वाद नाम तेरा ऋषियों की प्राण प्यारी।

सुर-नर-मुनींद्र सब ही तेरी सुकीर्ति गावें।
तुम भक्ति में मगन हो तो भी न पार पावें।

इस गाढ़ मोह मद में हमको नहीं सुहाता।
अपना स्वरूप भी तो नही मातु याद आता।

ये कर्म शत्रु, जननी हमको सदा सताते।
गतिचार माहीं हमको नित दु:ख दे रुलाते।

तेरी कृपा से मां कुछ हम शान्ति लाभ करलें।
तुम दत्त ज्ञान बल से निज पर पिछान करलें।

हे मात तुम चरण में हम शीश को झुकावें।
दो ज्ञान दान हमको, जबलों न मोक्ष पावें।

वाणी सरस्वती तू जिन देव की दुलारी।
स्याद्वाद नाम तेरा ऋषियों की प्राण प्यारी।

---

आचार्य समन्तभद्र दि० जैन स्वाध्याय मण्डल
कैलाश नगर, दिल्ली-110031

**पुस्तक का नाम -** ध्यान सूत्राणि

**रचयिता -** श्री माघ नन्दी आचार्य द्वारा कृत

**हिन्दी अनुवाद -** आर्यिका स्याद्धवाद मती माता जी

**प्रेरणा स्त्रोत -** युवा मुनि 108 श्री सारस्वत् सागर जी महाराज

**एवंम**

क्षुल्लक 105 श्री समिति सागर जी महाराज

**ग्रन्थ माला संरक्षक -** उषा जैन IX/1982 गली नं. 4 कैलाश नगर
दिल्ली–31 दूरभाष–2461705

**प्रकाशक -** श्री आदि सारस्वत् ग्रन्थ माला समिति
दिल्ली–31

**प्राप्ति स्थल -** सुरेन्द्र कुमार जैन IX/1982 गली न. 4
कैलाश नगर दिल्ली–31 दूरभाष–2461705

2. कु. सुचित्रा जैन श्री विरेन्द्र कुमार जैन
IX/3556 धर्मपुरा जैनमोहल्ला गांधीनगर

3. श्री रघुराज जैन 3818 गीता गली
धर्मपुरा गांधी नगर दिल्ली–31
दूरभाष–2466357

4. मुनि सारस्वत् सागर जी महाराज ससंघ

**मुद्रक -** राधा प्रेस, गाधी नगर दिल्ली–31

# समर्पण

अज्ञानान्धकार के कूप से निकाल कर सन्मार्ग मुक्ति पथ पर लगाने वाले भगवान महावीर के अनुगामी अहिंसा के पुजारी प्रशान्त मूर्ति परम तपस्वी समाधि सम्राट मुनि कुंजर चारित्र चक्रवर्ती श्री 108 आचार्य आदि सागर जी महाराज (अंकली कर) के

**तृतीय पट्टाधीश**

**तपस्वी सम्राट**

**भारत गौरव**

**वात्सल्य मूर्ति**

**सिद्धान्त चक्रवर्ती**

**सन्त शिरोमणि**

आचार्य सन्मति सागर जी महाराज के परम शिष्य युवा मुनि 108 सारस्वत् सागर जी महाराज एवम् क्षुल्लक 105 समिति सागर जी महाराज जो कि मेरे दीक्षा गुरु है। उनके चरण कमलों में ब्रह्मचारी सुभम् जी तिर्भिक्ति पूर्वक नमोस्तु।

**सप्तम प्रतिमा धारण करने के तिथि-माघ कृष्णपक्ष: सम्वत् 2052-14-1-1996 के शुभ अवसर पर प्रकाशित्**

ससंघ बा॰ ब्र॰ सुभम

# मुनिकुन्जर चारित्र चक्रवती परम पूज्य १०८ आचार्य आदिसागर अंकलीकर का संक्षिप्त जीवन परिचय एवं परम्परा

| | |
|---|---|
| **जन्म स्थान -** | महाराष्ट्र प्रात-सागली जिला-कृष्णा नदी के किनारे बसा मनोहर सुन्दर ऐसा "अकाली ग्राम" हुआ। |
| **जन्म का नाम -** | शिवगौंडा पाटिल |
| **पिता का नाम -** | श्री सिद्ध गौडा पाटिल |
| **माता का नाम -** | श्रीमती अल्ला बाई |
| **पितामय का नाम -** | श्री शकर गौडा पाटिल |
| **भाई -** | दो–(१) बाल गौडा (२) बाब गौडा |
| **कुल -** | क्षत्रिय |
| **समाज में स्थान -** | गॉव के जागीरदार |
| **वंश अथवा जाति -** | चतुर्थ जैन |
| **धर्म श्रवण कराने -** | प॰ अप्पा शास्त्री, उदगॉव जो कि वहॉ वाले गुरू के नाम से ३ कि॰ मी॰ दूर है। |
| **गुरू चरणों में समर्पण -** | बाल्य काल मे नादणी मठ के भट्टारक स्वामी जिन्नाप्पा जिसे क्षुल्लक दीक्षा देन विनती और अल्पव्य एव ग्रहस्थ कर्तव्य पूर्ण न होने के कारण रुकावट। |
| **क्षुल्लक दीक्षा गुरु -** | नादणी गॉव के भट्टारक जिन्नापा स्वामी सन् १९०६ स्वाति नक्षत्र मे। |
| **उम्र -** | ३१ वर्ष |
| **ऐलक दीक्षा -** | दहिगॉव मे जिनेद्र साक्षी मे स्वय। |
| **मुनि दीक्षा -** | स्वय श्री १००८ देश भूषण, कुल भूषण भगवान एव पावन सिद्ध क्षेत्र स्थल मुनि दीक्षा (यही से छिन्न–भिन्न हुआ शिथिल मुनि मार्ग निर्दोष प्रारम्भ हुआ) |

**मूल तपस्या भूमि -** उद्गाँव कुजवन, तह.-शिरोल जनपथ-कोल्हापुर, प्रांत-महाराष्ट्र

**आचार्य पद प्रदान -** ज्येष्ठ सुदि पचमी 1915 स्थान-जयसिंगपुर आचार्य मुनि श्री आदिसागर जी

**के परम भक्त -** दयावान भद्र परिणामी सात गौंडा आचार्य शांति सागर जी(दक्षिणवाले)

**प्रमुख शिष्य -** ऐलक-शाति सागर जी महराज एवं महावीर कीर्ति जी महाराजजी। मुनि श्री अभिनन्दन (नखलपुर वाले) मुनि श्री वर्द्धमान सागर जी।

**आचार्य पद प्रदान -** अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री 108 महावीर कीर्ति जी को प्रदान किया।

**समाधि स्थान -** उदगाँव कुजवन महाराष्ट्र फाल्गुन बदि तीज सन् 1944 समाधि मे उपस्थित।

*साधुगण -* *आचार्य महावीर कीर्ति जी, आचार्य शाति सागर जी,* आचार्य श्री देश भूषण जी, आचार्य विद्यानन्द जी, मुनिराज नेमी सागर जी एव अनेक त्यागी वृति श्रावक-श्राविकाओ के सान्निध्य मे सम्पन्न हुआ।

**आचार्य श्री की गुरूपरम्परा के मूर्धन्य साधूगण त्यागीवृती-**

१ तीर्थ भक्त, समाज उद्धारक, समाधि सम्राट यत्र-मत्र-तत्र के विशिष्ट ज्ञाता, चरित्र चक्रवर्त्ति 18 भाषाओ के ज्ञाता आचार्य 108 महावीर कीर्ति जी।

२ उपसर्ग विजयेता, चरित्र चूडामणि, जिनवाणी, उद्धारक ऐ॰ शाति सागर जी (सात गौडा आगे आचार्य शाति सागर जी दक्षिण के नाम से देश विख्यात हुए)

३ मासोपवासी, परम तपस्वी, चरित्र चक्रवती आचार्य आदि सागर जी के तृतीय पट्टाचार्य आचार्य श्री १०८ सन्मति सागर जी।

४ निमित ज्ञान शिरोमणि, वात्सल्य मूर्ति, तीर्थोद्धारक, समाधि सम्राट, सत शिरोमणी, चरित्र चक्रवर्ती आचार्य विमल सागर जी।

५ गणधराचार्य, श्रमणोतम, वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री १०८ कुथ सागर जी।

६. परम जिनवाणी उपासक, सिद्धान्त के ध्याता, शांति मूर्ति आचार्य विमल सागर जी के प्रथम पट्टाचार्य आचार्य श्री १०८ भरत सागर जी।

७. परम पूज्य आचार्य सभव सागर जी।

८. प्रवचन केसरी तर्क, शिरोमणि, परम जिनवाणी उपासक आचार्य श्री १०८ पुष्प दन्त सागर जी।

६. आचार्य ऐलाचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री १०८ कनक नन्दी महाराज जी।

१० बालाचार्य जी मुनि श्री १०८ योगेन्द्र सागर जी महाराज।

११ आचार्य श्री १०८ पदम नन्दी जी महाराज।

१२. आचार्य कलप श्री १०८ करुणानन्दी जी।

१३. आचार्य श्री १०८ सुधर्म सागर जी।

१४. आचार्य श्री १०८ कुमुन्द नन्दि जी।

१५ आचार्य कलप श्री १०८ हेम सागर जी।

१६ आचार्य श्री १०८ विराग सागर जी।

१७. आचार्य श्री १०८ कल्पश्रुत नन्दि।

१८. प्रज्ञाश्रमण, प्रवचन केसरी, आचार्य श्री १०८ देव नन्दि जी महाराज।

१६ परम पूज्य १०५ क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति महाराज वर्तमान मे आचार्य देश भूषण जी के पट्टाचार्य श्री १०८ विद्यानन्द जी।

**इस तरह भारत की पावन भूमि पर**
**मानवता के शांतिस्वरूप धर्म ध्वजा अपने आचरण के**
**माध्यम से लहरा रहा है।**

# समर्पण

चतुर्थ कालीन मुनिचर्या अनेक ग्रन्थों को प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत करने वाले परम तपस्वी वात्सल्य मूर्ति पठन-पाठन स्वाध्याय प्रेमी युवा सम्राट मुनि 108 श्री सारस्वत सागर जी महाराज के कर कमलों में सादर समर्पित।

— बहन उषा जैन

# प्राक्कथन

प्रो. पंडित टीकम चन्द जैन
एम-84, नवीन शाहदरा
दिल्ली-32 फोन-2280137

इस भारत वसुन्धरा को चिरकाल से ऋषि और मुनियो ने अपने प्रवचनामृतो से अभिसंचित किया है। भौतिकता प्रधान इस युग में जबकि मानव कभी न तृप्त होने वाली इच्छाओ की पूर्ति मे ही लगा रहता है, दिगम्बर मुनि त्याग की पराकाष्ठा पर पहुँच कर स्व पर कल्याण में सलग्न रहते है। इसी प्रनीत शृखला मे प॰ पू॰ च॰ मुनि कुञ्जर समाधि सम्राट 108 श्री आदिसागर जी महाराज (अकलीकर) के तृतीय पट्टाधीश प॰ पू॰ तपस्वी सम्राट सिद्धान्त चक्रवर्ती महातपोविभूति श्रमणराज आचार्य 108 श्री सन्मति सागर जी महाराज के सुशिष्य 108 श्री सारस्वत सागर जी महाराज भी भव्य जीवो के कल्याण हेतु पूर्वाचार्य प्रणीत विभिन्न ग्रन्थों का प्रकाशन करवाते रहते है। जिससे पाठकगण अपने कर्त्तव्यो को जानकर उनका अनुसरण कर सुख शाति पूर्वक धर्ममय जीवन बिताते हुए मोक्ष मार्ग को अपना कर मानव जीवन सफल बना सके।

प्रस्तुत कृति ध्यानसूत्र पर आधारित प्रश्नोत्तरी है। इसका पूर्व में भी प्रकाशन हो चुका है। प॰ पू॰ माघनन्दी आचार्य कृत ध्यानाकल्पद्रुम के सूत्रो की रचना सरल, सुन्दर मार्मिक एव तत्काल कायरता कर दूर वीरता के भावो को भरने वाली है, और प्रत्येक सहृदय व्यक्ति की समझ मे आ सकती है। साथ ही वह साधक इन सूत्रों का चिन्तवन कर अपने जीवन मे एक अपूर्व ज्योति प्राप्त कर सकता है। सभी भाइयों के हित के लिए सस्कृत एव हिन्दी भावार्थ सहित इसका प्रकाशन कराया जा रहा है। यह ग्रन्थ मुख्य

रूप से साधुओं के लिय गौणरूप से श्रवाको के लिए हितकारी है। सामान्य पाठकों के लिए प्र श्नोत्तर के माध्यम से विषय का हृदयंगम करना सरल हो जाता है।

प्रस्तुत प्रकाशन के माध्यम से मुनि श्री सारस्वत सागर जी महाराज अपनी परम्परा के आचार्य 108 श्री आदि सागर जी (अंकलीकर) के बारे में भी पाठकों को जानकारी देना चाहते हैं। ताकि इसका प्रचार हो सके, इस कृति में प्ररूपति समस्त विषय वस्तु का श्रेय व दायित्व प. पू. मुनि श्री सास्वत सागर जी महाराज का है। उनकी यह पुनीत भावना रही कि ऐसी सर्वोपयोगी व समझ ग्राह्य पुस्तक का निः शुल्क वितरण किया जाय ताकि अधिकाधिक व्यक्ति इससे लाभान्वित होकर संयम का मार्ग अपना कर मोक्ष के पथिक बन सकें। मुझे पूर्ण आशा है कि विज्ञ पाठक इसका रसस्वादन करके अपने मानव जीवन को सफल बनाऐगें।

# ध्यान सूत्राणि

परम गुरु चारित्र चक्रवर्ती वात्सल रत्नाकर निमित ज्ञानी आचार्य 108 श्री विमल सागर जी महाराज के पट्टशिष्य आचार्य 108 श्री भरत सागर जी महाराज संघ आर्यिका रत्न 105 स्याद्ववाद मति माता जी द्वारा अनुवादित "ध्यान सूत्राणि" पर (प्रश्नोत्तर) आगम परक सरल सुबोध शैली में युवा मुनि 108 श्री सारस्वत सागर जी महाराज ने अपने गहन अध्ययन से सरल ढंग से प्रस्तुत किए है। जिसका निरन्तर स्वाध्याय जीव के जीवन क्रम को नया मोड़ देने में समर्थ है। श्री आदि सारस्वत ग्रन्थ माला प्रकाशन समिति के सदस्य एवं सहयोगी महानुभाव सधन्यवाद के पात्र हैं।

इति शुभम्

— डा. विनोद प्रकाश जैन,
लहरी कम्पाउन्ड, कोटला रोड,
फिरोजाबाद

श्री वीतरागाय नमः

आचार्यश्री माघनन्दि कृत

# ध्यान-सूत्राणि

सूत्र—

रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपञ्चेन्द्रियविषयव्यापारमनो-वचनकायकर्मभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानु-भूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्यात्वशल्यत्रयगारवत्रयदंड-त्रयादि-विभाव-परिणामशून्योऽहं ।। १ ।।

सूत्रार्थ—मेरी आत्मा राग-द्वेष मोह से रहित है, क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय (से) रहित है, पाँचों इन्द्रियों के विषयभूत व्यापारों (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द श्रवण) से रहित है, मन, वचन, काय की समस्त क्रियाओं से रहित है, राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्म, ज्ञाना-वरण आदि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म से रहित है। अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ अपने लिये इष्ट भोग, सुने हुए वा अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षा से रहित है अर्थात् निदान शल्य से रहित है, माया (मायाचारी) तथा मिथ्यादर्शन शल्य से रहित है इस प्रकार [मेरी आत्मा] तीनों शल्यों से रहित है। रस गारव-ऋद्धि गारव और सात गारव इन तीनों गारव अर्थात् तीनों अभिमानों से रहित है। मनोदंड, वचनदंड, कायदंड तीनों दंडों से रहित है। इस प्रकार मैं समस्त विभाव परिणामों से रहित विभाव परिणति से शून्य हूँ।

विशेषार्थ :

"रागपरिणामशून्योऽहं"

मेरी आत्मा राग परिणाम से रहित है। अथवा मैं राग परिणाम शून्य हूँ।

**प्रश्न**—राग किस द्रव्य की परिणति है ?

**समाधान**—राग जीव द्रव्य की परिणति है। अर्थात् जीव द्रव्य को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य मे राग नहीं पाया जाता है।

**प्रश्न**—राग जीव द्रव्य में होता है फिर मेरा आत्मा राग परिणति से रहित कैसे हो सकता है ?

**उत्तर**—यद्यपि राग जीव द्रव्य में होता है पर सभी जीवों में नहीं पाया जाता है। राग अशुद्ध/संसारी जीवों में ही पाया जाता है, शुद्ध/सिद्ध जीवों में नहीं। अतः पारमार्थिक दृष्टि से राग जीव की विभाव परिणति है, सदा साथ नही रहता, अशुद्ध जीवों में ही पाया जाता है अतः पारमार्थिक नय की अपेक्षा "मेरी आत्मा राग से रहित है"।

**प्रश्न**—राग किस कर्म की प्रकृति है ?

**उत्तर**—जीवों को संसाररूप महाचक्र में फँसाने वाला मोहनीय कर्म है उस मोह राजा के दो पुत्र हैं—१. राग, २. द्वेष। अर्थात् राग मोह कर्म की प्रकृति है।

**प्रश्न**—राग किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इनका नाम राग है [ ध० पु० १२ ] अथवा छल-कपट करना, मायाचारी करना, नपुंसक वेद, स्त्री-पुरुष वेद रूप विकार परिणति करना, हँसना व इष्ट पदार्थ में रति करना राग है।

"**द्वेषपरिणामशून्योऽहं**"

मेरी आत्मा द्वेष परिणाम से शून्य है अथवा मैं द्वेष परिणति से रहित हूँ।

**प्रश्न**—द्वेष किसे कहते है ?

**उत्तर**—"क्रोध-मान-शोक-भय-जुगुप्सा, अरतिरूप परिणामो द्वेषः" ....क्रोध-मान शोक-भय-जुगुप्सा-अरतिरूप परिणाम को द्वेष कहते हैं।

**प्रश्न**—द्वेष किस द्रव्य में पाया जाता है ?

**उत्तर**—द्वेष जीव द्रव्य मे पाया जाता है। यह द्वेष भी जीव द्रव्य की विभाव परिणति है।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, आसन्न भव्य जिसके कर्मों की स्थिति अन्तः कोड़ा कोड़ी मात्र या उससे भी कम रह गई है, विशुद्ध परिणति वाला तथा जिसको दिगम्बर साधुजनो की देशना प्राप्त हुई तथा जिसका अज्ञान अस्त हो चुका है ऐसा मुक्तिराही/पथिक धर्म्यध्यान के द्वारा आत्मोपलब्धि को उत्सुक हुआ, किसी एक नदी किनारे अथवा जंगल में अथवा जिनालय में एकान्त स्थान में बैठा हुआ अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये जागृत है।

पथिक सम्यग्दृष्टि है, दया से भींगा हुआ उसका हृदय है तथा "अपने आत्म स्वरूप को बार-बार देखने के लिये लालायित है। जैसे किसी

पुरुष का कीमती हीरा रेत के ढेर में गिर जाता है तो वह पुरुष उस रेत के एक-एक कण को अलग-अलग कर अपने रत्न/हीरा को पा ही जाता है अथवा मूर्तिकार पाषाण में से टाँची द्वारा एक-एक अनुपयोगी पाषाण को निकालकर जिनबिम्ब का निर्माण करता है ठीक उसी प्रकार मुक्तिराही/पथिक देह देवालय में विराजमान परम प्रभु परमात्मा को पाने के लिये व्याकुल हुआ समस्त विभावपरिणतियों को ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा भस्मीभूत करने के प्रयास/पुरुषार्थ में प्रयास कर रहा है।

पथिक ! चिन्तन में लीन हुआ ध्यान सूत्रों के आश्रय से आत्मानन्द-रस का पान कर रहा है।

मुक्तिपथिक ! चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होते हैं उनका नाम राग-द्वेष है। मेरी आत्मा परमार्थ से, राग-द्वेष परिणति से रहित है। इष्ट में प्रीति अनिष्ट से द्वेष करना मेरा स्वभाव नही है। ये विभावपरिणतियाँ हैं।

संसार जीव के जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी अवश्य है। आचार्यों ने कहा—"पर्यायें प्रतिपक्ष सहित है" "सपडिवक्खा पज्जाया।"

पथिक ! रुको, चिन्तन करो। वास्तव में संसार में कोई वस्तु न इष्ट है न अनिष्ट। जैसी है वैसी ही है। परन्तु अनुकूल में प्रीति व प्रतिकूल में अप्रीति से तुम संसार मे फँस रहे हो। ग्रीष्म ऋतु मे ऊनी या मोटा वस्त्र देखते ही द्वेष/अरति करते हो जबकि शीत ऋतु आते ही मोटा ऊनी वस्त्र देखते ही हृदय से स्व बालकवत् चिपकाये रहते हो, क्या कपड़े ने अपना स्वभाव बदला है ? नही, अपनी राग-द्वेष परिणति ने विचारों को भ्रमित कर उलझन मे डाला है। अनादिकाल से ये विभावपरिणतियाँ तुम्हारे जीवन को कलंकित कर रही है, पथिक ! राग-द्वेष से भिन्न वीतराग परिणति जीव का स्वभाव है, उसी की प्राप्ति करो, उसी का आश्रय करो—"जानो देखो बिगड़ो मत" पदार्थ के ज्ञाता दृष्टा बनो, पर उसमे राग-द्वेष मत करो।

बध्यते मुच्यते जीव निर्मम स मम क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्मम इति चिन्तयेत्॥

—इष्टोपदेश

पथिक ! परद्रव्य में यह मेरा है, यह राग बुद्धि ही बन्ध के लिये कारण है तथा परद्रव्य में यह मेरा नही है ऐसी विराग बुद्धि ही मुक्ति के लिये कारण है, इसलिये सर्व प्रयत्न करके निर्मम इसका चिन्तन करो। वीतरागता का आश्रय करो।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीव विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥—समयसार गाथा १५०

पथिक ! रागी कर्मों से बँधता है, वीतरागी कर्मों से छूटता है ऐसा जिनदेव का उपदेश है इसलिये कर्मों में राग मत कर ।

यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये ।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निजपद बेइये ॥

पथिक ! राग आगवत् आत्म गुणों का जलाने वाला है अतः उसका त्यागकर सुख-दुख, मित्र-शत्रु, इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग, श्मशान या महल सब में समताभाव को धारण करो । अनन्तकाल से विषय-कषायों की पुष्टि की, अब उनका त्याग कर निजपद ( अरहंत सिद्ध ) को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो ।

**प्रश्न**—निज पद प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—"चितय निजदेहस्थं सिद्धम्, आलोचय कायस्थ बुद्धम् ।
स्मर पिंडस्थं परम विशुद्धम्, कल केवल केली शिवलब्धम् ॥"
—वै० म०

पथिक ! तुम अपने शरीर सदन में विराजमान शोभा सम्पन्न सिद्ध भगवान् का चिन्तन करो, शरीर में पाये जाने वाले ज्ञानस्वरूप कर्ममल रहित शुद्धात्मा का दर्शन/आलोकन करो, शरीर में पाये जाने वाले परम विशुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तन करो और अन्त में केवलज्ञानरूपी क्रीड़ा के द्वारा "मोक्ष" स्थान की प्राप्ति मे सफल प्रयत्न होओ ।

"रागद्वेषरूप विभाव परिणाम शून्योऽहम्"
वीतरागोऽहम् । वीतद्वेषोऽहम् । वीतमत्सरोऽहम् ।

## "मोह रहितोऽहम्"

मेरी आत्मा मोह रहित है ।

पथिक ! अष्ट कर्मों में मोहनीय कर्म ही सर्व प्रधान है क्योंकि ससार परिभ्रमण का यही मूल कारण है । यह दो प्रकार का है—दर्शनमोह और चारित्रमोह । दर्शनमोह सम्यक्त्व को व चारित्रमोह साम्यता रूप स्वाभाविक चारित्र को घातता है । इन दोनों के उदय से पथिक ! तुम रागी-द्वेषी हो स्वरूप से च्युत हो जाते हो अतः मोह का त्यागकर निर्मोह को भजो ।

**प्रश्न**—मोह किसे कहते हैं ?

उत्तर—"मोहयति मोह्यतेऽनेनेति वा मोहः" जो मोहित करता है या जिसके द्वारा जीव मोहित होता है वह मोह है। अथवा

जीव के द्रव्यादि संबंधी मूढ़ भाव मोह है अर्थात् धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति जीव के परद्रव्य गुण पर्याय में होने वाला तत्त्व अप्रतिपत्ति लक्षण वाला मूढ भाव वास्तव में मोह है। [ द्र० सं० टीका ]

मोह का कार्य क्या है ?

"पर को अपना मान बैठा, निज को पहचाना नहीं" स्वरूप से च्युति मोह का कार्य है। मोह की प्रकृति मद्यपायीवत् होती है—

"मोहमहामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि"—छहढाला

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जाने।
जो कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन माने॥

—बं० भा०

पथिक ! यह मोह स्वानुभूति का नाशक है तथा दर्शनमोह व चारित्रमोह के भेद से दो प्रकार का है—पंचास्तिकाय टीका में कथन आया है कि—मोह के उदय से पैदा होने वाले ममत्व आदि के विकल्प जालों से रहित जो स्वानुभूति उसका नाश करने वाला दर्शन व चारित्रमोह कहा जाता है। [ पं० पृ० ३३१ ]

पथिक ! दर्शन व चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेकरूप मोह परिणाम से तूने कारागृह को घर मान रखा है, बेडी को वनिता व पहरेदारो को इष्ट परिवारजन मान रखा है।

"घर कारागृह, वनिता बेडी परिजन जन रखवारे"

पथिक ! किस पर मोह करते हो ? घर, पुत्र-पुत्री, स्त्री, माता-पिता किस पर ? एक एक को दूरदृष्टि से देखो, पाओगे इस मोहजाल ने ही तुम्हारा पतन किया है।

पथिक ! जिस शरीर से मोह करते हो वह असंख्यात रोगों का पिण्ड है,और मल का पिटारा है जितना पुष्ट करते हो उतना ही दुःखी करता है।

पथिक ! अपने शरीर से जरा पूछ लो। तुमने इसकी जन्म से आज तक सेवा की है। क्या मित्र बनकर आपकी परलोक की यात्रा मे साथ जायेगा।

पथिक धीरे से शरीर मित्र से चर्चा कर रहा है.........

सोलह सिंगार विलेपन भूषण, ये निसिवासर तोय सम्हारे।
पुष्ट करी बहु भोजन पानन, धर्मरुकर्म सबै बिसराये॥
सेये मिथ्यात्व अन्याय किये बहु, तो तन कारण जीव संहारे।
भक्ष्य गिने न अभक्ष्य गिने, अब तो चल संग तू काय हमारे॥

शरीर कृतघ्नी बन उत्तर देता है—पथिक ! तुम भूल रहे हो मेरी बात भी सुन लो……

क्या अनहोनी कहो यह चेतन, भंग खई कि भये मतवारे।
संग चली न चलूँ कबहूँ लखि, ये ही स्वभाव अनादि हमारे ॥
इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्रन के संग, नाहि गई तुम कौन विचारे।
कोटि उपाय करो तुम चेतन, तोहू चलूँ नहिं संग तुम्हारे ॥

पथिक ! पुत्र से मोह करते हो तो पुत्र सम शत्रु नहीं जग में। जिस पिता ने पाला था, माँ ने नौ माह पेट में रखा था वही पुत्र शादी के बाद माता-पिता को छोड़कर पत्नी के मोह में फँसकर स्वपरिवार के पोषण में पड़ जाता है।

पथिक ! किससे मोह करना। राम ने अपनी प्यारी सीता को प्रजा के मोह में मर्यादा की रक्षार्थ त्याग दिया, भरत चक्रवर्ती ने राज्य के मोह में बाहुबली पर चक्र चला दिया, द्रोणाचार्य ने अर्जुन के मोह में एकलव्य का दाहिने हाथ का अँगूठा कटवा लिया, मान की रक्षार्थ राजा पहुपाल ने पुत्री मैना को कोढ़ी पति के साथ ब्याह दिया, अंजना को सास ने कलंकित कर घर से निकाला, पर माँ ने भी शरण नही दिया कारण कि कुल का मोह था।

पथिक ! चिन्तन करो किस ससार में फँस रहे हो, तुम्हारा स्वशरीर ही तुम्हारा नहीं हो पा रहा है वह भी धोखा दे रहा है तो पर शरीर, स्त्री, पुत्र, भाई आदि कैसे तुम्हारे हो सकेंगे।

हे मुक्तिराही भव्यात्मन् ! अनादिकाल से सतत प्रवाहमान आज तक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो और सम्यग्ज्ञान का, स्वानुभव-रस का आस्वादन करो। क्योंकि इस लोक मे आत्मा वास्तव में, किसी प्रकार भी परद्रव्यों के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह जीवात्मा निश्चय से एक है।

पथिक ! आचार्य श्री पुकारकर कह रहे है····

अयि ! कथमपि मृत्वा, तत्त्वकौतूहली सन्,
अनुभव भव मूर्तेः, पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥

—समयसार कलश २१

हे भाई ! तू किसी प्रकार कष्ट पाकर अथवा मर पचकर भी तत्त्वों का कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त के लिये पड़ौसी

बनकर आत्मानुभव कर; जिससे शरीर से भिन्न जिसका विलास है; ऐसी अपनी आत्मा को सर्व द्रव्यों से भिन्न देखकर तू इस शरीरादि पुद्गल-द्रव्य के साथ एकत्वरूप मोह को शीघ्र ही, छोड़ देगा।

पथिक ! जब जीव को परमाणुमात्र राग/मोह भी यदि विद्यमान है तो वह जीव सर्व आगम को जानता हुआ भी आत्मा को नहीं जान सकता, फिर तुम तो विश्व के समस्त पदार्थों (चेतन-अचेतन) से भिन्न होकर भी अपने को उनसे अभिन्न मान पर पदार्थों की चिन्ता में डूब रहे हो। सोचो, तुम्हे तुम्हारा चिन्तामणि रत्न कैसे प्राप्त हो सकेगा, कभी नहीं। बाहर की सर्व दुनिया का मोह छोड़ो····

भ्रातुर्मे वचनं कुरु सारम्,
चेत्त्वं वांछसि संसृतिपारम्।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधम्,
त्यज, भज त्वं संयमवरबोधम्॥ ६॥—वै० म०

हे बन्धु ! यदि तू ससार सागर से पार होना चाहता है तो मेरे सारभूत वचनों के अनुसार कर। मोह को छोड़कर तथा काम-क्रोध का भी त्याग कर, संयम व सम्यग्ज्ञान को धारण करो।

मेरी आत्मा मोह रहित है। मैं मोह परिणामों से शून्य हूँ।

**"क्रोधकषायरहितोऽहम्"**

पथिक ! मेरी आत्मा कषाय से रहित है।

**प्रश्न**—कषाय किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—सम्यक्त्वादिविशुद्धात्मपरिणामान् कषति हिनस्ति इति कषायः।

सम्यक्त्व आदि विशुद्ध परिणामों का जो घात करती हैं उसे कषाय कहते हैं।

क्रोध-मान-माया-लोभ के भेद से कषाय ४ प्रकार की हैं।

**प्रश्न**—क्रोध किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—क्रोध गुस्सा को कहते हैं। यह आत्मा की वस्तु नही, मेरी आत्मा इस क्रोध से रहित है।

**प्रश्न**—क्या क्रोध आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में होता है ?

**उत्तर**—नहीं, क्रोध आत्मा में ही होता है परन्तु परमार्थ से यह जीव का स्वभाव नहीं है।

**प्रश्न**—फिर भी यह आत्मा क्रोध से रहित कैसे ?

**उत्तर**—पथिक ! क्रोध जीव की त्रैकालिक परिणति नहीं है यह जड़

पदार्थों का निमित्त पाकर अशुद्ध जीव में होता है। क्रोध विभावपरिणति है, क्षमा जीव का स्वभाव है। स्वभाव में जीव अनन्तकाल तक एक पर्याय में रह सकता है परन्तु विभाव में जीव अधिक समय नहीं रह सकता है। शान्ति/क्षमा में यह जीव घंटों या अनन्तकाल रह सकता है जबकि क्रोध में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं ठहर सकता।

क्षमा और शांति में सुखी रहै सदैव जीव,
क्रोध में न एक पल रहै सुख चैन से।
आवत ही क्रोध अंग-अंग से पसेव गिरै,
होठ डसै, दाँत घिसै, आग झरै नैन से॥
औरन को मारै, आपनो शरीर कूटि डारै,
नाक भौं चढ़ाय कुराफात बकै वैन से।
ज्ञान ध्यान भूलि जात, आपा पर करै घात,
ऐसे रिपु क्रोध को भगावो क्षमा सेन से॥ १०॥

—भ० प्र०

पथिक! क्षमा आत्मा का शाश्वत गुण है। शान्ति-क्षमा आदि आत्मा के शाश्वत गुण हैं अतः आत्मा के स्वभाव हैं, क्रोध आत्मा की क्षणिक परिणति है अतः आत्मा क्रोध से शून्य है। शाश्वत वस्तु मेरी आत्मा ही है विभाव/क्षणिक वस्तु से मेरा कोई सम्बन्ध नही, अतः मेरी आत्मा क्रोध से रहित है।" "क्रोध मेरा नही, मैं क्रोध का नहीं।"

**प्रश्न**—क्रोध की प्रकृति क्या है?

**उत्तर**—क्रोध आने पर शरीर गरम हो जाता है, आँखें लाल-लाल हो जाती हैं। अंग फड़फड़ाने लगते हैं, दाँत कड़कड़ाने लगते हैं। जैसे गरम-गरम उबलते पानी में कोई अपना चेहरा देखना चाहे तो देख नहीं सकता है उसी प्रकार क्रोध की धधकती ज्वाला में यह जीव आत्म-स्वरूप को भूल जाता है।

पथिक! क्रोध किस पर करते हो? अपकारी पर!

अपकुर्वंति कोपश्चेत्, किन्न कोपाय कुप्यसि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य, जीवितस्य च नाशिने॥ ४२॥—क्ष० चू०

पथिक! यदि उपकार करने वाले मनुष्य पर तुम्हारा क्रोध है तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाशक कोप के लिए क्यों नहीं क्रोधित होते हो।

क्रोधरूपी अग्नि अपने आपको ही जलाती है, दूसरे पदार्थ को नहीं, इसलिये क्रोधी पुरुष दूसरे को जलाने की इच्छा से अपने शरीर पर ही अग्नि को फेंकता है।

**प्रश्न**—क्रोध का फल क्या है ?

**उत्तर**—क्रोध करि मरे और मारे ताहि फांसी होय,
किंचित् हू मारे वोहू जाय जेलखाने में।
जो कहूँ निबल भये हाथ पाँव टूटि गये,
ठौर ठौर पट्टी बँधी पड़े सफाखाने में ।।
पीछे से कुटुम्बीजन हाय-हाय करत फिरें,
जाय जाय पैरों पड़ें तैंसील रु थाने में।
किंचित् किये तें क्रोध एते दुख होत भ्रात,
होत हैं अनेक गुण जरा गम खाने में ।।१०।।—अध्य प्र०

पथिक ! क्षमा धारण करो, विभाव का त्याग करो, स्वभाव में लीनता को प्राप्त करो।

सज्जनों के लिये····

खाने के लिये गम।
"पीने के लिये—क्रोध"

भाने योग्य भावना—"क्रोध परिणामशून्योऽहम्" ।
क्षमाधर्म स्वरूपोऽहम् ।

**"मान रहितोऽहम्"**

मुक्तिराही/मोक्षपथिक ! मेरी आत्मा मान से रहित है।

**प्रश्न**—मान किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—मान अह-बुद्धि अथवा घमंड को कहते हैं।

हे पथिक ! परमार्थ से मान और अपमान से रहित शुद्ध चिदानन्दमय मेरी आत्मा विशुद्ध परिणाम सहित है। परमार्थ से स्वजीवतत्व की महानता से अनभिज्ञ रहकर मैंने विभावपरिणति मे ही अनन्तकाल व्यतीत कर दिया। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर के मद में मस्ताना हो मैंने अपने मान को अहं को जरा भी ठेस नही पहुँचने दी, पर एक क्षण भी जीवात्मा के स्वाभिमान की रक्षा की ओर लक्ष्य नहीं दिया।

रुको, पथिक ! लक्ष्य दो, एक क्षण चिन्तन करो····। क्षायोपशमिक ज्ञान का अहंकार करते हो ? केवलज्ञान (क्षायिक ज्ञान) ज्ञान की शुद्ध परिणति के सामने तुम्हारा यह क्षायोपशमिक ज्ञान तो न कुछ/अंश मात्र भी नही है फिर किस ज्ञान का अहम् करना ? जिस ज्ञान की शुद्ध परिणति में त्रैकालिक द्रव्य गुण-पर्याय युगपत् झलकती है वहाँ तुम्हारा क्षायोपशमिक

ज्ञान पीठ पर चलने वाली चींटी को भी नहीं देख सकता अथवा पीठ के पीछे रखे पदार्थों को भी देखने में असमर्थ है, फिर ज्ञान का मान कैसा ?

सतत विचार करो पथिक ! मेरी आत्मा क्षायोपशमिक ज्ञान से रहित है।

### मैं ज्ञानमद से रहित हूँ

मेरी आत्मा में ज्ञान मद नही है। ज्ञान को पाकर अभिमान करना विभावपरिणति मे उलझना है अत: ज्ञान मद का त्याग करो।

मैं राजपुत्र, मैं सेठ पुत्र, मैं करोड़पति, मैं लखपति, मेरी लोक में सर्वत्र पूजा प्रतिष्ठा हो रही है मुझ सा भाग्यशाली और कौन होगा ? ऐसा अहम् करना आत्मस्वभाव नहीं। पथिक ! यह सब बाहरी ठाठ-बाट पुण्य के दास हैं पुण्य का क्षय होते ही राजा भी रंक हो जाते हैं, बड़े-बड़े राजा व चक्रवर्तियो का भी मान भंग हो गया तो फिर आज चक्रवर्ती, राजा आदि का राज नही, सुलतानों की शान भी न रही फिर तुच्छ सम्मान में क्यों फूलकर गुप्पा हो रहे हो यह विभावपरिणति दुर्गति की कारण है।

पथिक आगे बढ़ता है कि कुल का मान सामने आकर खड़ा हो जाता है। मैं बड़े कुल का आदमी आज साधु बन गया तो क्या हुआ। मेरे घर में मैं बड़े राजसी ठाट से रहता था, शुद्ध घी मनो भर खाता, बड़े-बड़े ग्लास भर दूध पीता था और बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनता था। मेरे कुल की होड़ कौन कर सकेगा।

मुक्ति पथिक ! स्वयं को सम्बोधित कर रहा है। भूल रहे हो पथिक ! किस कुल का अभिमान करते हो ? तीर्थंकर के कुल से बड़ा किसका कुल है ? जहाँ खाना-पीना-भोजन-वस्त्र सभी देवोपनीत होते हैं। ऐसे उत्तम कुल के वैभव को भी ठोकर देकर तीर्थंकर भगवान् दिगम्बर मुद्रा को धारण कर लेते हैं फिर किस कुल का अभिमान करना। बड़े-बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रियों के भी कुल काल कवलित हो गये फिर क्या तुम्हारा यह कुल जिसमें कि अभी मोक्ष प्राप्ति भी नहीं, क्या सदा रहेगा। पथिक ! कुलाभिमान का त्याग करो, स्वाभिमान जागृत करो, उत्तम कुल में जन्म पाकर चारित्र को अंगीकार कर वीतराग मुद्रा को धारण करने में कुल की शोभा है। "अहं विभाव परिणति है" स्वाभिमान स्वभाव परिणति है। "कुल मद रहितोऽहम्" मेरी आत्मा कुल मद से रहित है।

जाति का मद भी मुक्ति तो दूर सम्यग्दर्शन का भी बाधक है। पथिक ! तुमने अनन्तों बार एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, तीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जातियों में जन्म-मरण किया। उत्तम जाति में उत्पन्न हुआ,

अहंकार में डूब गया और नोच जाति मे उत्पन्न हुआ तो निरन्तर ताड़न-मारन-बन्धन आदि से दुखी रहा। पथिक ! अब उत्तम जाति के अभिमान का त्याग कर विचार करो "अहो कर्म वैचित्र्य" मैं भी कभी कर्मोदय से नीच जातियों में उत्पन्न हुआ था, मेरी भी कभो यही दशा थी आज घमंड किस बात का। इतना विचार करते ही पथिक का जाति मद तिरोहित हो भाग जायेगा।

"मान महाविषरूप करहि नीच गति जगत में"।

णवि देहो वंदिज्जई.

"जातिमदरहितोऽहम्" मेरी आत्मा जातिमद से रहित है।

पथिक ! तुम्हारी आत्मा अनन्तशक्ति का पुञ्ज है। उस अनन्तशक्ति का तो पहिचान नहीं करते हो और शारीरिक शक्ति का अहम् करते हो यह तुम्हारी मूढता है। और जिस शारीरिक बल का मद कर रहे हो वह भी व्यर्थ है क्योंकि सबसे अधिक बल तीर्थंकर फिर चक्रवर्ती, फिर अर्द्धचक्री आदि महापुरुषो में होता है अत: स्वयं निर्णय कीजियेगा।

पथिक ! मुक्तिराही ! तुच्छ बल को पाकर फूल रहे हो, विचार करो कहाँ तीर्थंकर, केवली भगवान् का अनन्त बल और कहाँ तुम्हारे भीतर महाव्रत धारण की अथवा निर्दोष पालन की भी असमर्थता ? कहाँ वज्र-वृषभनाराचसंहनन में महाव्रत का धारी १४८ कर्मशत्रुओं को चूर-चूर करने की क्षमता और कहाँ हीन संहनन के कारण एक भी कर्म प्रकृति का विरोध करने का असामर्थ्य, कहाँ भूल रहे हो ? बल के मद का त्याग करो। पुण्योदय से यदि कुछ शक्ति मिली भी है तो मुक्ति महल की सीढ़ी अणुव्रत, देशव्रत व महाव्रतो का पालन करो, वीर्यान्तराय कर्म के क्षय करने का पुरुषार्थ करो। अपनी आत्मा में छिपी अनन्तशक्ति को पहि-चानों, व्यर्थ परिश्रम या अहंकार से तुम्हारा कोई वास्ता नही।

"अनन्तशक्ति स्वरूपोऽहम्"—मेरी आत्मा में अनन्तशक्ति है।

"अनन्त बल स्वरूपोऽहम्"—मै अनन्तबलसहित हूँ।

"बलमद रहितोऽस्मि" —मैं बलमद से रहित हूँ।

"ऋद्धिमद रहितोऽस्मि" —मै ऋद्धिमद रहित हूँ।

पथिक ! जिनके दर्शन मात्र से सर्प का विष उतर जाता है, जिनको स्पर्श हुई हवा रोगी के रोग को दूर कर देती है, जिनके चरणो की धूलि के स्पर्श मात्र से पाषाण भी स्वर्ण बन जाता है तथा जिनके दर्शन मात्र से जन्मजात वैरी जीव भी वैर को भूलकर स्नेह को प्राप्त होते है ऐसे तीर्थंकर व ऋद्धिधारी मुनियों की ऋद्धि अथवा चक्रवर्ती के वैभव के

सामने तुम्हारे पास है ही क्या ? "एक कोड़ी" मात्र पाकर अपने आपको वैभवशाली/ऐश्वर्यवान् मान रहे हो यह तुम्हारा स्वभाव नहीं। तुम्हारा आत्मा अनन्त ऋद्धिका धारी है उस अनन्त की खोज करो, उसे पाओ। क्षणिक/नश्वर चंचला लक्ष्मी में क्यों फँसे हो।

पथिक ! सच्ची रत्नत्रय निधि को प्राप्त करो। शाश्वत निधि के स्वामी होकर नश्वर की ओर दौड़ मत लगाओ, अपने भीतर छिपे खजाने को खोलो, उसी को टटोलो, व्यर्थ का अहंकार कर्मक्षय का वा आत्मानन्द का बाधक है। विभावपरिणति से दूर हटकर स्वभाव में रमण करो।

रत्नत्रय वैभव सहितोऽहम्।

रत्नत्रय ऋद्धि सहितोऽहम्।

"तप मद रहितोऽहम्"

मेरी आत्मा तप मद से रहित है।

पथिक ! तप उसे कहते हैं जो पतन से बचावे। तपन से धान्य पक जाता है, तपन से स्वर्ण पाषाण चमक उठता है उसी प्रकार तप के द्वारा जीवात्मा शुद्ध निर्मल परमात्मा बन जाता है।

मिथ्यात्व के वश इस जीव ने अनेकों बार मिथ्या तपों का आश्रय लिया। ख्याति पूजा लाभ की भावना से ऐसा तप किया कि देखने वाला भी ख्याति दिये बिना नहीं रहा, परन्तु पथिक ! तप के मद में आकर अपने से भिन्न तपस्वियों की निन्दा करता रहा, जिससे नीच गति का पात्र बना।

पथिक ! सम्यक्दर्शन सहित कर्मक्षयार्थ किया गया तप मुक्ति का साधक है उसी का आश्रय करो। अहंकार से या दिखावा/प्रदर्शन के लिये किया गया तप संसार वृद्धि का ही कारण है। अतः निस्पृहवृत्ति से तप की आराधना में जुट जाओ और कर्मेन्धन को भस्म कर डालो। विभाव-परिणाम से शून्य हो, स्वभाव में झाँको।

"प्रदर्शन परिणामशून्योऽहम्"

"शरीर मद रहितोऽहम्" मेरी आत्मा शरीर मद से रहित है।

पथिक ! क्या सोच रहे हो ? मैं कितना सुन्दर हूँ, मेरा शरीर गोरा है, निरोग मेरे शरीर से सब प्यार करते हैं, किस पर वस्तु का अहंकार कर रहे हो ? इसका स्वभाव जानते हो—

"दुर्जन देह स्वभाव बराबर मूरख प्रीति बढ़ावे"

शरीर रोगों का घर, अशुचि का पिटारा है इसका क्या मद करता है, इसके अन्दर विराजमान सुन्दर त्रिलोकीनाथ, त्रिकालज्ञ, चिदानन्द

चैतन्य प्रभु की सुन्दरता को निहार। तीर्थंकर का अतिशय कहाँ और तेरा हुण्डक संस्थान कहाँ ?

आत्म सौन्दर्य को छोड़कर परद्रव्य के सौन्दर्य को अपना मानना यही जीवतत्व की अनादिकालीन भूल है इस भूल को निकालकर, सुन्दर आत्मा कैसा है ? इसे देखो....

आत्मा ज्ञानमय अमूर्तिक पदार्थ है इस कारण वह न सफेद है न काला, न मोटा है न दुबला है वह तो मात्र ज्ञानदर्शनमयी अखंड अविनाशी रत्नकरण्ड है।

पथिक ! तुम्हारा आत्मा अष्टमद रहित है, परवस्तु में अहंकार करना और अपनी शाश्वत निधि को भूल जाना मुक्तिराही में तुम्हे शोभा नहीं देता—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥—स० श०

जिस जीव के मन में मोह, राग, द्वेष का विकार है उस जीव के अपमान या अवज्ञा करना, ईर्ष्या करना, क्रोध करना आदि भाव होते है और जिस जीव के मन में द्वेषादि भाव नहीं होते उसके अपमान, अहंकार, लोभ, ईर्ष्या आदि दुर्भाव भाव भी नहीं होते।

मुक्ति पथिक ! तुम्हारी आत्मा विक्षेप रहित है अतः अहंकार का त्याग कर स्वाभिमान को जागृत करो। पथिक ! आत्म स्वाभिमान से च्युत नहीं होना, पर अभिमान को अन्दर में झांकने नहीं देना ऐसी वीतरागी कुल की रीति अनादिकाल से चली आ रही है इसे अपनाओ।

रुको पथिक, फिर सोचो इस भव में मान बड़ाई के लिये बड़े-बड़े व्रत-दान-पूजा-उपवास भी किये, दानशालाएँ, पाठशालाएँ खोलीं, "मेरे मरने के बाद भी मेरा नाम रहेगा" पर एक दुनिया छोड़ दूसरी बसाओगे तो तुम्हारी आत्मा को उस प्रशंसा से क्या लाभ मिलेगा ? स्वाभिमान जागृत करो—

मैं तीर्थंकरों के कुल का वंशज हूँ, उन्ही के समान कर्मकाष्ठ को भस्मीभूत कर आत्म ज्योति का दर्शन करूँगा। मैं पंच परमेष्ठी स्वरूप हूँ।

यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः ॥३१॥—स० श०

परमार्थदृष्टि से जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ, तथा मैं हूँ वह परमशुद्ध परमात्मा है अतः वह मेरे द्वारा मुझसे मैं ही उपासना करने योग्य हूँ अन्य कोई पदार्थ उपासना करने योग्य नहीं है।

**"मान-अपमान परिणामशून्योऽहम्"**

मैं मान अपमान परिणाम से शून्य हूँ।
"मेरी आत्मा सिद्ध स्वरूप है।"

ऊँच कुल जाति बल धनैश्वर्य प्रभुता का,
पुण्य उदै पाकर क्या मान करै बावरे।
आपको महान जानि औरन को तुच्छ मानि,
पीके मद मद्य धरै भूमि पै न पाँव रे।
बड़े बड़े धनी गुनी चक्रवर्ती शहँशाह,
ऊँचे चढ़ि गिरे देखि खोलि तू किताब रे।
ताते अब छोड़ि मान सभी को समान जान,
सर्व धर्म में प्रधान मार्दव को भाव रे ॥१२॥—भ. प्र.

**"मायाचार रहितोऽहम्"**

मैं मायाचार से रहित हूँ।

**प्रश्न**—मायाचार किसे कहते हैं?

**उत्तर**—छल-कपट को मायाचार कहते हैं।

**प्रश्न**—मायाचार की प्रकृति क्या है?

**उत्तर**—मन मे कुछ हो, वचन में कुछ हो और काय से कुछ और ही करना यह मायाचार की प्रकृति है। दूसरों को ठगना, वञ्चना करना इस कषाय का स्वभाव है।

**प्रश्न**—मायाचारी क्या करता है—

**उत्तर**—कपट कटार से गरीबन का गला काटि
पाप की कमाई कहौ कै जनम खायगा।
धोखे छल छिद्र ब्लैक मारकीट से घसीट,
लाख कोड़ि जोडि जोड़ि साथ न ले जायेगा।
हाकिम आ जाय खूब रिश्वत हू खाय देय,
जेल मे पठाय उम्र सारी दुख पायगा।
तातें छल छिद्र छोडि कपट कटार तोड़ि,
आर्जव से प्रीति जोड़ि धर्मी कहलायगा ॥१३॥—भ० प्र०

पथिक! अनादिकाल से "मायाचार" में फँसकर तूने परजीवों को सताया, विधवा, गरीब, बाल, बूढ़ों से धन हड़पकर पाप की कमाई की। ब्लेक मारकीट, छल-कपट से तूने करोड़ों का धन इकट्ठा भी किया। पर सोच लो जिस समय काल बलि तुम्हें लेने आयेगा, सारी सम्पदा

यहीं धरी रह जायेगी अथवा जेल में पहुँच गया तो सारी उम्र दुख उठाना पड़ेगा।

पथिक ! आज तक तुम यही सोच रहे हो.......मैं कितना कलाकार/ चतुर हूँ, मैंने अच्छे-अच्छे सेठ, साहूकार, मित्र, व्यापारियों को ठग लिया है, मेरे जैसा कौन बुद्धिमान इस दुनिया में होगा ! पथिक ! यही तुम्हारी भूल है, सच तो यह है कि वास्तव में आज तक तुमने औरों को नहीं बल्कि अपने आपको ठगा है। कैसे ? तुम सिद्ध सम शुद्ध, चैतन्य प्रभु परमात्मा, अनन्त शक्ति पुञ्ज होकर भी क्षणिक सुखाभास के लिये भिखारी बने छल-कपट करते हो, तुम्हें ज्ञान भी है कि तुम एक नहीं १४८ शत्रुओं से ठगाये गये संसाररूपी जेल में पड़े हो, विचार करो, तुम दूसरों को ठगने वाले स्वयं ठगाये गये हो।

हे आत्मन् ! मायाचार-छल-कपट आत्मा का स्वभाव नहीं विभाव है। त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायक परिणति आत्मा इन विभाव भावों से रहित है। उस शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को व्यक्त करने का पुरुषार्थ करो। मन, वचन, काय की सरलता रखो, यही आत्मविशुद्धि का सच्चा उपाय है।

माया ठगनी नें ठगा, यह सारा ससार।
जिसने माया को ठगा, उसकी जय-जयकार ॥

मेरी आत्मा माया कषाय से रहित मात्र ज्ञायक स्वभावी है।

आत्मानन्दाय नमः।

**"लोभकषायरहितोऽहम्"**

"मैं लोभ कषाय रहित हूँ।

**प्रश्न**—लोभ किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—"लुभ्" धातु से लोभ शब्द बना है जिसका अर्थ है "लालच"।

**प्रश्न**—लोभ की प्रकृति क्या है ?

माखी गुड़ में गड़ी रहे, पंख रह्यो लिपटाय।
हाथ मले और सिर धुने, लालच बुरी बलाय ॥

पथिक ! श्मशान में कितने ही मुर्दे ले जाओ उसका पेट नहीं भरता, अग्नि में कितना ही ईंधन डालो वह तृप्त नहीं होती, सागर से कितनी भी नदियाँ मिल जावें वह तृप्त नहीं होता, पेट में कितना ही भोजन डालो वह खाली का खाली रहता है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे साथ अनादिकाल से तृष्णा नागिन लगी हुई अन्तर में विष का संचार कर रही है। तृष्णा नागिन संसार में भटकाने के लिये घटी यन्त्रवत् है। एक

की पूर्ति करो, दूसरी तैयार, दूसरी की पूर्ति करो तीसरी तैयार। अनन्त-काल मे आकाश का अन्त भले हो जावे पर इच्छा/तृष्णा का अन्त नहीं होता। हे पथिक ! परमार्थ से तुम्हारी आत्मा इस लोभ परिणति अथवा तृष्णा से रहित है।

"लोभ पाप को बाप बखानो"—

"एक होकर दस होते, दस होकर सौ की इच्छा है,
सौ होकर भी सतोष नही, अब सहस होय तो अच्छा है।
यों ही इच्छा करते वह लाखों की हद पर पहुँचा है,
तो भी इच्छा पूरी नही होती यह ऐसी डायॅन इच्छा है।"

पथिक ! आज तक इच्छाओ का दास बनकर विभावपरिणति मे झूलते रहे। अब शुभ समय, शुभ घड़ी आई है इच्छा दासी को सतोष गुण द्वारा फटकार लगाकर उसका ऐसा तिरस्कार करो कि फिर सामने भी आने नहीं पावे।

हाथी घोड़े पालकी, पयादे रथ नाल की,
तिजोरी भरी माल की, न साथ तेरे जायँगी।
महल अटारियांयें, कारखाने कोठियाँ ये,
मिल रु मशीन, सब पड़ी रह जायँगी॥
बेटा-बेटी पोता-पोती, मात-तात भ्रात-नारि,
नानी, दादी, बुआ, बहनें, खड़ी ही लखायेंगी।
काल की कराल, विकराल तलवार आगे,
बडे-बड़े योधाओ की ढालैं टूट जायॅगीं॥१॥—भ.प्र.य.

जिस मुक्ति पथिक के लिये मुक्ति का लोभ भी अनन्त सुख का बाधक है वह पथिक इष्ट मित्र, परिवार, शिष्य, गुरु, धन, मकान, महल आदि पर द्रव्य मे लोभ करे, यह उसकी अज्ञानता उसके लिये आकुलता की उत्पादक है।

हे मुक्तिराही ! तुम्हारे पास एक पैसा भी आता है तो पुण्योदय से और जाता है तो पापोदय से। फिर पुण्य-पाप के फल को न जानकर रात-दिन धन सग्रह की लोलुपता के चक्कर मे दौड़ लगाना तुम्हारा कर्तव्य नही है।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चार पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ को सबसे पहले क्यों रखा ? इसीलिये कि परद्रव्य की लोलुपता धर्म पुरुषार्थ से ही नष्ट होती है।

पथिक ! सच्चा, शाश्वत धन कौन-सा है ? "रत्नत्रय"। तुम स्वयं शाश्वत रत्नत्रय निधि के स्वामी हो, अनन्त सुख-शान्ति-संतोष के भंडार

हो, अपनी छिपी निधि को धर्म-पुरुषार्थ के बल पर प्राप्त करो। उसी की प्राप्ति का लोभ करो। शेष सब मायाजाल है, उसका त्याग करो।

न चौर हार्यं, न च राज हार्यं,
न भ्रातृभाग्यं, न च भारकृतं।
व्ययकृते वर्धति एव नित्यं,
विद्या धनं सर्व धनं प्रधानम् ॥

पथिक ! उस धन का संचय करो—जिसके पीछे चोरों का डर नहीं, राजा का भय नहीं, रक्षा के लिये ताला-कुंजी की जरूरत नहीं, जो स्वयं रक्षित है तथा अपने स्वामी की सुरक्षा करता है। उसी की प्राप्ति का पुरुषार्थ सच्चा पुरुषार्थ है।—राज

धैर्य पिता, क्षमा माता, शान्ति गृहिणी, सत्य पुत्र, दया बहिन, सयम भ्राता रूप उत्तम गुणरूपी परिवार मे लोभ करो, स्वार्थ के परिवार में तुम्हारा लोभ उचित नही।

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी।
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मन संयमः॥
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृत भोजनम्।
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्याद् भयं योगिनः॥

"कमला चलत न पैढ जाय मरघट तक परिवारा,
अपने अपने सुख को रोए पिता पुत्र दारा।
ज्यों मेले में पंथीजन मिलि नेह धरे फिरते,
त्यो तरवर पर रैन बसेरा पछी आ करते।
कोस कोई दो कोस कोई, उड फिर थक-थक हारे,
जाय अकेला हंस संग मे, कोई न पर मारे।"
—बारह भावना

पथिक ! जो शाश्वत है, सदा साथ रहने वाला है उस रत्नत्रय धन के लोभी बनकर उसी की प्राप्ति में एकलय से जुट जाओ, उसी की इच्छा/तृष्णा करो। तथा विभाव से दूर हटकर आत्मगुण—क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-शील-धैर्य-शान्ति आदि के संचय में लोभी बन जाओ। आत्म-वैभव की ओर दृष्टिपात करो "कहाँ बाहर धन को देख रहे हो" तुम स्वयं असली खजाने के स्वामी हो, तुम्हारा अनन्त वैभव तुम्हे प्राप्त करने के लिये तरस रहा है, पथिक ! तुम कहाँ उलझे हो, लोभ छोड़ो, सन्तोष धारण करो।

अनन्तसुखसम्पन्नोऽहम्। रत्नत्रयवैभवसहितोऽहम्।
आत्मगुणनिधिसहितोऽहम्। "रत्नत्रयशरणं गच्छामि"

**"पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितोऽहम्"**

मेरी आत्मा पञ्चेन्द्रिय के विषय-व्यापार से रहित है।

**प्रश्न**—इन्द्रियाँ किसे कहते है ? वे जड़ हैं या चेतन ?

**उत्तर**—इन्द्र के समान जो अपने-अपने विषय मे नियत है, एक इन्द्रिय का कार्य दूसरी इन्द्रिय नही कर सकती है अथवा आत्मा के बाह्य चिह्न को इन्द्रियाँ कहते है।

ये इन्द्रियाँ दस प्राणो से जीवित आत्मा मे चेतन रूप है तथा मुर्दा मे जड़रूप है अर्थात् कथंचित् जड़ व चेतन दोनो है। परमार्थदृष्टि से इन्द्रियाँ अचेतन है।

**प्रश्न**—पञ्चेन्द्रियो का विषय-व्यापार क्या है ?

**उत्तर**—स्पर्शेन्द्रिय का छूना, रसना का चखना, घ्राण का सूँघना, चक्षु का देखना व कर्णेन्द्रिय का सुनना।

पथिक ! मुक्ति चाहते हो ? जी हाँ। तो पतन का मार्ग इन्द्रिय-विषय-व्यापार का त्याग करो।

पथिक विचार करता है—मै अनादिकाल से शरीर को ही आत्मा समझता रहा। स्पर्शन इन्द्रिय ने मुझे काम-क्रीडा ( मैथुन-सेवन ) मे लगा दिया। रसना इन्द्रिय ने मुझे स्वादिष्ट भोजन करने का लोलुपी बना दिया, घ्राण इन्द्रिय ने मुझे सुगन्धित वस्तुओ गुलाब, चम्पा, चमेली के फूल, इत्र, चन्दन, कपूर आदि के सूँघने मे फँसाये रखा। नेत्र इन्द्रिय ने मुझे मनोहर सुन्दर रगीन पदार्थों के देखने-भालने मे लगाया और कर्ण इन्द्रिय ने रसीले-सुरीले गाने के शब्द मे उलझा दिया। मै इन पाँचो इन्द्रियों के विषय-व्यापार मे रात-दिन इतना मस्त रहा कि अपने आत्मा के स्वरूप की ओर कभी लक्ष्य भी नही दिया।

गर्मी का मौसम है, जेठ की कड़ी गर्मी है, स्पर्श इन्द्रिय ने अपनी चाह शुरू कर दी—ठडा-ठडा कूलर का पानी, फ्रीज की कुल्फी, कश्मीर की ठडी हवा और पहनने को शीतल महीन वस्त्र चाहिये। पथिकजी ! इन आवश्यकताओ की पूर्ति मे, इन्द्रिय की चाह को बुझाने मे पूरा गर्मी का सीजन व्यतीत हो गया, परन्तु चाह पूरी नहीं हो पाई कि मौसम बिगड़ गया। कूलर की ठडी हवा व फ्रीज की कुल्फी ने शरीर में ज्वर पैदा कर दिया, बस फिर क्या था, स्पर्श इन्द्रिय मचल उठी—डनलप का मोटा गद्दा, गर्म कोट, रजाई व बिस्तर पर गर्म-गर्म चाय की प्याली चाहिये, क्यों ? ठडी लग रही है। गर्मी की सारी शान-शौकत क्या थी ? सुख नही सुखाभास था, जहाँ की तहाँ धरी रह गई। ठंडी से बचने के साधन

जुटाते हुए पथिक ठंडी भी निकल गई, अब तो छत पर से टपाटप पानी मकान में गिर रहा है, स्पर्श इन्द्रिय सहन क्या करेगी, उसने तो चाह रखी—चूना-मिट्टी से मकान की छत भराओ, पानी में कब तक गलेंगे. मार्ग मे छाता लाओ, कोमल नरम चमड़ा कहीं गल न जावे।

पथिक ! स्पर्शेन्द्रिय के वश हो सच्चे सुख को भूला रहा—ठंडा-गरम, कठोर नरम, हल्का-भारी, रूक्ष-चिकना इन्हीं पदार्थों की अनुकूलता में सुख व प्रतिकूलता मे तू दुःखी होता रहा। एक समय जो अनुकूल था वही दूसरे समय प्रतिकूल बन गया। कभी मुलायम गद्दा मिला तो सुख माना, कडी जमीन पर शयन करना पड़ा तो दुःख माना, शीत ऋतु में उष्ण प्रिय लगा तो ग्रीष्म ऋतु में उष्ण से द्वेष किया। इस प्रकार इन्द्रिय-सुख जो सुखाभास मात्र है उसे आत्मसुख माना।

पथिक ! सत्य पहिचानो, स्पर्श इन्द्रिय-विषय का आस्वादन सुख नही, सुखाभास है। सुखाभास को सुख मानकर दौड़ लगाना आकुलता का कारण है, अज्ञानता है। आत्मा को न हल्का चाहिये न भारी, न ठंडा, न गरम, न कोमल, न कठोर, वह तो स्वयं मे शाश्वत आनन्द का पुञ्ज है। आत्मानन्द अनन्त है, शाश्वत अखंड है। जिसके पीछे दुःख नही, वही सच्चा सुख है, शेष सब सुखाभास है।

**"स्पर्शेन्द्रियविषयव्यापाररहितोऽहम्"**

मेरी आत्मा स्पर्श इन्द्रिय के विषय-व्यापार से रहित है।

"रसना-इन्द्रियविषयव्यापाररहितोऽहम्"

पथिक ! जो इन्द्रिय जीवात्मा को ज्ञानामृत के पान से वञ्चित करे वह रसना इन्द्रिय है। इस इन्द्रिय के लोलुपी बन तूने खट्टा-मीठा, कड़वा, कसायला व चरपरा रसास्वाद लेते हुए उसे ही आत्मा का भोजन माना। चिदानन्दान्न चैतन्य की भूख मिटायेगा और पुद्गलान्न पुद्गल को पुष्ट करेगा, इसका कभी विचार नही किया।

पथिक ! जीवन मे जिह्वा की लम्पटता ने आचार-विचार का लोप कर दिया। पेट की आग को बुझाने के सभ्य उपायों को छोड़कर असभ्य आचरण की ओर दौड़ लगा रहा है। जिह्वा लोलुपी तुमने सुबह से शाम तक चाट, मिठाई, खट्टा, मीठा, चरपरा इस जिह्वा को दिया, पर यह हजम कर गई, जितना खाया सब पेट मे जाते ही मल बन गया। वही मल खेतो मे खाद के काम आया, पुनः धान्य का रूप लेकर अथवा फल-फूल बनकर तुम्हारे पेट में आया, यही अनादिकालीन रीति चली आ रही है।

इस जीव ने अनादिकाल से तीन लोकों में जितने भी पुद्गल परमाणु हैं वे अनेक बार भोजन-पान आदि के रूप में तथा शरीर के भोग्य-उपभोग्य पदार्थों के रूप मे भोग भोगकर छोड़ दिये हैं। ऐसा एक भी अछूता परमाणु इस पृथ्वी तल पर नही बचा जो इसके भोगने मे अनेक बार न आया हो, इसलिये सभी पुद्गल वर्गणाओं को जब यह आत्मा खाने-पीने आदि के रूप मे अनेक बार भोग चुका है तो सभी पुद्गल पर-माणु इसके लिये जूठन की तरह हो चुके है। इसलिये पथिक ! उन ही जूठन रूप परमाणुओ के भोगने मे तुम्हारी रुचि कैसे हो सकती है ? कभी नही, सत्य है, मै ज्ञानी, मुक्तिपथिक हूँ, मेरी बुद्धि अपने मुख के उगले हुए भोजन को फिर खाने मे कैसे हो सकती है ?

पथिक ! ज्ञानामृत का पान करो। विचार करो पथिक ! पुद्गल को पुष्ट करने के लिये तो तुमने विविध व्यञ्जन बनाये, परिश्रम किया, परन्तु जो तुम्हारा स्वतत्त्व चिदानन्द आत्मा अनन्तकाल मे अब तक भूखा है उसकी भूख मिटाने की कभी चिन्ता की ?

आत्मा की भूख-निवारणार्थ ज्ञानामृत पान रूप भोजन कैसा हो ?

पथिक ! ऐसा भोजन तैयार करो जिसके भक्षण करते ही पापो का क्षय हो जावे। कैसे तैयार करें ? ज्ञानरूपी अमृत रस का जल भरकर शीलरूपी चूल्हा जलावे, उस चूल्हे मे कर्मेन्धन को चुग-चुगकर डाले तथा ध्यान-रूपी अग्नि जलावें। अनुभव बर्तन मे निजात्म गुण चावल लेकर समता रूप क्षीर मिलाकर सोऽहं की शक्कर से मिष्ठान्न खीर तैयार करें। निःशंकित आदि अष्ट अंगों के व्यञ्जनो मे सम्यक्दर्शन का छौंक लगाकर सप्तभंग, स्याद्वाद का मसाला डाले, उसे निश्चय की चम्मच मे हिलावें तथा वैराग्य-भावना का चिन्तन करते हुए ऐसे ज्ञानामृत भोजन को बनावे, स्वय बनावें और स्वय खावें, खाता हुआ कभी थके नही। रात हो या दिन, सुबह हो या शाम ज्ञानामृत भोजन को खाना ही रहे, वही जीव भोजन करते-करते भी मुक्ति पद को प्राप्त होता है।

पथिक ! ज्ञानामृत का पान ही आत्मा का सच्चा भोजन है। ऐसा स्वाद लो जिससे भव-भवान्तर की तुष्टि हो जावे। ऐसा भोजन करो कि फिर भूख न लगे। अपने स्वरूप को पहिचानो। आत्मन् ! जिसने एक बार भी आत्मतुष्टि हेतु ज्ञानामृत का पान कर लिया वह फिर संसार-सागर में गोते नही खा सकता—

तुलसी जग में यों रहो जैसे जिह्वा मुख माँहि।
घी घणा भक्षण करे तो भी चिकनी नाहि॥

मेरी आत्मा रसना इन्द्रिय की लम्पटता से रहित है। मेरा सच्चा भोजन "ज्ञानामृत" है, वही मेरी आत्मा को हितकारक है, शेष आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले हैं।

"घ्राणेन्द्रियविषयव्यापाररहितोऽहम्"

मैं घ्राणेन्द्रिय के विषय-व्यापार ( सुगन्ध-दुर्गन्ध ) से रहित हूँ।

पथिक ! घ्राण इन्द्रिय का दास बनकर तुमने पर-पदार्थ में राग-द्वेष किया। किसी उद्यान में गुलाब की गंध अथवा चम्पा, मोगरा के पुष्प की गंध सूँघते ही राग में मस्त हो गया और मल का पिटारा देखते ही द्वेष से दूर हट जाता है। यह पर-द्रव्य में अच्छा-बुरा की कल्पना ही संसार का कारण है।

पथिक ! स्वात्मानन्द या आत्मविशुद्धि से बढ़कर कोई सुगन्ध नहीं तथा परिणामों की मलिनता से बढ़कर कोई दुर्गन्ध नहीं है। हे आत्मन् ! आत्म गुणों की प्यारी-प्यारी भीनी-भीनी गन्ध का रसास्वादन कर दुर्गुणों की मलीन गन्ध का त्याग करो।

"तेरा साँई तुझ में ज्यों पहुपन मे वास।
कस्तूरी के मिरग ज्यों फिरि-फिरि ढूँढ़े घास॥

हे सद्‌बोध पराङ्मुख मूढ मानव ! अपने शरीर मे वर्तमान ईश्वर का, उसके गुणो की सुगन्ध का आश्रय ले। यदि ऐसा नही करेगा तो ध्यान मे रख, तुझे संसार की दुर्गन्धमयी गलियों में भटकना पड़ेगा और तुम मूर्खों के शिरोमणि कहलाओगे। अधिक क्या कहे, अगले पर्यायों में नपुंसक हो जाओगे।

निजदेहस्थं स्मर रे मूढ !,
त्वं नो चेद् भ्रमिष्यसि गूढ।
मूर्खाणां मध्ये त्वं रूढः,
त्वं च भविष्यस्यग्रे षण्ढः ॥६४॥—वै० म०

"सुगन्धदुर्गन्धपरिणामशून्योऽहम्"

"मै सुगन्ध-दुर्गन्ध परिणाम से शून्य हूँ।"

अनन्तगुणशालिनि, चैतन्यमालिनि परमज्ञान-दर्शन-गन्धसहितायै परमप्रभुपरमात्मायै नमः।

"चक्षुरिन्द्रियविषयव्यापाररहितोऽहम्"

मैं चक्षु इन्द्रिय के विषय (काला, नीला, पीला, लाल, सफेद) व्यापार से रहित हूँ।

पथिक ! बाहर क्या देख रहे हो ?

संसार का सुन्दरतम पदार्थ !

**प्रश्न**—संसार का सुन्दरतम पदार्थ क्या है ? पथिक !

**उत्तर**—नारी के चंचल नेत्र, अथवा बगिया का मुसकाता गुलाब या तालाब का खिलता कमल ? सुन्दर क्या है ? नदी का किनारा या समुद्र की उठती चंचल तरंगें अथवा माँ का नन्हा-सा बालक अथवा सिने हीरो-हीरोइन अथवा वृक्ष की छाया। पथिक कहो, विचार कर कहो।

पथिक ! तुम भूल रहे हो—नारी के चंचल नेत्र को, बगिया के गुलाब को, तालाब के कमल को, नदी के किनारे व समुद्र की तरग अथवा माँ के नन्हें बालक अथवा सिने हीरो-हीरोइन वा वृक्ष की छाया को सुन्दर कहने वाले पथिक ! इन सबको जानने-देखने वाले तुम स्वयं दुनिया के सुन्दरतम पदार्थ हो—

"एयत्तणिच्छयगदओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए"

एकत्व निश्चय को प्राप्त आत्मा ही सव्वत्थ/सर्वत्र लोक में सुन्दर है। पथिक ! संसार के सुन्दरतम पदार्थ तुम स्वयं हो जिसका कोई रूप नहीं है, ऐसे अमूर्तिक हो। अपने सुन्दर रूप को अन्दर टटोलो, खोजो, जरूर दर्शन पाओगे, पा गये तो तृप्त नही हो पाओगे।

जिसे बाहर देख रहे हो वह नश्वर है, जड़ है और जिसे तुम देखना चाहते हो वह तुम्हारे अन्दर छुपा है, दिखता नहीं है फिर व्यर्थ चक्षु इन्द्रिय के आधीन होने से क्या प्रयोजन ? शाश्वत की ओर दृष्टि दो, अपने को, अपने मे, अपने से अभिन्न चिदानन्द प्रभु को निहारो। जो कैसा है—

अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ सट्ठाणं ॥१२७॥ —पंचास्तिकाय

"कर्णेन्द्रियव्यापाररहितोऽहम्"

मैं कर्णेन्द्रिय के विषय-व्यापार ("सा, रे, ग, म, प, ध, नि") से रहित हूँ।

सुनो पथिक ! ध्यान से सुनो, कहीं से आवाज आ रही है।

जी हाँ ! कुछ ध्वनि अन्दर में गूँज रही है।

कहीं बाहर से नहीं। अन्तरात्मा की ही यह आवाज है—

पथिक ! मुक्तिराही ! बाहर किस आवाज को सुनना चाह रहे हो ? कर्णप्रिय मधुर संगीत को अथवा प्रियतमा की मधुर स्वर-लहरी को ? या रागरञ्जित फिल्मी बेसुरी आवाज को ?

क्या यही कर्णों का सौन्दर्य है ?

सुनो पथिक ! आप मुक्तिराही हैं, मुक्तिराही को अब बाहरी आवाज सुनने का समय ही कहाँ है ?

अन्तरात्मा पुकार रही है, उसकी मधुरिम, कर्मक्षयकारिणी, आत्मानन्ददायिनी, सहजानन्ददायिनी आवाज को सुनो, एक बार ध्यान से सुनो—

पथिक ! तुम बाहरी आवाज को ही अनन्तकाल से सुनते जा रहे हो, मेरा संगीत, मेरा मधुर गान सुनो, मैं कौन हूँ, मेरा स्वभाव क्या है, मुझे पहिचानो—

> अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदाख्वी।
> ण वि अत्थि मज्झ किं चि वि अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥ ७३ ॥

—समयसार

मैं एक हूँ, शुद्ध, ज्ञानदर्शनमयी सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी कोई पदार्थ मेरा नहीं है।

पथिक ! जो मैं हूँ उसे सुनो, जो मेरा है उसे सुनो, जो मेरा है उसे सुनो—

> आगि मे जलत न तुषार में गलत नांहि,
> पड़ी-पड़ी जल माँहि भींगने न वाली है।
> आरे सों न कटै, बटवारे सों न बटी जाय,
> हरी, लाल, पीली, श्वेत गुलाबी न काली है॥
> ठोके से ठुकत नांहि, रोके से रुकत नांहि,
> पौनसों न सूखत, अंधेरी न उजाली है।
> हलकी न भारी, गीली, रूखी, सूखी चीकनी न,
> अजर अमर ज्ञानचेतना निराली है॥

जामें राग-द्वेष पाप-पुण्य बन्ध-मोख नाहिं,
आदि मध्य अन्त नाहिं ऊरध पताली है।
जामें भूख-प्यास आस-त्रास स्वामी-दास नाहिं,
शोक-भय र्वाजत अनंत शक्तिशाली है॥
विश्व के समस्त तत्त्व की समस्त परियाय,
भूत भावी वर्तमान ज्ञायक त्रिकाली है।
निर्विकल्प "मक्खन" न अक्खन तैं लखी जाय,
अनादि निधन ज्ञानचेतना निराली है॥ —भ० प्र०

पथिक ! पञ्चेन्द्रिय विषय-व्यापार सुख नहीं, सुखाभास हैं, क्षणिक सुख देकर दु:खोत्पादक हैं अत: स्पर्श करना है तो अपने स्वात्मप्रदेशों के अनन्तगुणों का स्पर्श करो, जो शाश्वत सुखदायी व स्पर्शइन्द्रिय के सुख से अनन्तगुणा अधिक है। आस्वाद लेना है तो आत्मानन्द से ज्ञानामृत का आस्वाद लो। स्वात्मारूपी बगिया मे अनन्तगुणों की सुरभि महक रही है, उसी की गध लो। देखना है तो आत्मगुणों की ओर देखो, उसी की ओर टकटकी लगाओ और सुनना है तो आत्मा की सच्ची आवाज सुनो—

एगो मे सासगो आदा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥ १०२॥

—नियमसार

मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ, ज्ञानदर्शन लक्षण वाला हूँ, शेष सब मुझसे बाह्य हैं, अन्य से संयोग मात्र मेरा सम्बन्ध है।

विरम-विरम बाह्यादिपदार्थे, रम-रम मोक्षपदे च हितार्थे।
कुरु कुरु निजकार्यं च वितन्द्रं, भव-भव केवल बोध यतीन्द्रम्॥

पथिक ! इस बाहरी इन्द्रिय व्यापार रूप कोलाहल से तुम्हें क्या प्रयोजन है ? स्वपुरुषार्थ से स्वानन्द वैभव को प्राप्त करो व कैवल्य-ज्योति को प्रकाशमान करो।

चिदानन्दाय नमः

"मनवचनकायक्रियारहितोऽहम्"

मेरी आत्मा मन-वचन-काय की क्रिया से रहित है।

**प्रश्न**—मन किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते। अर्थात्—नाना प्रकार के विकल्प जाल को मन कहते हैं।

**प्रश्न**—मन जड़ है या चेतन ?

**उत्तर**—मन कथंचित् जड़ और कथंचित् चेतन दोनों है। मन के दो भेद हैं—(१) द्रव्यमन, (२) भावमन। **द्रव्यमन**—हृदयस्थान आठ पाँखुड़ी के कमल के आकार वाला है तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न हुआ है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा इन्द्रिया-गोचर है। रूपादिक-युक्त होने से द्रव्यमन पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। **भावमन**—वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं। भावमन ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान जीव का गुण होने से उसका आत्मा में अन्तर्भाव होता है। लब्धि-उपयोग लक्षणवाला भावमन है।

**प्रश्न**—मन कौन-सी इन्द्रिय है ?

**उत्तर**—मन को इन्द्रिय संज्ञा नहीं है, क्योंकि आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। जिस प्रकार शेष इन्द्रियों का बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है उस प्रकार मन का नहीं होता। अथवा सूक्ष्म द्रव्य की पर्याय होने के कारण मन अन्य इन्द्रियों की भाँति प्रत्यक्ष व व्यक्त नहीं है, इसलिये मन अनिन्द्रिय है।

**प्रश्न**—मन का कार्य क्या है ? यह किन जीवों के होता है ?

**उत्तर**—मन का कार्य हेयोपादेय बुद्धि बनाये रखना है। संसार के कोई भी प्राणी का मन बुरे कार्य को करने की चाह नहीं करता, किन्तु अशुभ कर्म के वशीभूत हो जीव खोटे कार्यों को करता है। मन दर्पणवत् होता है, वह जीव के अच्छे-बुरे कर्मों को स्वयं देखता है तथा दिखलाता है। मन से कोई बात छिपी नहीं रहती, किसी ने कहा भी है—"मन के नयन हजार।

"पथिक ! मन में निरन्तर विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। एक विचार को पूरा करता है, दूसरी तरंग उठ जाती है। विविध विकल्प-जाल का समूह इसे एक समय के लिए भी स्थिर नहीं होने देता। मन ही समस्त बुराइयों का घर है तो मन ही समस्त अच्छाइयों का भी घर है।"

पञ्चेन्द्रियों का अपना-अपना विषय नियत है परन्तु मन का विषय अनियत है। मन से यह जीव कभी सुमेरु से सिद्धलोक की ओर जाता है तो कभी सप्तम नरक से पाताल की सैर तक करके आ जाता है। मन के अच्छे-बुरे विचारों से संसार बस गया है।

पथिक ! मन जड़ है तुम चेतन हो, मन चञ्चल तुम स्थिर/शाश्वत, मन आकुलता का धाम है, तुम निराकुलता के स्वामी हो। मन में उठने वाला एक समय का विचार भी तुम्हारा नहीं, वह भी क्षणिक हो नष्ट हो जाता है तो मुझसे अत्यन्त भिन्न मन मेरा कैसे हो सकता है ?

पथिक ! इस पर द्रव्यमन को तुमने अपना मान रखा है तभी तो मन के द्वारा निरन्तर विकल्प-जाल में फँसे रहते हो।

सो कैसे ?

पथिक ! प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वतन्त्र परिणमन है, जीव द्रव्य कभी पुद्गल नही होता और पुद्गल कभी चेतन नहीं होता, परन्तु तत्त्वज्ञान से च्युत अज्ञानी जीव कर्म, नोकर्म आदि को जीव के मानकर तदनुरूप परद्रव्य का परिणमन करना चाहता है।

परद्रव्य जीव का शुभ या अशुभ परिणमन स्व कर्मों के आधीन है। पथिक ! मन आपको झंझट मे डाल देता है—"एक शत्रु के प्रति मन सोच रहा है—इसका बुरा हो जावे, इसका वश समाप्त हो जावे अथवा सामने व्यापारी के व्यापार मे बढ़ती देखकर मन कह रहा है—सभी ग्राहक मेरी दुकान पर आवें, दूसरों का धन्धा ठप्प हो जावे, मेरा व्यापार खूब चले। मित्र के प्रति मन सोच रहा है—मित्र की उन्नति हो, धन-वैभव से समृद्धि हो आदि। पथिक ! प्रथम तो आत्मा का कोई शत्रु नही और न कोई मित्र है। परवस्तु में शत्रु-मित्र की कल्पना करना ही मन की दुष्प्रवृत्ति है। दूसरी बात किसी भी जीव का शुभ-अशुभ परिणमन उसके स्वकर्मों के आधीन है, तुम उसका अच्छा-बुरा तो नहीं कर सकते, परन्तु व्यर्थ के व्यामोह में फँसकर कर्मों का तीव्र बन्ध अवश्य कर लेते हो।

पथिक ! मन चञ्चल है—

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल मन चोर,<br>
मन के मते न चालिये, पलक-पलक मन ओर।

मन जितना छोटा है उतना ही चकोर है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी इस मन ने अपने आधीन किया है। पथिक ! यह मन अच्छे कार्यों मे भी विघ्न डालता है। मन के आधीन स्वेच्छापूर्वक उत्तम कार्यों को नहीं कर पाता। मन की दौड़ देखिये—

मेरा मनवा कभी तो भागे जल में, कभी तो भागे थल में<br>
गली ना भगवान् की, कैसे रोकूं गति बेईमान की।

मैंने कहा कि चल पूजन कर ले, पर ये बॉम्बे दौड़ गया,
मैंने माला लेकर टेरा, ये पहुँचा पनघट में,
बड़ा है शैतानी न सोचे अभिमानी बात कल्याण की ।।
कैसे रोकूँ गति....

मन सबसे अधिक शुभ कार्य में ही विघ्न पैदा करता है। पथिक ! अनेक जीवों का एक प्रश्न सदा बना रहा है—"हमारा मन माला में नहीं लगता है"। इसका कारण क्या है ? मन को प्रतिदिन नया कार्य चाहिये, जिस कार्य की मन को आदत हो चुकी है वहाँ वह एक समय भी स्थिर नहीं रहता। पथिक ! आपके मन को णमोकार मन्त्र या अन्य किसी मन्त्र को जपने की आदत बन चुकी है तो उसे स्थिर करने के लिये ध्यान का आश्रय लीजिये—अनेक भिन्न-भिन्न मन्त्रों का जाप कीजिये, १०८ मन्त्र विचारिये, १०८ मुनियों के नाम चिन्तन कीजिये, १०८ आत्मा के नामों का चिन्तन कीजिये, तीर्थों का, तीन चौबीसी के तीर्थंकरों का नाम चिन्तन कीजिये "शैतान को काम चाहिये" काम मिलते ही आपके आधीन हो जायेगा।

णमोकार मन्त्र को भी—पूर्वानुपूर्वी पश्चातानुपूर्वी व याथातथ्यानुपूर्वी से पढ़िये अथवा श्वासोच्छ्वास मे पढ़िये, एक णमोकार मत्र में तीन श्वासोच्छ्वास लीजिये। मन को कहीं जाने का अवसर नहीं मिलेगा तो असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होगी। पथिक ! "मन के आधीन क्यों बनते हो, वह तो जड़ है, मन के राजा बनो"।

मन की चाह अथाह है—

लाख कहो इक ठौर सके ना, ऐसा है ये आवारा
जाने कितनी चाह समेटे फिरता मन का बंजारा
जितनी लहरें इस मन में हैं, क्या होगीं सागर की
कभी तो घर की बातें, कभी व्यापार की
पल में लाय खबर जापान की।

पथिक ! चञ्चल मन की चाह को रोको, सागर की लहरों को गिन सकते हो, पर मन की तरंगों को नही। इसलिये घृणित इन्द्रियरूपी मांस का उपभोग करना तू छोड़ दे। हे आत्मन् ! अपने तृष्णारूपी रोग को दूर हटा, मद से मदोन्मत्त मतंग ( हाथी ) मनरूपी चाण्डाल को ज्ञानांकुश से वश में कर, अत्यन्त निर्मल योग को धारण कर जिससे कि भव पार हो सके—

मुञ्च मुञ्च विषयामिषभोगम्,
लुम्प लुम्प निजतृष्णारोगम् ।
रुन्ध रुन्ध मानसमातङ्गम्,
धर धर जीव विमलतरयोगम् ॥ ६९ ॥—वै० म०

पथिक ! आत्मानुभव की प्राप्ति करो। इस मन को बड़े-बड़े ऋषि-मुनि ध्यान की कमान से सम्हाल पाये हैं—

ऋषि-मुनि तक रोक न पाये, कौन इसे समझायेगा
सचमुच वो हैं, वन्दनीय, जिसने इस मन को मारा
पथिक ! इसको रोका, कि पल-पल टोका, ध्यान की कमान से
तभी रुकी गति मन बेईमान की।

जिस आत्मानुभव की प्राप्ति होने पर "राग-द्वेष युग चपल, पक्ष युत मन पक्षी मर जावे" चञ्चल मन-पक्षी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसे प्राप्त करने का पथिक निरन्तर प्रयास करो। आत्मध्यान करो।

मन-मतंग से दूर हटो, आत्मा की अनुभूति करो। जड़ के अनुसार न चल, सत्मार्ग पर चलो, निज देहालय मे स्थित अपने प्रभु परमात्मा का स्मरण करो, उसी का ध्यान करो—

चिन्तय निजदेहस्थं सिद्धम्,
आलोचय कायस्थं बुद्धम्।
स्मरण पिण्डस्थ परमविशुद्धम्,
कल केवलकेलीशिवलब्धम् ॥ ७० ॥ —वै० म०

हे भव्यात्मन् ! पथिक ! तुम अपने शरीर-सदन में पाये जाने वाले शोभासम्पन्न सिद्ध भगवान् का चिन्तन करो, शरीर में पाई जाने वाली ज्ञानस्वरूप, कर्ममल से रहित शुद्ध आत्मा की/शुद्ध स्वरूप की आलोचना करो, शरीर मे पाये जाने वाले परमविशुद्ध चैतन्य शरीर का चिन्तन करो और अन्त में केवलज्ञानरूपी क्रीड़ा के द्वारा मोक्ष-स्थान की प्राप्ति में सफल प्रयत्न होओ।

**वचनक्रियारहितोऽहम्**

मेरो आत्मा वचन क्रिया से रहित है।

**प्रश्न**—वचन शब्द की व्युत्पत्ति क्या है ?

**उत्तर**—वच् धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर "वचन" शब्द बना है। वचन बोलने या उच्चारण करने की क्रिया को कहते हैं। (शब्दकोष)

**प्रश्न**—वचन किस द्रव्य से निष्पन्न होता है ?

**उत्तर**—वचन पुद्गल स्कन्ध की पर्याय है। यह शब्द/वचन स्कन्ध से निष्पन्न होता है—

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥ ७९ ॥

—पंचास्तिकाय

**अर्थ**—शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। वह स्कन्ध अनन्त परमाणुओं के समूह के मेल से बनता है। उन स्कन्धों के परस्पर स्पर्श होने पर निश्चय से भाषावर्गणाओं से होनेवाला शब्द उत्पन्न होता है।

स्कन्ध दो प्रकार के यहाँ लेने योग्य हैं, एक तो भाषावर्गणा योग्य स्कन्ध जो शब्द के भीतरी या मूल कारण है और सूक्ष्म हैं तथा निरन्तर लोक में तिष्ठ रहे हैं। दूसरे बाहरी कारणरूप स्कन्ध, जो ओंठ आदि का व्यापार, घंटा आदि का हिलाना व मेघादिक का संयोग ये स्थूल स्कन्ध हैं। ये कहीं-कहो लोक में हैं सभी ठिकाने नहीं हैं। जहाँ इस अन्तरंग बहिरंग दोनों सामग्री का मेल होता है वहीं भाषावर्गणा शब्दरूप मे परिणमन कर जाती है, सभी जगह नहीं। ये शब्द नियम से भाषा-वर्गणाओं से उत्पन्न होते हैं। इनका उपादान कारण भाषावर्गणा है।

[ पं० का० गा० ७९ जयसेनाचार्य टीका हिन्दी ]

**प्रश्न**—शब्द के कितने भेद हैं ?

**उत्तर**—शब्द के दो भेद हैं—भाषारूप और अभाषारूप। भाषात्मक के दो भेद हैं—(१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। जो संस्कृत, प्राकृत आदि रूप आर्य-अनार्यों के वचन-व्यवहार का कारण है सो अक्षरात्मक है। द्वीन्द्रिय आदि के शब्द तथा श्रीकेवली महाराज की दिव्यध्वनि सो अनक्षरात्मक है। अभाषा के भी दो भेद हैं—एक प्रायोगिक, दूसरा वैश्रसिक। जो पुरुष के प्रयोग से हो सो प्रायोगिक है; जैसे तत, वितत, घन, सुषिरादि बाजो के शब्द।

वीणा, सितार आदि तार के बाजों को तत जानना चाहिये। ढोल आदि को वितत, घण्टा, घड़ियाल आदि के शब्द को घन तथा बाँसुरी आदि फूँक के बाजों को सुषिर कहते हैं। जो मेघ आदि के कारण से शब्द होते हैं वे वैश्रसिक या स्वाभाविक है।

**पथिक ! तात्पर्य यह है कि यह सब त्यागने योग्य तत्त्व हैं, इनसे भिन्न शुद्धात्मिक तत्त्व ग्रहण करने योग्य है।**

पथिक ! अनादिकाल से जीव ने वचनों को सुख-दुःख का कारण माना। यदि किसी अन्य ने आपकी वचनों में प्रशंसा की तो सुखी हुए और किसी अन्य ने आपकी वचनों से निन्दा की तो दुःखी हुए। वचनों को अपनी चीज मानना ही अज्ञानता है।

हे आत्मन् ! आज तक विविध सासारिक वार्तालाप ( बात-चीत ) में लगे रहे। अथवा बाहर का बोलना कदाचित् बन्द किया तो मन के द्वारा भीतर ही अनेक विचारो की उधेड-बुन मे लगे रहे, मन से बोलते रहे। दिनभर बोलते-बोलते शान्ति न मिली, रात स्वप्न मे भी इसी प्रकार अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग वचनालाप करते रहे। क्षण भर भी अपने आत्मा के विषय में कुछ चर्चा नही की। जो निरन्तर इस प्रकार अन्तरग-बहिरंग वचनालाप मे लगा रहता है उसे अपने देह-देवालय मे स्थित परमात्मा का दर्शन कभी नही होता है।

**प्रश्न**—परमात्मा के दर्शन का सरल उपाय क्या है ?

**उत्तर**—बाहरी चर्चा को छोड़कर मौन भाव से अपने मन के वचनालाप सांसारिक विचारधारा को भी एकदम छोड़ दिया जावे, इस तरह वचन-निरोध होने पर परमानन्दमयी शुद्धात्मा—शुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन होता है।

आत्मदर्शन का उपाय—

> विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन,
> स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
> हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
> ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥३४॥—**समयसार कलश**

**हे भव्य ! तुझे अन्य निष्प्रयोजन अप्रयोजनभूत कोलाहल करने से क्या लाभ है ? तू इन कषायादि भावो से विरक्त हो और एक चैतन्यमयी आत्मवस्तु में स्वयं निश्चल होकर छह माह तक अभ्यास कर और देख कि अपने हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न जो तेज-प्रकाश है, ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं होती ?**

[ **आर्यिका ज्ञानमतीजी कृत हिन्दी टीका** ]

पथिक ! अमृतचन्द्र आचार्य डंके की चोट पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—भैय्या ! तुझे आत्मप्रभु का दर्शन करना है तो छह माह तक निरन्तर अभ्यास कर। कैसे ? छह माह अन्तरङ्ग-बहिरंग वचनालाप का त्याग कर, राग-द्वेष मोह, ममता सभी अप्रयोजनीय कार्यों का त्याग कर चैतन्य प्रभु के दर्शन का क्रमशः अभ्यास त्रिकाल करो—

मेरी आत्मा अलग है शरीर अलग है।
मेरी आत्मा द्रव्यकर्म से रहित है।
मेरी आत्मा भावकर्म से रहित है।
मेरी आत्मा नोकर्म से रहित है।
मैं मानसिक वचनालाप से रहित हूँ।
मैं मौन हूँ। बहिरङ्ग वचनालाप से रहित हूँ।

इस प्रकार अन्तरग-बहिरंग वचनालाप को पूर्णतः त्याग करो—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं, त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥—स. त.

जैसे अन्धकार मे दीपक के प्रकाश से देखा जाता है उसी तरह आत्मा का अवलोकन करने के लिये अन्तरग-बहिरंग वचन का रोकना आवश्यक है।

**प्रश्न**—वचन-व्यवहार त्यागने का क्या उपाय है ?

**उत्तर**—पथिक ! वचन क्या है, किस द्रव्य की पर्याय है, शाश्वत है या नश्वर है, उसका गुण, पर्याय क्या है, चिन्तन करने पर परद्रव्य वचन का त्याग हो जाता है और उसमे राग-द्वेष बुद्धि का भी अभाव होता है।

ससार की विचित्रता देखिये-वचन की जड़ता मे राग बुद्धि से अनेकों विप्लव हुए और हो रहे है।

वचन पुद्गलस्कन्ध की पर्याय है, क्षणिक, अस्थायी है, वर्ण, रस, गन्ध, रूप सहित है। मेरी आत्मा से भिन्न जड़ है। एक व्यक्ति ने दूसरे को कटु वचन कहे—दूसरे ने समझा मुझे कहे, उसने उन शब्दों को स्ववस्तु मानकर पकड़कर रख लिया। शब्द तो भाषावर्गणा थी, मुँह से निकलकर पुद्गल-पुद्गल मे मिल गया किन्तु चैतन्य आत्मा ने उसमें अपनत्व बुद्धि कर कषायों का बोझा सिर पर बाँध लिया।

पथिक ! स्व को स्व व पर को पर जानो—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवमीम्यहम् ॥१८॥—स. तं.

वचनालाप को छोड़ो। क्यों ? विचार करो कि संसार में अपना या अन्य जीवों का जो शरीर दिखलाई देता है या अन्य भी जो जड़ पदार्थ दिखलाई देते है वे सब ज्ञान-हीन, अचेतन, जड हैं, वे मेरी आत्मवाणी को कुछ समझते नही है फिर उनके साथ वार्तालाप करने से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ लाभ नही। और जो आत्मा जानता है, ज्ञान पुञ्ज है, मेरी आत्मवाणी को समझता है, वह या उसका रूप मुझे दिखलाई नही देता वह अमूर्तिक है, इन्द्रियागोचर है, ऐसी परिस्थिति में मैं किससे बातचीत करूं।

मुक्तिपथिक ! विचार करता है—वास्तविकता में बातचीत तो उसी के साथ की जावे जो दिखलाई दे और मेरी बातचीत को समझ सके। जो दिखलाई देता है वह जड है, समझता नही और जो समझता है, जानता है वह चेतन दिखलाई देता नही, इस कारण मै अपने बहिरङ्ग वार्तालाप को बन्द करता हूँ। मैं कौन हूँ ? मैं मौन हूँ।

मैं तथा अन्य ससारी आत्मा अनन्तज्ञानशक्तिधारी हैं। "सव्वे सुद्धा हु सुद्धनया"। फिर मैं अपने आपको किसी का शिष्य समझूँ या दूसरों को पढ़ाने वाला गुरु समझूँ, पैदा करने वाले का माता-पिता समझूँ अथवा जिसको पैदा किया है उसे अपना पुत्र-पुत्री समझूँ तो यह सब मेरी चेष्टा पागलपन की बात है—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१९॥—स. श.

जिसमें गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, माता-पत्नी आदि का कोई विकल्प नहीं है ऐसा मैं एक शुद्ध निर्विकल्प आत्मद्रव्य हूँ। ये सारे विकल्प शरीराश्रित हैं अतः "मैं अन्तरङ्ग वचनालाप को भी छोड़ता हूँ"।

"अन्तरङ्गवचनालापरहितोऽहम्"

मैं शुद्ध चैतन्य, पूर्णज्ञानघन ज्ञायक स्वभावी आत्मा का अनुभव करता हूँ। मैं परद्रव्य के अचेतन वचनालाप को ग्रहण नहीं करता हूँ तथा जड़-रूप वचनालाप को कहता भी नहीं, सुनता भी नहीं हूँ, सभी प्रकार के

जड़ वचन मेरे लिये अग्राह्य हैं। मैं न कभी अपने शुद्ध चैतन्य ज्ञायक निर्विकल्प स्वभाव को त्यागता हूँ और न कभी अपने से भिन्न अचेतन, चेतन किसी पदार्थ को ग्रहण ही करता हूँ। मैं समस्त पदार्थों का पूर्ण ज्ञाता हूँ।

"अन्तरङ्गवचनालापरहितोऽहम्"

मैं अन्तरङ्ग वचनालाप से रहित हूँ।
मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ?
मैं मौन हूँ, मैं मौन हूँ, मैं मौन हूँ।
सच्चिदानन्दी सिद्धस्वरूपी, अविनाशी मैं आत्मा हूँ।
देह विनाशी मैं अविनाशी, अजरामर पद मेरा है॥
परमानन्दी सिद्धस्वरूपी, अविनाशी मैं आत्मा हूँ।
देह विनाशी मैं अविनाशी, अजरामर पद मेरा है॥
ज्ञानानन्दी सिद्धस्वरूपी, अविनाशी मैं आत्मा हूँ।
देह विनाशी मैं अविनाशी, अजरामर पद मेरा है॥
नित्यानन्दी सिद्धस्वरूपी.........
सहजानन्दी सिद्धस्वरूपी.........

**कायक्रियारहितोऽहं**

मेरी आत्मा काय की क्रिया से रहित है।

**प्रश्न**—आत्मा और शरीर एक हैं या अलग-अलग? हमारी दृष्टि में दोनों एक हैं।

**उत्तर**—आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न दो पदार्थ हैं। आत्मा जीवद्रव्य है, चेतन है, ज्ञानमयी, असंख्यातप्रदेशी, परज्योनि स्वरूपी निः-केवलज्ञानानन्दमयी है जबकि शरीर पुद्गल द्रव्य है, जड़ है, रोगों का घर है। आत्मा सप्तधातुओं से रहित निरामय ( रोग-रहित है ) जबकि शरीर सप्तधातुओं से निर्मित अनेक रोगों का स्थान है, कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—शरीर में जितने रोम हैं–उतने ही रोग हैं तथा एक्केक्कंगुलि-वाही छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं [भा० पा० ३७] शरीर के एक-एक अंगुल स्थान में छ्यानवे रोग होते हैं। यदि सारे शरीर के रोगों की गणना की जाय तो पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी ( ५,६८,९९,५८४ ) रोग होते हैं।

शरीर में आत्मबुद्धि ही संसार दुःख का मूल कारण रहा है—

मूलं संसार-दुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥१५—स० श०

संसार दुख का मूल कारण शरीर में ही आत्मा को समझ लेना है। इसलिये इस मिथ्या मान्यता को छोड़कर बाहर की बातों में अपनी इन्द्रियों का व्यापार कार्य रोककर अपने आत्मा ने प्रवेश करना चाहिये।

पथिक ! शरीर और आत्मा को एक देखने वाले संसारी जीव अपने शरीर से, अन्य जीवों से तथा संसार के अन्य जड़ पदार्थों से राग-द्वेष करते हैं। शुभ-कर्मोदय में सुखी और अशुभ-कर्मोदय में दुखी/व्याकुल होते हैं, उनकी मिथ्या मान्यता बन जाती है—

मैं सुखी दुःखी मै रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥

—छहढाला २-४

मुक्ति पथिक ! मुक्ति की चाह है तो इस मिथ्या मान्यता को छोड़ो। तुम्हारी आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न अनन्त सुखों का खजाना है। दुःखों से रहित, शुभाशुभ कर्मों से भी रहित मात्र केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभावी चैतन्य पिण्ड है उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ करो।

**प्रश्न**—जब शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं फिर दोनों एक कैसे दिखलाई देते है ? तथा कुन्दकुन्दाचार्य ने भी दोनो को एक कैसे कहा ?

**उत्तर**—शरीर आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं किन्तु मोही अज्ञानी जीव को जड़-चेतन के भेद का ज्ञान नहीं होने से वे सर्वथा शरीर को जीव मानते है। कुंदकुन्दाचार्य ने समयसार मे कहा है—व्यवहारनय से जीव और शरीर एक है किन्तु परमार्थ से जीव और शरीर कभी एक नहीं हो सकता है। कारण जीव और शरीर का अनादिकाल कनक-पाषाणवत् सम्बन्ध चला आ रहा है। कनक पाषाण को जब अग्नि में तपा दिया जाता है तब तपने के बाद किट्टिमा अलग और स्वर्ण अलग हो जाता है ठीक उसी प्रकार तपाग्नि मे तपने पर जीव और शरीर अलग-अलग हो जाते है। शुद्ध जीव सिद्धालय में पहुँच जाता है और पुद्गल शरीर विशीर्ण होकर बिखर जाता है अर्थात् पुद्गल, पुद्गल में मिल जाता है। जड़ शरीर यहीं पड़ा रह जाता है।

**प्रश्न**—शरीर की प्रकृति/स्वभाव कैसा है ?

**उत्तर**—पथिक ! जीवात्मा स्वभाव से कृतज्ञ है जबकि शरीर स्वभाव से कृतघ्न है। एक बार भी जिसने जीवात्मा का सच्चा उपकार श्रद्धा-ज्ञान-सदनुरूप प्रवृत्ति कर ली, वह संसार समुद्र से पार हो जाता है जबकि

अनन्तकाल से जिस शरीर का उपकार किया, पुष्ट किया, नहलाया, सुन्दर सुगंधित पदार्थों से सजाया, भोजन-पानी कराया, गर्मी में कूलर की हवा में, ठंडी में हीटर की गर्मी में, डनलप के गद्दे पर आराम कराया, किन्तु यह तो दिनों-दिन सताने ही लगी, जितना पुष्ट किया उतना ही दुःख देती है। एक क्षण भी अपने अनुसार नहीं चलती है, कैसी है काया—

पोषत तो दुख दोष करे अति, शोषत सुख उपजावे,
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावे।
राचन योग सरूप न याको, विरचन योग सही है,
यह तन पाय महातप कीजै, यामें सार यही है॥

—वैराग्य भावना

"स्वभावतोशुचौकायेरत्नत्रयपवित्रिते"

पथिक ! शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति, शरीर के नाश में अपना नाश, शरीर मोटा हो गया तो मैं मोटा हो गया, शरीर दुबला हो गया तो मै दुबला हो गया, शरीर की जीर्णता में अपनी जीर्णता मानना दुःखो का हेतु है।

जिस तरह बुद्धिमान् पुरुष मोटा मजबूत वस्त्र पहन लेने पर अपने आपको मोटा नही समझता, उसी प्रकार पथिक तुम मुक्तिराही हो, शरीर के मोटे या बलवान होने से तुम्हारी आत्मा मोटी या बलवान होने वाली नही है। जैसे शरीर अलग पदार्थ है, कपड़ा अलग पदार्थ है, कपड़े की मजबूती से शरीर मोटा या मजबूत नहीं बन सकता। ठीक इसी तरह आत्मा ज्ञानमय, चैतन्य, चिदानन्द, चेतन पदार्थ है और शरीर जड़ पदार्थ है। शरीर को कितना ही हृष्ट-पुष्ट, मोटा-ताजा बनाने पर भी आत्मा बलवान सुखी नहीं बन जाता। पुद्गल से पुद्गल की ही पुष्टि होने वाली है। आत्मा तो अपने ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य द्वारा बलवान सुखी होता है। उसी की प्राप्ति का सच्चा परिश्रम है।

शरीर पर पहना हुआ कपड़ा जब कुछ दिनों पश्चात् पुराना हो जाता है तो वह कपड़ा ही पुराना माना जाता है, कपड़े के कारण शरीर को पुराना नहीं मानते। इसी तरह पथिक, शरीर के वृद्ध हो जाने पर आत्मा को वृद्ध नहीं मानता, कारण कि वह तो बारम्बार चिन्तन में डूबा हुआ सोच रहा है—मेरा आत्मा कैसा है—

न बालो न वृद्धो न तुच्छो मूढो,
स्वेदं न खेदं न मूर्तिर्न स्नेहः।
न कृष्णं न शुक्लं न मोहं न तन्द्रा,
चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम् ॥—वीत० स्तोत्र

जिस तरह शरीर के वस्त्र के फट जाने पर मनुष्य अपने शरीर को फटा हुआ या नष्ट हुआ नहीं मानता। उसी प्रकार मुक्ति-पथ का राही सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा शरीर के नष्ट होने पर अपनी आत्मा को नष्ट या मरा हुआ नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि को अकाट्य श्रद्धा है कि—त्रिलोक तीन काल में मेरा आत्मा अजर-अमर-अविनाशी है—"एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा"। वह श्रद्धालु विचार कर ध्यान मे लीन सोच रहा है—

"न जन्म न मृत्युर्न मोहं न चिन्ता,
न क्षुद्रो न भीतो न कार्श्यं न तन्द्रा।
न स्वेदं न खेदं न वर्णं न मुद्रा,
चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्" ॥

आगे पथिक आत्मा की अनुपमेयता को गा रहा है—

दुनियाँ में सबसे न्यारा यह आतमा हमारा।
सब जानन देखनहारा यह आतमा हमारा ॥
यह जले नहीं अगनि में, भीगे न कभी पानी में।
मरता न मरी का मारा यह आतमा हमारा ॥

वस्त्र के लाल या काला होने से शरीर लाल या काला नही होता। कोई व्यक्ति लाल कपड़े पहने तो लाल कपड़े पहनने से उसका शरीर लाल या काले कपड़े पहनने से उसका शरीर काला नही होता, क्योंकि वस्त्र और शरीर अलग-अलग पदार्थ हैं। ठीक उसी प्रकार शरीर के सफेद-काले-पीले-लाल होने से आत्मा सफेद काली-लाल-पीली नही हो जाती। शरीर और आत्मा भी दो भिन्न-भिन्न पदार्थ है। शरीर मूर्तिक रूप-रस-वर्ण-गन्ध सहित है आत्मा वर्णादि से रहित अमूर्तिक है।

पौद्गलिक शरीर ज्ञान रहित जड़ है, सुख-दुःख को वह नहीं जानता है, फिर भी अज्ञानी बहिरात्मा कभी तो क्रोध, शोक आदि मे भूले रह जाते हैं, कभी शरीर को अस्त्र-शस्त्र से घायल कर यह समझते हैं कि हमने इसे दण्ड दिया तथा शरीर को अच्छे स्वादिष्ट भोजन-पान कराकर या सुन्दर आभूषण आदि पहनाकर यों समझते हैं कि हमने शरीर का बड़ा उपकार किया है। मोह की विचित्रता है।

मन, वचन, काय तीनों पौद्गलिक हैं, पथिक ! जब तक तीनों को ममताभाव से ग्रहण करोगे तब तक संसार-परिभ्रमण होगा—

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥ —इं. श.

पथिक ! ममता का त्याग करो। जब तक मन-वचन-काय में ममता है तब तक संसार है और द्रव्यमन, वचन तथा काय का आत्मा की भिन्नता का भेद ज्ञान का अभ्यास हो जाने पर मुक्ति की प्राप्ति होगी।

हे पथिक ! तुम चैतन्य आत्मा हो। तुम्हारी आत्मा शुद्ध, शक्तिशाली परमानन्दमयी है उसकी व्यक्ति करने के लिये आत्मज्ञान से भिन्न कार्य को अधिक समय तक बुद्धि में न रखो। यदि करना पड़े तो काय और वचन से करो, किन्तु सांसारिक कार्यों को मन लगाकर मत करो। यह आत्म-शक्ति के दर्शन का उपाय है। "मेरी आत्मा मन-वचन-काय की क्रिया से रहित है।

पथिक चिन्तन कर रहा है—

जैसे तोता-मैना जब अपनी पक्षी की बोली को बोलना छोड़कर अन्य मनुष्य की बोली बोलने की क्रिया आरम्भ कर देते हैं तब मनुष्यों के द्वारा स्व मनोरंजन के लिये पिंजड़े में डाल दिये जाते हैं। यदि वे मनुष्यों की बोली बोलना बन्द कर दें तो मनुष्यों के द्वारा पिंजड़े से बाहर निकाल दिये जाते हैं / उन्हे मुक्त कर दिया जाता है। इसी तरह संसारी जीव जब तक पदार्थ शरीर-मन-वचन को अपना मानकर उनसे ममत्व करता है तब कर्मों के द्वारा बँधा संसाररूपी जेल में पड़ा परतन्त्रता के दुःख उठाता है। किन्तु मन अलग है, मैं जीवात्मा अलग हूँ, वचन अलग है, मैं चैतन्य आत्मा अलग हूँ, काय अलग है, मै अलग हूँ ऐसा भेदविज्ञान जागृत हो जाता है, ऐसा भेदविज्ञान ही मुझे संसार-परिभ्रमण से व मन-वचन-काय की ममता को छुड़ाकर मुक्ति मार्ग की ओर ले जाने वाला है—

मन अलग है, मैं अलग हूँ।
वचन अलग है, मैं अलग हूँ।
काय अलग है, मैं अलग हूँ।

मैं मन-वचन-काय की क्रिया से रहित निष्क्रिय, निरास्रव, निर्बंध निर्द्वन्द हूँ।

"भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितोऽहम्"

मेरी आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित है।

**प्रश्न**—कर्म किसे कहते है ?

**उत्तर**—'जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि' जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। [ आ. प. ११३/२९६ ]

अथवा

विषय कषायों से रंजित मोही जीवों के जीवप्रदेशों मे जो परमाणु लगते है, उन परमाणुओ के स्कन्धों को जिनेन्द्रदेव कर्म कहते है।

—प. प्र ॥ ६२ ॥

**प्रश्न**—कर्म के भेद कितने हैं ?

**उत्तर**—कर्म के मुख्य तीन भेद है—भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म।

**प्रश्न**—भावकर्म किसे कहते है ?

**उत्तर**—भावकर्म आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक हैं, क्योंकि आत्मा से कथञ्चित् अभिन्न रूप से स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि-रूप है।

**प्रश्न**—द्रव्यकर्म किसे कहते है ?

**उत्तर**—जीव के जो द्रव्यकर्म है वे पौद्गलिक हैं।

**प्रश्न**—नोकर्म किसे कहते है ?

**उत्तर**—ईषत् कर्म को नोकर्म कहते है।

**प्रश्न**—कर्म-नोकर्म मे क्या अन्तर है ?

**उत्तर**—आत्मा के योगपरिणामो द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। यह आत्मा को परतन्त्र बनाने मे मूल कारण है। कर्म के उदय से होनेवाला औदारिक शरीर आदिरूप पुद्गलपरिणाम जो आत्मा के सुख-दुःख मे सहायक होता है नोकर्म कहलाता है। स्थिति के भेद से भी कर्म नोकर्म मे अन्तर है—[ रा. वा. ५/२४/९./४८८/२० ]

**प्रश्न**—तीनों कर्मो से रहित आत्मा है, कैसे ?

**उत्तर**—द्रव्यकर्म पुद्गल की पर्याय है, जड़ है, अचेतन है और भाव-कर्म राग-द्वेष-मोह-क्रोध-लोभ आदि परद्रव्य के निमित्त से जीव मे होते हैं अतः कथंचित् जीव के है परन्तु स्वभाव नही, विभावपरिणति है; कर्मोदय के समाप्त होते ही ये जीव से जुदा हो जाते है अतः भावकर्म भी जीव में नही है तथा कर्मोदय मे होने वाले औदारिक आदि शरीर भी अचेतन हैं अतः जीव तीनो प्रकार के कर्मों से रहित है।

पथिक ! जीवात्मा व कर्म का अनादिकालीन संयोग संबंध है। फिर भी जीव कर्मरूप नहीं होता व कर्म जीवरूप नहीं हो सकते। दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से दोनों ( जीव व कर्म ) अत्यन्ताभाव है। अज्ञानावस्था में यह जीव विभावपरिणति राग-द्वेष-मोह रूप भावकर्म के द्वारा द्रव्य-कर्म को आमन्त्रण देता है और द्रव्यकर्म के उदय में भावकर्म अपना प्रचण्ड रूप दिखाकर कर्म स्थिति को बढ़ा देते हैं। भावकर्म, नोकर्म में तथा द्रव्यकर्म में ये मेरे हैं, मैं कर्मों के आधीन हूँ, मैं कर्मों से लुट गया ऐसी मान्यता अज्ञानता है।

पारमार्थिक दृष्टि से न आत्माका कोई कर्म है, न बंध है, न उदय है, न सत्ता है। आत्मा न द्रव्यकर्म का कर्ता है, न भावकर्म का और न ही नोकर्म का। इसलिये हे आत्मन् ! शुद्ध आत्मद्रव्य को प्राप्त्यर्थ सर्वप्रथम भावकर्मों का निरोध करो—

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम्।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम्॥ ३१॥

—नि० टी०

कर्म के उदय को अज्ञानता से तीव्र बनाया जाता है। अष्टकर्म में असाता आदि का उदय आते ही जीव रागी-द्वेषी हुआ विभावपरिणति मे लीन हो जाता है। वह यह भूल जाता है कि 'रोग शरीर में आया है, आत्मा तो स्वभाव से निरोगी है, अखंड, अविनाशी है, फलतः भाव-कर्म की तीव्रता के कारण द्रव्यकर्मों का उत्कृष्ट स्थिति वाला बन्ध प्रारम्भ हो जाता है।

पथिक ! संसार का निरोध करना चाहते हो तो सर्वप्रथम राग-द्वेष, मोह, रति, अरति, ख्याति, पूजा-लाभ आदि भावकर्म का निरोध करो। भावकर्म का रुक जाना द्रव्यकर्मों के अभाव का कारण बनेगा और द्रव्य-कर्म का अभाव होते ही संसार का नाश हो जायेगा।

पथिक विचार करता है—विभाव भाव हों, चाहे न हों मुझे उसकी चिन्ता नहीं है, मैं तो हृदय-कमल मे स्थित/विराजमान त्रिकर्मों से रहित, शुद्ध ऐसी चैतन्य आत्मा का ही सतत अनुभव करता हूँ, क्योंकि इससे भिन्न अन्य किसी उपाय से निश्चित मुक्ति नहीं है, नहीं है।

आत्मा भिन्न है और उसके पीछे-पीछे चलनेवाला कर्म भी भिन्न ही है, आत्मा और कर्म इन दोनों की अत्यन्त निकटता से होने वाली जो विकृति है, वह भी उसी प्रकार भिन्न ही है। सभी चेतन-अचेतन आदि

द्रव्य अपने-अपने गुणपर्यायों से सुशोभित हैं और एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। कर्मद्रव्य पौद्‌गलिक होने से वह जीवरूप नहीं है और जीव चैतन्य रूप होने से पुद्‌गल रूप नहीं है—

न बंधो न मोक्षो न रागादिदोषः,
न योगं न भोगं न व्याधिर्न शोकम्।
न कोपं न मानं न माया न लोभं,
चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्॥ २॥

—वी० स्तो०

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं, भावकर्मविवर्जितम्।
नोकर्मरहितं विद्धि निश्चयेन चिदात्मनः॥ ८॥

—परमा० स्तो०

निश्चय से चैतन्य आत्मा द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म "त्रिमल" से रहित है।

पथिक! भले ही अनादिकाल से कर्मों का बन्ध जीव को हो रहा हो और अभी भी यह प्रवाह चालू रहे तो भी यह निश्चय श्रद्धान रखो कि शुद्ध निश्चय-नय से मेरी आत्मा परद्रव्य के संबंध से रहित है और ऐसा समझकर शुद्धात्मा की प्राप्ति का पुरुषार्थ करो। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने भी लिखा है—

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण॥ ४७॥

—नियमसार

अर्थ—जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसे भव को प्राप्त हुए संसारी जीव होते हैं। जिससे वे जन्म, जरा और मरण से रहित तथा आठ गुणों से अलंकृत है। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय से संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में कुछ अन्तर नहीं है।

पथिक की चिदानन्द भगवान् से प्रार्थना—हे चिदानन्द प्रभु! दैव-योग से स्वर्ग में होऊँ या इस मनुष्य लोक में होऊँ, विद्याधरों के स्थान में होऊँ या ज्योतिर्लोक में नागेन्द्र भवन में होऊँ या नरकों में किसी स्थान पर होऊँ या जिन मंदिर में होऊँ, मुझे कर्मों की उत्पत्ति न होवे और पुनः-पुनः आपके चरण-कमल की भक्ति बनी रहे।

'ख्यातिपूजालाभपरिणामशून्योऽहम्'

प्रसिद्धि, सम्मान, लाभ के परिणाम से मेरी आत्मा रहित है।

मैं प्रसिद्धि, सम्मान व लाभ परिणामों से शून्य हूँ।

प्रश्न—ख्याति किसे कहते हैं। ख्याति-परिणाम कौन-से हैं?

उत्तर—ख्या धातु से क्तिन् प्रत्यय लगकर ख्याति शब्द बना है। ख्याति का अर्थ है—प्रसिद्धि, यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा। प्रसिद्धि, यश, कीर्ति के परिणाम ख्याति-परिणाम कहलाते हैं। यथा—संसार में मेरी कीर्ति हो आदि।

प्रश्न—पूजा शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ व पूजा-परिणाम कौन-से हैं?

उत्तर—पूज् धातु आराधना, अर्चना करने के अर्थ में आती है। पूज् धातु से अन् विकरण पूर्वक टाप् (पूज्+अ+टाप्) लाकर पूजा शब्द निष्पन्न होता है। पूजा का अर्थ है—सम्मान, आदर, आराधना है। संसार में मेरी पूजा हो, मेरा सम्मान-आदर हो, ऐसे परिणाम पूजा-परिणाम कहलाते हैं।

प्रश्न—लाभ शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ व लाभ-परिणाम कौन-से हैं?

उत्तर—लभ् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर लाभ शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ उपलब्धि, प्राप्ति है। मुझे सम्पत्ति, धन, यश आदि की प्राप्ति हो, ऐसे परिणाम लाभ-परिणाम कहलाते हैं।

हे पथिक! संसारी जीव अपने जीवन और स्त्रीसुख की तृष्णा से व्याकुल हो रात-दिन परिश्रम करते हैं तथा कोई तो जीवन, सन्तान, धन व इहलोक-परलोक सुख के इच्छुक हो तृष्णा से अग्निहोम, पंचाग्नि तप करते हैं और कोई जीव ख्याति-पूजा के लोभवश व्रत-उपवास व संयम को भी ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु उनको इस प्रकार विभावपरिणामों से आत्मिक शान्ति का लेश भी नहीं मिलता। पथिक! तुम सिद्धि चाहते हो, आत्मिक शान्ति की इच्छा रखते हो तो रात-दिन निरालसी/अप्रमत्त होकर आत्मविशुद्धि करने वाले सम्यक्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की आराधना में जागते रहो। तथा समबुद्धि धारण कर जन्म-जरा-मृत्यु के नाश की इच्छा से मन-वचन-काय को रोको और भेद-रत्नत्रय से भी हटकर अभेद-रत्नत्रय को अङ्गीकार करो।

संसार की दशा विचित्र है—जीव अज्ञानतावश तप-व्रत-उपवास का उत्तम फल आत्मिक वैभव की प्राप्ति को काँच के टुकड़े की तरह ख्याति-पूजा-लाभ के लोभ में बेच देते हैं—

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविधविध देह-दाह।
आतम अनात्म के ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥

—छहढाला २–१४

पथिक ! भव्यात्मन् ! जड़ और चेतन के ज्ञान से रहित होकर मात्र ख्याति-पूजा-लाभ की भावना से किया गया विविध प्रकार का तप मात्र शरीर को क्षीण करने वाला है। वह आत्म शान्ति से भिन्न आकुलता का हेतु है, सिद्ध सुख की अपेक्षा अनन्त संसार का ही कारण है।

चेतन को छोड़कर जड़ के पीछे दौड़ लगाना, स्वधन को छोड़कर पराये धन पर अधिकार जमाना असभ्यता है। हे आत्मन् ! जिस ख्याति-पूजा-लाभ की इच्छा करते हो वे स्वतन्त्र हैं या पराधीन? चेतन है या जड़? विचार करो, गहराई से सोचो।

ख्याति-पूजा और लाभ की प्राप्ति की इच्छा प्रत्येक प्राणी करता है, पर ये तीनों पराधीन हैं, पुण्य के आधीन है। पुण्य-पाप पुद्गल की पर्यायें हैं, चेतन से भिन्न है। भव्यात्मन् ! तुम्हे प्रसिद्धि-पूजा लाभ की इच्छा है तो पुण्य करो, पुण्य के बिना ये नहीं मिलते। स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते हैं—

"उपासनात् पूजादानात् भोगो स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिषु"

तपोनिधि मुनिराजों की उपासना करने से पूजा प्राप्त होती है, उनको दान देने से लाभ-भोग प्राप्त होते हैं और उनका गुणकीर्तन करने से यश-कीर्ति जगत् में मिलती है।

पर पुण्योदय मे ख्याति-प्रतिष्ठा व यश मिलता है, परन्तु पुण्य के क्षीण होते ही ख्याति-प्राप्त मानव पतन को प्राप्त हो जाता है। पुण्योदय मे जीव सुखी हो जाता है और पापोदय में दुःखी हो जाता है—ये पुण्य-पाप जड़ है, तुम्हारा स्वभाव नही है अतः इसमें राग-परिणति को छोड़कर आत्म-स्वभाव की ओर कदम बढ़ाओ—

पुण्य-पाप फल माँहि, हरख बिलखौ मत भाई,
यह पुद्गल परजाय, उपज बिनशै फिर थाई,
लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ,
तोरि सकल जग दंद फंद, नित आतम ध्याओ ॥

—छहढाला ४–८

ख्याति-पूजा-लाभ की भावना यद्यपि जीव में होती है परंतु आत्मा का

स्वभाव नहीं है, यह पुद्गल की परिणति है, क्योंकि पुण्य की दासी है अत: विभावपरिणति का त्याग कर सर्व जगत् के फन्दों को छोड़कर आतमनिधि का ध्यान करो।

आत्मा का स्वभाव कैसा है—

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो, सो हं हदि चिंतए णाणी ॥९६॥

—नियमसार

केवलज्ञान स्वभाव वाला, केवलदर्शन स्वभाव वाला, केवल वीर्य स्वभाव वाला वह ही मैं हूँ, ऐसा ज्ञानी साधु चिन्तन करे।

तात्पर्य—मुक्तिराही, ज्ञानी जीव! तुम्हे प्रतिदिन, प्रतिसमय चिन्तन करना चाहिये कि मैं निश्चय-नय से सहजज्ञान स्वरूप हूँ, मैं सहजदर्शन स्वरूप हूँ, मैं सहजचारित्र स्वरूप हूँ तथा मैं चैतन्य-शक्ति स्वरूप हूँ—

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देव-
श्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते,
ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१४४॥

—समयसार कलश

पथिक! तुम्हारी आत्मा स्वयं स्वभाव से अनन्त शक्ति को धारण करने वाला देव है तथा चैतन्य से निर्मित चैतन्य चिन्तामणि है, इसलिये इसके सभी प्रयोजन सिद्ध हैं अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाने से भेदविज्ञानी के ममत्व का अभाव हो जाता है, ममत्व का अभाव हो जाने पर मुक्तिराही को ख्याति-पूजा-लाभ-कीर्ति-यश-मान-सम्मान-प्रतिष्ठा आदि अन्तरंग व बहिरंग परिग्रह (धन-धान्य-कुटुम्ब-मकान आदि) से क्या प्रयोजन है? सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा मे ज्ञान व वैराग्य की अद्भुत, अनुपम शक्ति नियम से होती है उसी के बल पर वह समस्त विभावों से हटकर एकमात्र शुद्धात्मा की प्राप्ति के पुरुषार्थ में तल्लीन हो जाता है।

पथिक! बाहर से मौन रहकर, साधु-तपस्वी बनकर यहाँ तक कि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हुए तथा बाईस परीषहों को सहन करते हुए भी जब तक अन्दर मन के भीतर अनेक प्रकार की वार्तालाप—तृष्णा, पदाकांक्षा, यश-प्रतिष्ठा रूप बातचीत चलती रहती है तब तक आत्मा में अनेकानेक विकल्प बनते-बिगड़ते हैं। उन विकल्पों से संसार-

भ्रमण कराने वाला, दुःखदायक कर्मबन्ध होता रहता है और जब अन्त-र्जल्प ( तृष्णा-पदाकांक्षा-इहपरलोक-प्रतिष्ठा ) बन्द हो जाता है तब जीव शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का क्षय कर वीतराग, सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और अनन्तवीर्यता को प्रकट करता है।

आत्मशुद्धि अथवा निज देह-देवालय में स्थित परम प्रभु परमात्मा को प्राप्त करने के लिये हे मुक्तिराही ! सर्वप्रथम पापों का त्याग करो, फिर व्रती बनकर आत्मज्ञान व आत्मध्यान का अभ्यास करो। आत्मज्ञान व आत्मध्यान के दृढ़ अभ्यासी बनने पर उस ज्ञान-ध्यान के द्वारा पुण्य-पाप-से रहित वीतराग सर्वज्ञ, प्रभु परमात्मा स्वयमेव बन जाओगे।

"दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानशल्यविभावपरिणामशून्योऽहम्।"

मेरी आत्मा देखे गये, सुने गये व अनुभव किये भोग-आकांक्षा रूप निदान-शल्य विभाव परिणामों से शून्य है।

**प्रश्न**—निदान-शल्य किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतं निरन्तरं चित्तं ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते।—देखे-सुने-अनुभव में आये हुए भोगों में जो निरन्तर चित्त को देता है वह निदान शल्य है।

[ द्र० सं० टीका ४२।१८३।१० ]

अर्थात् देखे-सुने-अनुभव में आये हुए भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा करना निदानशल्य है।

हे मुक्तिपथिक भव्यात्मन् ! इस जीव ने राग-मोह-ममता-माया-तृष्णा की पूर्ति व पञ्चेन्द्रिय-विषय तथा पदाकांक्षा के लिये विभाव-परिणतियाँ कीं। इहलोक-परलोक सम्बन्धी सुखों की भी निरन्तर वाञ्छा की, स्वर्ग के भोगों तथा चक्रवर्ती बलभद्र-नारायण आदि पदों की लिप्सापूर्ति हेतु कठोर तपश्चरण किया, तपस्या रूप सोने के रत्न को काँच के टुकड़े रूप निदान में खो दिया।

पथिक ! तूने बड़े-बड़े पूजा-अनुष्ठान किये, दान भी दिये, परन्तु उनके फल की चाह में अटककर अनन्त सुख को साध्य करने वाले साधन के फल को क्षणिक सुख की चाह में लुटा दिया, मानों आम को बोकर बबूल की चाह में दौड़ पड़ा।

पथिक ! दान-पूजा-अनुष्ठान आदि पुण्यक्रियाओं का फल परम्परा से संसार की स्थिति का क्षय करके अनन्त सुख को प्राप्त कराना है, परन्तु

उसके फल की वांछा (निदान) ऐसे शुभ कार्यों को भी संसार का कारण बना देता है—

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ ॥४०४॥

—भा० सं०

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं है, मोक्ष का कारण होता, यदि निदान नहीं करे।

इसलिये मोक्षार्थी भव्यात्मन्! निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करो—पंचास्तिकाय में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ॥१६९॥

—पंचास्तिकाय

इसलिये मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करता है, इसलिये वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

रागादि परिणति से चित्त का भ्रमण होता है और चित्त का भ्रमण होने से कर्मबन्ध होता है। इसलिये मोक्षार्थी को कर्मबन्ध का मूल ऐसा चित्त का भ्रमण व उसके मूलभूत राग-द्वेष-मोह-दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगों की आकांक्षा आदि तथा परद्रव्य में ममत्व बुद्धि का त्याग करना चाहिये। जिसने भोगों की इच्छा रूप रागादिपरिणति का एकान्त से निःशेष नाश किया है वही निःसंगता और निर्ममता की प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ स्व-शुद्धात्मा में विश्रान्ति रूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति [ देह-देवालय में शोभायमान चिदानन्द चैतन्य सिद्धात्मा ] को धारण करता हुआ सिद्धि को प्राप्त होता है।

पथिक! देखे-सुने-अनुभव किये जिन भोगों की प्राप्ति में तुम्हारी इच्छा लग रही है, एक क्षण के लिये विचार करो कि ये भोग कैसे हैं? मेरी आत्मनिधि के चुराने वाले लुटेरे तो नहीं हैं? कैसे हैं भोग—

भोग बुरे भवरोग बढ़ावें, वैरी हैं जग जीके,
बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागें नीके।

—वैराग्य भावना

भोग (पंचेन्द्रिय भोग, इहलोक-परलोक सुख की वांछा, पदाकांक्षा आदि रूप) पथिक! तुम्हारे संसार रूपी रोग को बढ़ाने वाले जगत् के

शत्रु हैं। सेवन करते समय भोग सुन्दर/सुखाभास का आनन्द देते हैं किन्तु उनका फल कटु/रस विहीन होता है। "फल भुञ्जत जिय दुःख-पावैं, वचतें कैसे करि गावैं"।

वज्र अगिनि विष से विषधर से ये अधिके दुःखदायी।
धर्म रतन के चोर चपल ये दुर्गति पन्थ सहाई॥

—वैराग्य भावना

पथिक! वज्र-अग्नि-विष वा सर्प के द्वारा भी जो दुःख नहीं दिया जा सकता, उससे भी कई गुना दुःख भोगों के भोगने से उठाना पड़ाता है। ये भोग धर्मरूपी रत्न के चुराने वाले चपल लुटेरे हैं तथा तुझे नरक-तिर्यञ्च आदि दुर्गतियो में पहुँचाने में सहायक हैं—

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जाने।
जो कोई जन खाय धतूरा, सो सब कञ्चन माने।
ज्यों-ज्यों भोग संजोग मनोहर, मन वाञ्छित फल पावै।
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंके, लहर जहर की आवै॥

—वैराग्य भावना

मोह के उदय से इस जीव को भोग सुखकर जान पड़ते हैं।

भोगों के सयोग से जीव जैसे-जैसे मनवांछित फल को पाता है वैसे-वैसे तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढती ही जाती है।

हे पथिक! गृहस्थ हो या श्रमण, समता रहित यति को अनशन आदि तपश्चरण का और श्रमण को दान-पूजादि अनुष्ठान का निश्चित फल नहीं मिलता है। इसीलिये हे पथिक! निदान रहित होकर समता का कुल मन्दिर ऐसे इस आकुलता रहित निज तत्त्व को तुम भजो।

तुमने एक नहीं अनेकों बार चक्री, अर्धचक्री देवादि के भोगों को भोगा, फिर भी तृष्णा कभी शान्त नहीं हो पायी है? इसलिये चिन्तन करो—

मैं चक्री पद पाय निरन्तर भोगे भोग घनेरे।
तो भी नेक भये नहीं पूरण भोग मनोरथ मेरे॥

—वैराग्य भावना

अतः मैं—

मुक्तिपथिक विचार करता है—पाँचों इन्द्रियो के विषय-भोगों से और उनकी आकांक्षाओं से अपने आपको छुड़ाकर मेरे ही द्वारा अपने आप में विद्यमान परम-अनुपम आनन्द से भरपूर ज्ञानमय शुद्ध चैतन्य स्वरूप

आत्मा को मैं प्राप्त होता हूँ। मेरा अनन्तसुख और अनन्तज्ञान से परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यमय आत्मा मुझ में है, वह मेरे ही प्रयत्न से तब प्राप्त हो सकता है जब मैं बाहर से अपनी प्रवृत्ति को हटाकर भीतर की ओर करूँ। इसलिए बाहरी विषय-भोगों से अपने आपको हटाकर मैं अपने परम आनन्द, परम ज्ञानमय आत्मा, जो अपने अन्दर विराजमान है, अपने पुरुषार्थ से प्राप्त करता हूँ—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥ ३२ ॥

—स० तं०

"भोगाकांक्षारहितोऽहम् ।

मायाशल्यरहितोऽहम् ।

मेरी आत्मा मायाशल्य से रहित है।

**प्रश्न**—मायाशल्य किसे कहते है ?

**उत्तर**—यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर, लोक को प्रसन्न करता है, वह मायाशल्य है।

[ द्र० सं०।टी०।४२।१८३।१० ]

अथवा

राग के उदय से परस्त्री आदि में वाञ्छारूप और द्वेष से अन्य जीवों के मारने, बाँधने अथवा छेदनेरूप जो मेरा दुर्ध्यान बुरा परिणाम है, उसको कोई भी नही जानता है, ऐसा मानकर निज शुद्धात्मभावना से उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षण का धारक जो सुख-अमृतरस रूपी निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव बाहर मे बगुले जैसे वेष को धारण कर जो लोगों को प्रसन्न करता है, वह मायाशल्य कहलाती है।

[ द्र० सं० टी० ४२।१८३।१० ]

'आत्मनः कुटिलभावो मायानिकृतिः—आत्मा का कुटिल भाव माया है। इसका दूसरा नाम निकृति या वञ्चना है।

[ स० सि० ६।१६।३३४।२ ]

**प्रश्न**—माया के भेद व लक्षण बतलाइये ?

**उत्तर**—माया के ५ प्रकार हैं—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुंचन।

**निकृति**—धन के विषय में अथवा किसी कार्य के विषय में जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है, ऐसे मनुष्य को जो फँसाने का चातुर्य है, उसको निकृति कहते हैं।

**उपधि**—अच्छे परिणाम को ढँककर धर्म के निमित्त से चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति करना उपधिसंज्ञक माया है।

**सातिप्रयोग**—धन के विषय मे असत्य बोलना, किसी की धरोहर का कुछ भाग हरण कर लेना सातिप्रयोग माया है।

**प्रणिधि**—हीनाधिक कीमत की सदृश वस्तुएँ आपस मे मिलाना, तौल और माप के सेर, पसेरी वगैरह पदार्थ कम-ज्यादा रखकर लेन-देन, करना, सच्चे-झूठे पदार्थ आपस में मिलाना प्रणिधि माया है।

**प्रतिकुंचन**—आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना प्रतिकुंचन माया है। [ भ० आ० । वि० । २५।९०।३ ]

हे आत्मन् !

तूने पूर्व में अनादिकाल से इन माया रूप परिणामों को करते हुए अपना संसार बढ़ाया है। तू इन विभाव-परिणामों को त्याग कर स्व-परिणामों की ओर कदम बढ़ा। तेरा शाश्वत चैतन्य प्रभु त्रैकालिक नायक सच्चिदानन्द, चैतन्यमूर्ति इन विभावो से सर्वथा रहित है, फिर भी कथंचित् कर्मोदय के संयोग से ये विभाव-परिणाम जीव के कहलाते हैं, पर सत्यता में जीव का इन विरुद्ध परिणामों मे कोई स्थान ही नहीं है। उस परमज्योति में जो मेरे भीतर विराजमान है, एकमात्र तेजपुञ्जज्ञायक ज्योति ठसाठस भरी है, वही मुझे प्राप्त हो—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते,
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥ १४ ॥

—समयसार कलश

जिस प्रकार नमक की डली एक क्षाररस की लीला का अवलम्बन करती है उसी प्रकार यह परम प्रकाश-तेज पर-द्रव्यों से भिन्न शुद्धात्मा के स्वरूप का अवलम्बन करता है। यह आत्मतेज अखण्डित है—किसी भी प्रमाण से खण्डित नहीं होता। अनाकुल लक्षण वाला है—जिसमें

कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न होनेवाली 'आकुलता नहीं है, जो विनाश से रहित अविनाशी रूप से अन्तरंग और बहिरंग अनन्त दीप्ति को धारण करने वाला है, जो स्वाभाविक है—किसी ईश्वरादि के द्वारा किया हुआ नहीं है और सदा जिसका विलास उदय-रूप-एकरूप से प्रतिभासमान है। पथिक! प्रार्थना करता है—हे प्रभो! सदाकाल चैतन्य की उठती तरंगों से परिपूर्ण वह परम जगत् प्रकाशक ज्योति हमें प्राप्त होवे।

पथिक! जिसे तूने ठगा है वह तू ही है, जो ठगाया जा रहा है वह भी तू ही है तथा जिसको ठगने का विचार कर रहा है वह भी तू ही है। तू एक है अखंडित, निश्छल ज्योति-पुञ्ज वीतरागी है उसी वीतराग की प्राप्ति तेरे जीवन का लक्ष्य है। बाह्य प्रपंचों में तेरा कोई स्थान ही नहीं है।

मेरी आत्मा माया शल्य विभावपरिणति से रहित है। अखण्डित-अनाकुल, सहजविलासी, अनन्त दीप्ति का धारक स्वाभाविक है। मैं सब विभाव को छोड़कर शल्य रहित होता हूँ।

**"दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्यात्वशल्यत्रयविभावपरिणामशून्योऽहम्।"**

मेरी आत्मा देखे-सुने-अनुभव किये भोगों की आकांक्षा रूप निदान, माया और मिथ्यात्व तीन शल्य रूप विभावपरिणामों से शून्य/रहित है।

**प्रश्न**—शल्य किसे कहते हैं?

**उत्तर**—"शृणाति हिनस्तीति शल्यम्" यह शल्य शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है।

शल्य का अर्थ है पीड़ा देने वाली वस्तु। जब शरीर में काँटा आदि चुभ जाता है तो वह शल्य कहलाता है। यहाँ शल्य से अर्थ लेना है शल्य के समान पीड़ाकर भाव। जिस प्रकार काँटा आदि शल्य प्राणियों को बाधाकर होती है उसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी बाधा का कारण होने से कर्मोदय जनित विकार में भी शल्य का उपचार कर लेते हैं अर्थात् उसे भी शल्य कहते हैं। [स० सि० ७/१८/३५६/६]

अर्थात् जो काँटे की तरह आत्मा को पीड़ित करे वह शल्य है।

**प्रश्न**—शल्य के कितने भेद हैं?

**उत्तर**—शल्य के ३ भेद हैं-मिथ्यादर्शनशल्य, मायाशल्य और निदान-शल्य अथवा द्रव्यशल्य और भावशल्य ऐसे शल्य के दो भेद भी हैं।
[भ० आ० ५३८]

भावशल्य के ३ भेद हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग। द्रव्यशल्य के ३ भेद हैं—सचित्तशल्य, अचित्तशल्य और मिश्रशल्य। [भ० आ० ५३९]

**प्रश्न**—भाव-द्रव्यशल्य का लक्षण क्या है ?

**उत्तर**—मिथ्यादर्शन, माया, निदान ऐसे तीन शल्यों की उत्पत्ति जिनसे होती है ऐसे कारणभूत कर्म को द्रव्य-शल्य कहते हैं। इनके उदय से जीव के माया, मिथ्या व निदान रूप परिणाम होते हैं वे भावशल्य हैं।
[भ० आ०/वि० २५/८८/४४]

शका-कांक्षा आदि सम्यग्दर्शन के शल्य हैं। अकाल में पढ़ना, अविनयादिक करना ज्ञान के शल्य हैं। समिति और गुप्तियों में अनादर करना चारित्रशल्य है। असंयम में प्रवृत्ति होना योग शल्य है। तपश्चरण का चारित्र मे अन्तर्भाव होने से भावशल्य के तीन भेद कहे हैं। दासादिक सचित्त द्रव्यशल्य है, सुवर्ण वगैरह पदार्थ अचित्त द्रव्यशल्य है और ग्रामादिक मिश्रशल्य है। [भ० आ०/वि०/५३९/७५५/१३]

**"मिथ्याशल्यपरिणामशून्योऽहम्"**

मेरी आत्मा मिथ्या शल्यरूप परिणाम से रहित है ?

**प्रश्न**—मिथ्याशल्य का लक्षण बताइये ?

**उत्तर**—निजनिरञ्जननिर्दोषपरमैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्वि-लक्षणं मिथ्याशल्य भण्यते—

अपना निरंजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व से विलक्षण मिथ्याशल्य कहलाती है।

मुक्तिराही पथिक ! पूर्व अनन्तकाल इस जीव ने परद्रव्य में स्वरुचि कर उसी को उपादेय मान उसी की प्राप्ति में हर्ष, अप्राप्ति में विषाद किया। एक क्षण के लिये भी निजनिरंजन परमात्मा द्रव्य की उपादेयता को स्वीकार ही नही किया, यह कैसे जाना ? एक समय के लिये भी परमात्मद्रव्य, निजनिरजन द्रव्य की सम्पदा की उपादेयता स्वीकार कर लेना तो "मिथ्याशल्य" आत्मा से कोशों दूर ऐसा भाग जाता कि उसे कभी आने का रास्ता भी नही मिलता।

**प्रश्न—मिथ्याशल्य सहित जीव की मान्यता क्या रहती है ?**

**उत्तर—मिथ्याशल्य सहित जीव की मान्यता—**

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वंहि।
होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि ॥ २१ ॥
एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥ २२ ॥

—समयसार

मिथ्याशल्य सहित जीव अपने से भिन्न जो परद्रव्य सचित्त-स्त्री, पुत्रादिक, अचित्त-धनधान्यादिक, मिश्र-ग्रामनगरादिक इनको ऐसा समझे कि मैं यह हूँ, ये द्रव्य मुझ स्वरूप हैं, मै इनका हूँ, ये मेरे हैं, ये मेरे पूर्व में थे, इनका मै भी पहले था, ये मेरे भावी काल में होंगे, मैं भी इनका आगामी काल में होऊँगा ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है, वह मूढ है तथा जो पुरुष परमार्थ वस्तु स्वरूप को जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नही करता है, वह मूढ नहीं, ज्ञानी है।

इसलिये पथिक ! मिथ्या शल्य का त्याग करो, परद्रव्य से भिन्न निजात्मा की रुचि करो, उसी को अपना स्वीकार कर, उसी की प्राप्ति का पुरुषार्थ करो। मिथ्याशल्य के वश हो तुम्हारी बुद्धि मोहित हो रही है तभी तुम शरीरादि बद्ध द्रव्य, धन-धान्यादि अबद्ध परद्रव्य को ये मेरा है ऐसा मान रहे हो। भव्यात्मन् ! चिन्तन करो—नित्य, निरंजन, उपयोग लक्षणवाला जीव पुद्गलद्रव्य रूप कैसे हो सकता है ? यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य रूप हो जाय तो पुद्गलद्रव्य भी जीव रूप हो जायगा। यदि जीव पुद्गल रूप और पुद्गल जीव रूप हो जाय तब तो पथिक तुम्हारी मान्यता सही हो सकती है कि "यह पुद्गल द्रव्य मेरा है" परन्तु ऐसा नही है।

जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को यह परवस्तु है ऐसा जानकर उस परवस्तु का त्याग कर देता है वैसे ही हे मुक्ति पथिक ! तुम मिथ्या-शल्य परिणामों से रहित होना चाहते हो तो सब परद्रव्यों के भावों को ये परभाव हैं ऐसा जानकर उनको छोड़ दीजिये।

जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से दूसरे का वस्त्र लाकर उसे भ्रम से

अपना समझ ओढ़कर सो गया, उसे ज्ञान न था कि यह दूसरे का है। उसके बाद वस्त्र के मालिक ने आकर वस्त्र का पल्ला खेंचकर उघाड़कर उसे नंगा किया और कहा कि "तू शीघ्र जाग जा, सावधान हो जा, मेरा वस्त्र बदले मे आ गया है, सो मेरा मुझे दे" ऐसा बारम्बार वचन कहा। तब उसने वस्त्र के सब चिह्न देखकर परीक्षा कर निर्णय किया कि "यह वस्त्र तो दूसरे का ही है"। सत्य ज्ञान होते ही ज्ञानी ने दूसरे के वस्त्र को शीघ्र त्याग दिया। उसी प्रकार तुम भी ज्ञानी होकर भी भ्रम से परद्रव्य को अपना मानते हुए, एकरूप मानकर बेखबर हुए सो रहे हो, स्वयं ही अज्ञानी हो रहे हो। तुम्हें सूत्रकार (माघनन्दी आचार्य) बारम्बार समझा रहे हैं—तुम एकमात्र ज्ञायक/ज्ञानमात्र रूप हो, अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं। आगम के वाक्यों को ध्यान लगाकर सुनो, परीक्षा करो, अपने व पर के समस्त चिह्नों की पहचान करो। स्ववस्तु का निर्णय कर "मैं एकमात्र ज्ञानमय हूँ शेष सब परभाव हैं ऐसा जान-कर सब परभावो को शीघ्र छोड़ दो।

"मोह/मिथ्या शल्य मेरा कोई सम्बन्धी नही है। मैं एक उपयोगरूप ही हूँ" यही निःशल्य होने का एक उपाय है।

मै कौन हूँ—

> अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदसणसमग्गो।
> तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥
>
> —समयसार

मै निश्चयनय से स्वसवेदन ज्ञान के प्रत्यक्ष शुद्ध-चिन्मात्र-ज्योति-स्वरूप हूँ, अनादि अनन्त टंकोत्कीर्ण अर्थात् टांकी मे उकेरे हुए के समान अटल एक ज्ञायक स्वभाव वाला होने से एक हूँ; कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप षट्कारक के विकल्प समूह से रहित हूँ इसलिये शुद्ध हूँ, मोहरहित शुद्धात्मतत्त्व उससे विलक्षण मोह के उदय से होने वाले क्रोधादि कषायो का समूह, उसका स्वामी न होने से मैं ममत्व रहित हूँ। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ। इस प्रकार मैं तो इन गुणों से विशिष्ट हूँ। इसलिये उपर्युक्त लक्षण वाले शुद्धात्म स्वरूप मे स्थित होता हुआ सहजानन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुखरूप समरसी भाव के साथ तन्मय होकर निरास्रव रूप जो पर-मात्मतत्त्व है उससे पृथक् भूत जो काम क्रोधादि आस्रव भाव है उस सब

भावों को नष्ट कर रहा हूँ, दूर हटा रहा हूँ [ मैं इनको अब कभी नहीं होने दूँगा ] [ ज. से. टी. ब्र. ब्र. सा. कृत हिन्दी ]

पथिक! परमाणु मात्र भी राग जिस जीवात्मा के विद्यमान है वह भी सर्वागमज्ञान का ज्ञाता होकर भी निज-निरञ्जन आत्मस्वरूप का ज्ञाता नहीं हो सकता, फिर तुम पर्वत के समान बड़े राग के स्वामी बने हुए अपने स्वरूप का अवलोकन कैसे कर सकते हो ? अतः राग रहित हो, शुद्धात्मा की भावना करो।

जो कोई नित्य आनन्दमयी एक स्वभावरूप अपने आत्मा की भावना नहीं करता है वह माया-मिथ्या-निदान इन तीन शल्यों को आदि लेकर सर्व विभावरूप बुद्धि के फैलाव को रोक नहीं सकता है। इस बुद्धि के न रुकने पर उसके शुभ तथा अशुभ कर्मों का संवर नही होता है अतः सिद्ध है कि सर्व अनर्थों की परम्परा के मूल कारण माया-मिथ्या-निदान शल्य हैं। मै मुक्ति पथिक अन्तरात्मा इन विभावपरिणामों का त्याग करता हूँ, इन परिणामों मे मेरा स्थान नही है। "निःशल्यो व्रती" मैं निःशल्य हो व्रत को अंगीकार कर रत्नत्रय की आराधना करता हूँ।

मेरी आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है।

निदान-माया-मिथ्या शल्य ये रागजनित परिणाम जीव के विभाव-परिणाम है, मै इनसे भिन्न नित्य निरञ्जन, निराकार, अमूर्तिक, अमल, विमल, उपयोगमयी, चैतन्यचिह्न वाला ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ।

**"गारवत्रयपरिणामशून्योऽहम्"**

मैं तीन प्रकार के गारव परिणामो से रहित हूँ।

**प्रश्न**—गारव किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—गर्व/घमंड/अहंकार को गारव कहते है।

**प्रश्न**—गारव के भेद नाम व लक्षण सहित बताइये ?

**उत्तर**—गारव तीन प्रकार का है—शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव।

**शब्द गारव**—वर्ण के उच्चारण का गर्व करना शब्द गारव है।

**ऋद्धि गारव**—शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छि या पट्ट आदि द्वारा अपने को ऊँचा प्रगट करना ऋद्धि गारव है।

**सात गारव**—भोजन-पान आदि से उत्पन्न सुख की लीला से मस्त होकर मोहमद करना सात गारव है। [ मो० पा० २७/३२२/१ ]

**शब्दगारव**

हे पथिक ! एकमात्र जीवात्मा को छोड़कर संसार की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। फिर शाश्वत से भिन्न नश्वर वस्तु में अहं बुद्धि क्या न्याय-संगत है। जिस शब्दोच्चारण की महिमा का तुम गर्व करते हो वह जड़ है या चेतन ? शब्द जड़ हैं, पुद्गल द्रव्य की पर्याय है और उनका उच्चारण भी जिह्वा-ओंठ-तालु जड़ के आश्रय से होता है। शुद्ध उच्चारण शक्ति ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम का कार्य है तथा शब्दों में माधुर्य व सरसता सुस्वर नामकर्म का उदय है/कार्य है। कर्मों का शुभाशुभ उदय परतंत्रता है। पथिक! पुण्योदय में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम व सुस्वर आदि आज हैं तो पता नहीं कल पापोदय मे मूक, तोतला या कर्कश स्वर भी प्राप्त हो सकता है ये सब पुण्य-पाप अथवा शुभाशुभ कर्मों का फल है, फिर मान या गर्व किस चीज का करना। दूसरी बात वर्ण उच्चारण करने वाले ओठ, तालु, जिह्वा आदि जड़ है और शब्द भी पुद्गल की ही पर्याय है फिर परद्रव्य में गारव बुद्धि कैसी ? मैं अब शब्दोच्चारण रूप शब्द गारव का त्याग करता हूँ। इनमे मेरा कोई स्थान नही। मै तो ज्ञानपुञ्ज सहजानन्दी आत्मा हूँ उसी का आश्रय लेता हूँ।

**ऋद्धि गारव**

पथिक ! तूने कभी त्यागी, मुनि आदि पर्याय को प्राप्त किया तो शिष्यों को इकट्ठा कर गर्व किया, कभी सुन्दर पिच्छी-कमण्डलु का गर्व किया, तो कभी मैं आचार्य, मैं बालाचार्य, मैं एलाचार्य, मै उपाध्याय, मैं साधु, मैं पट्टाचार्य, मैं पट्टाधीश, मैं मठाधीश आदि पदो द्वारा अपने आपको ऊँचा या बड़ा मानते रहे किन्तु पथिक ये सब तुम्हारे अहित-कारी हैं—

> हे भद्र ! आसन, लोकपूजा, संघ की संगति प्रथा,
> ये सब समाधि के न साधन, वास्तविक मे है प्रथा।
> सम्पूर्ण बाहर वासना को इसलिये तू छोड़ दे,
> अध्यात्म मे तू हर घड़ी होकर निरत रति जोड दे ॥ २३ ॥
>
> —सा० पा०

इसलिये हे पथिक ! अन्त में सारे पदों का त्याग करना पड़ता है, आचार्य, उपाध्याय को अपना आचार्य पद छोड़कर शिष्यादि परिग्रह से रहित होना पड़ता है तभी समाधि की सफलता हो सकती है। "राजेश्वरी सो नरकेश्वरी" यदि अन्त में पद को त्याग नहीं कर पाया, अचानक मौत

आ गई तो नरक में जाना पड़ेगा, अतः ऐसी ऋद्धि या पट्ट के विकल्पों को मैं आज ही छोड़ता हूँ—

रे मूढ़ तू जनमता मरता अकेला,
कोई न साथ चलता गुरु भी न चेला।
है स्वार्थपूर्ण यह निश्चित एक मेला,
जाते सभी बिछुड़के जब अन्त बेला।

**रसगारव**

पथिक ! आज का मानव बाजार की दूध-मलाई जिस पर असंख्य मक्खी-मच्छर बैठते हैं, कचोरी-चाट-दहीबड़ा आदि जो कई महीनों की कढ़ाई में तले जाते हैं, जिनमें जाने-अनजाने में असंख्यात जीवों का संहार हुआ है ऐसी अभक्ष्य जीवों को भी सड़क पर या ऊँची से ऊँची होटल आदि में खाकर अपने आप पर गर्व करता है। उस चक्रवर्ती भरत की कल्पना कीजिये जिनके लिये प्रतिदिन का अलग-अलग रसोइया छप्पन प्रकार के पकवान शुद्ध रीत्या बनाता था और वे स्वयं मुनियों को आहार दान दिये बिना उस भोजन को स्वीकार नहीं करते हैं। कहाँ चक्री-अर्द्धचक्री की रसभरी भोज्य सामग्री और कहाँ तुम्हारा तुच्छ अभक्ष्य भक्षण, किसका गौरव करना। इस पुद्गल पिण्ड के द्वारा पुद्गल का ही पोषण होगा। आत्मा तो न खाता है ना पीता है वह तो ज्ञानामृतपान कर सतत तृप्त रहता है। मुझ में न भूख है, न प्यास, फिर मैं इन पर-द्रव्यों के प्रति गारव क्यों करता हूं। मैं अब इस परिणति को अपने में नहीं आने दूँगा। मैं अब क्या करता हूँ—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

—समयसार कलश

इस जगत् मे मैं स्वतः ही अपने एक आत्मरस/आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूं [ फिर षट्रसों से मुझे क्या प्रयोजन ]। वह आत्मस्वरूप सर्वतः अपने निजचैतन्य रस के परिणमन से पूर्ण भाव वाला है, इसलिये इस मोह [ रसगारव ] का और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्य-घन ज्योति का निधान हूँ। मैं रसगारव का त्याग करता हूँ और चैतन्य-रस से पूर्ण आत्मस्वभाव का आस्वाद लेता हूँ।

मेरा आत्मा रसगारव परिणामों से भिन्न है और अपने ज्ञानामृत रस

से अभिन्न है अतः जड़ के आस्वाद को छोड़कर मैं चैतन्यरस का अनुभव लेता हूँ।

**"दण्डत्रयपरिणामशून्योऽहम्"**

मेरी आत्मा दण्डत्रय परिणामों से रहित है।

**प्रश्न**—दण्डत्रय कौन से हैं ?

**उत्तर**—मन दण्ड, वचन दण्ड और काय दण्ड।—मनोवाक्कायभेदेन दण्डस्त्रिविधः [ चा. सा. ९९/५ ]

**प्रश्न**—मनदण्ड का लक्षण व उसके भेद बताइये ?

**उत्तर**—मनोदुष्टता अथवा मन की दुष्प्रवृत्ति–आर्त्तरौद्रध्यानरूप परिणति मनदण्ड है। मनदण्ड—राग-द्वेष-मोह के भेद से मानसिक दण्ड तीन प्रकार का है [ चा. सा. ९९/५ ]

पथिक ! मन इन्द्रियों का राजा है। इस मन में निरन्तर राग-द्वेष मोह रूप विभावपरिणतियाँ होती रहती हैं। तुम चैतन्य आत्मा इस मन से भिन्न हो, राग-द्वेष व मोह से भी भिन्न हो।

पथिक ! मुक्तिराही सम्यग्दृष्टि ही होता है।

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः"

सम्यग्दृष्टि के निश्चित रूप से ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य होती है। पथिक विचार करता है—ओह ! मैं भी सम्यग्दृष्टि हूँ—अतः अब मैं स्वस्वरूप की प्राप्ति और परद्रव्य के त्याग की विधि के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति का अभ्यास करता हूँ। अब मैं यह स्व है और यह परद्रव्य आत्मा से भिन्न है इस भेद को परमार्थ से जानकर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता हूँ और पर रागादि ( राग-द्वेष-मोह ) के सम्बन्ध से पूर्ण विराम लेता हूँ।

**प्रश्न**—वचनदण्ड का लक्षण व भेद बताइये ?

**उत्तर**—वचन की दुष्प्रवृत्ति अथवा वचन दुष्टता को वचन-दण्ड कहते हैं।

**वाग्दण्डसप्तविधः**—

झूठ बोलना, वचन से कहकर किसी के ज्ञान का घात करना, चुगली करना, कठोर वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना, संताप उत्पन्न करने वाला वचन कहना और हिंसा के वचन कहना। यह सात तरह का वचन-दण्ड कहलाता है।

हे पथिक! वचन वर्गणा तथा जिह्वा-इन्द्रिय ओठ-तालु आदि के व्यापार पूर्वक शब्दों की या वचन की उत्पत्ति होती है अतः ये शब्द यद्यपि जड़ हैं, मूर्त, पौद्गलिक हैं फिर भी शब्द सर्वथा जड़ नहीं हैं। शब्द या वचन कथंचित् चेतन व कथंचित् जड़ हैं। शब्द वर्गणा, जिह्वेन्द्रिय व होठ-तालु के व्यापार से उत्पत्ति की अपेक्षा वचन जड है परन्तु वचनो के पीछे जीवों के शुभाशुभ परिणाम लगे हुए है इसलिए कथचित वचन चेतन हैं। पुस्तक में अपने अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के वचन लिखे रहते हैं किन्तु वे मानव के अन्दर इष्टानिष्ट, हर्ष-विषाद की कल्पना नहीं करते हैं। जबकि अपना शत्रु कोई मृदु वचन भी बोलता है तो वह कटु लगता है और मित्र के प्रिय इष्ट वचनों से हर्ष या रति होती है।

पथिक ! यदि बोलना चाहते हो तो कैसा बोलो—

जग सुहित कर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम रोग हर जिनके वचन मुख, चन्द्रतैं अमृत झरैं॥

—छहढाला ६-२

और भी—

जो वचन तुम्हें अपने लिये प्रिय नहीं हैं उनका प्रयोग दूसरो के साथ भी न करो।

और भी—

वाणी की शक्ति अद्भुत है। तलवार आदि के घाव भर सकते हैं पर वचन-दण्ड का प्रयोग स्व-पर दोनों का घातक होता है। अतः—

ऐसी वाणी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय॥

पथिक ! विचार करो परिणामों की कितनी महत्ता है—जब शब्द वर्गणाएँ मुख से निकलती है टकराने से आवाज करके वे शब्द तो आकाश में बिखर जाते हैं किन्तु उन शब्दों के साथ जो मनोभावनाएँ रहती हैं, वे एक-दूसरे के हृदय से लकीर की तरह उकर जाती हैं, वह शब्द वर्गणाओं को चेतन मानकर विह्वल हो उठता है। शब्द को अपना मानना ही अज्ञानता है। पर शब्दों का दुष्प्रयोग करना महा अज्ञानता है।

मुक्तिराही पथिक ! अन्तरात्मा अपने जीवन में अधिकांशतः बोलने का ही त्याग करता है। मौन साधना में भी इशारे की कटु भाषा

कठोरता का रूप ले लेती है अतः मैं उस मौन भाषा का भी त्याग करता हूँ। मैं बोलने की आवश्यकता रही तो नपा-तुला-हितकर वचन सर्वजीव कल्याणार्थ बोलूँगा, अन्यथा मौन बैठकर शुद्धचिदानन्दघन में ही शुद्धात्मा का ध्यान करूँगा।

पथिक सप्त प्रकार की वाक्-दुष्टता का त्याग करो, फिर क्या करो—

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामय रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥ ५३ ॥

—स० तं०

चर्चा करना है तो आध्यात्मिक चर्चा करनी चाहिये, बातें करनी हैं तो आत्मा सम्बन्धी बातें अन्य विद्वानों से पूछो, उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखो, उसी अध्यातम में सदा तत्पर/उत्सुक रहो, जिससे आत्मा का अज्ञान भाव छोड़कर ज्ञानभाव प्राप्त हो।

जैसे म्यान मे तलवार रहती है। उसी प्रकार शरीर में आत्मा रहता है। उस शरीर मे बोलने वाली जीभ ( रसनेन्द्रिय ) भी है। आत्मा की प्रेरणा से शरीर काम करता है और रसना वचन बोलती है। इस तरह आत्मा इस शरीर और वाणी से भिन्न चेतन पदार्थ है। अज्ञानी बहिरात्मा शरीर, वाणी और आत्मा को एक ही पदार्थ मानता है। मैं अब अन्तरात्मा हुआ, पर को पर और स्व को स्व जानता हुआ विभाव-परिणामों का त्याग करता हूँ। अब मेरे वचनों में दुष्टता कभी नहीं होगी। मैं स्वपरोकारिणी भाषा के द्वारा आत्म-कल्याण की प्रवृत्ति करूँगा अथवा अपनी वाणी रूपी गाय को वचन दुष्टतारूपी खेत में चरने से सदा रोकूंगा।

**प्रश्न**—कायदण्ड का लक्षण व भेद बताइये ?

**उत्तर**—शरीर की दुष्प्रवृत्ति/काय दुष्टता को कायदण्ड कहते हैं। कायदण्ड भी सात प्रकार का है—प्राणियों का वध करना, चोरी करना, मैथुन करना, परिग्रह रखना, आरम्भ करना, ताड़न करना और उग्रवेष ( भयानक वेष ) धारण करना।

यह शरीर स्वभाव से दुष्ट है, अपवित्र है, धोखेबाज भी है फिर ऐसे शरीर की दुष्प्रवृत्ति कितनो दुष्टता सहित होगी। विचारणीय है।

पथिक! यह शरीर बन्ध का हेतु भी है तो मुक्ति का भी हेतु है अतः इस उपकारी शरीर को प्राप्त कर अपना कार्य सिद्ध कर लो—

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिः, मता निर्विचिकित्सता ॥ १३ ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

यह शरीर मलमूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का पिटारा है, किन्तु इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जावे तो महान् पवित्र हो जाता है। अतः रोगादिक से हुई अपवित्रता की ओर ध्यान न देकर "केवल मनुष्य शरीर ही मोक्षसाधक है, अन्य देवादिक का शरीर नहीं। अतः मैं मानव शरीर को उपकारी समझ, रत्नत्रय की सिद्धि करने का पुरुषार्थ करता हूँ तथा शारीरिक दुष्टता आरम्भ-परिग्रह-चोरी-हिंसा आदि दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ।

तात्पर्य—सम्यग्दृष्टि/अन्तरात्मा का कर्तव्य है—क्या ?

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

—स० तं०

सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को अपने आत्मा के चिन्तन, मनन, संवेदन-रूप ज्ञान के सिवाय अन्य कोई काम अपने मन में बहुत समय तक धारण नहीं करना चाहिये—उसमें थोडा ही समय लगाना चाहिये, किसी प्रयोजन से यदि कुछ करे भी तो उदासीन रूप से अपने वचन और शरीर से वह काम करे यानी—मन उस संसारी काम में न लगावें।

हे पथिक ! मनदण्ड का त्यागकर मन से आत्मचिन्तन, आत्म-मनन व आत्मा की भावना आदि कार्य करो, जिससे आत्मबल बढ़ता है। वचन दण्ड का त्यागकर वचनो से जिनस्तुति, आत्मस्तुति, धर्मोपदेश आदि करो जिससे आत्मबल वृद्धि को प्राप्त हो। कायदण्ड का भी त्यागकर, काय की सरलता पूर्वक कायोत्सर्ग धारण करो, परिग्रह को चार प्रकार के दान में लगाओ, तीर्थों की, निषिद्दिकाओ की वन्दना करो। इससे आत्मबल बढ़ता है। वचन, मन तथा काय की कौटिल्यता के त्याग से संसार-शरीर व परिवार से मोह घटता है। मोह के कम हो जाने पर कर्मों का आना रुकता है तथा संवर की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तभी निर्जरा का आश्रय प्राप्त कर यह जीव रत्नत्रय/मोक्षमार्ग की सिद्धि कर, समय पाकर मुक्तिरमणी का वरण करता है।

मन की दुष्टता मेरी आत्मा में नहीं है।

यह विभावपरिणति पुद्गल पर्याय है।

वचन की दुष्टता भी मेरी आत्मा में नहीं है।

यह कर्मोदय जनित विकार है।

काय की दुष्टता भी मेरी आत्मा में नहीं है।

यह भी कर्मों के संयोग से होने वाली नश्वर शारीरिक परिणतिमात्र है।

मेरा आत्मा इनसे भिन्न मात्र ज्ञेयों का ज्ञायक, चिन्मात्रमूर्ति है।

( अन्त में ) प्रथम सूत्र का सार एवं निष्कर्ष :—

१. राग भिन्न है मेरा आत्मा भिन्न है।
२. द्वेष भिन्न है मेरा आत्मा भिन्न है।
३. मोह भिन्न है मेरा आत्मा उससे भिन्न है।
४. क्रोध-मान-माया-लोभ कषायें अलग हैं, मेरा आत्मा इनसे अलग है।
५. पंचेन्द्रिय विषय व्यापार सुखाभास हैं, मुझसे भिन्न हैं मेरा आत्मा, उनसे भिन्न शाश्वत अनन्त सुख का आगार/खजाना है।
६. मन-वचन-काय तीनों अलग हैं, मेरा आत्मा अलग है। ये तीनों जड़ है, मैं चेतन ज्ञानमूर्ति हूँ।
७. भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म कर्म की पर्यायें हैं, मुझसे भिन्न है, मैं इनसे भिन्न हूँ। कर्म मेरा स्वभाव नहीं, मैं कर्म का नही, कर्मों के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम में भी मेरा स्थान नही है।
८. ख्याति-पूजा-लाभ मेरी वस्तु नहीं, मैं इनका नही। ये पुण्याधीन पर वस्तुएँ हैं, मैं स्वाधीन स्ववस्तु हूँ।
९. दृष्टश्रुतभोगाकांक्षारूप निदानशल्य भिन्न है, मैं निःशल्य हूँ। निदान संसार का हेतु है, मेरा आत्मस्वभाव मुक्ति का हेतु है।
१०. मायाशल्य अलग है, मैं निःशल्य हूँ।
११. मिथ्याशल्य अलग है, मै निःशल्य हूँ।
१२. शब्द गारव अलग है, मैं अलग मार्दव धर्म सहित हूँ।
१३. रस गारव अलग है, मै अलग मार्दव धर्म सहित हूँ।
१४. ऋद्धि गारव अलग है, मैं अलग मार्दव धर्म सहित हूँ।
१५. मन दण्ड भिन्न है, मै शुद्धात्म चिन्तन स्वरूप हूँ।
१६. वचन दण्ड भिन्न है, मै अन्तर्बाह्य जल्प से भी रहित हूँ।

१७. शरीर दण्ड अलग है, मैं शरीर से भिन्न चैतन्य प्राणों से जीने वाले परमानन्दी आत्मा हूँ।

एकमनेकं स्वं संभारय,
शुद्धमशुद्धं स्वं संतारय।
लक्ष्यमलक्ष्यं स्वं संपारय,
कर्मकलंकं स्व. संदारय ॥ ६५ ॥—वं० म०

आत्मन्! तू अपने आपको एक व अनेक स्वरूप समझ, अपनी शुद्ध व अशुद्ध दशा का परिज्ञान प्राप्त कर, उसे संसार सागर से तार, लक्ष्य व अलक्ष्य विवेककर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सचेष्ट हो; तथा अपनी आत्मा में लगे हुए कर्म कलंक का, तू सर्वथा विनाश करने के लिये प्रयत्न कर।

राग-द्वेष अरुमोह कषाय व, पञ्चेन्द्रिय के विषय जानो।
मनो वचन अरु काय दंड वश ख्याति पूजा तुम हानो॥
कर्मादिक से भिन्न पथिक तुम शल्यत्रय का नाश करो।
गारव त्रय से भिन्न निजातम् शान्त सुधारस पान करो॥१॥

**इति प्रथम अध्याये प्रथम सूत्र**

**सूत्र—**

**निजनिरञ्जनस्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दसुखानुभूतिरूपमात्रलक्षणेनस्वसंवेदनज्ञानसम्यक्प्राप्त्याभरितविज्ञानेनगम्य प्राप्त्या भरितावस्थोऽहम् ॥२॥**

**सूत्रार्थ**—मेरी आत्मा कर्म वा विकारों से रहित स्व शुद्ध स्वरूप है। उस स्व शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान व उसी मे आचरण रूप क्रिया अभेद रत्नत्रय है। अभेद रत्नत्रय से निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। उस निर्विकल्प समाधि या ध्यान से जो वीतराग और स्वाभाविक सहजानन्द, सुखानुभूति की उत्पत्ति होती है वही वीतराग सहजानन्द सुख मेरा व मेरी आत्मा का लक्षण है। उसी वीतराग सहजानन्द से मेरी आत्मा में स्वसंवेदन अर्थात् अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव रूप ज्ञान की प्राप्ति समीचीन रूप से हो जाती है। उसी आत्मा के अनुभव रूप ज्ञान की प्राप्ति से स्वात्मा में लीन होने रूप सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है। इस

प्रकार अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति मेरी आत्मा में हो जाती है। उसी अभेद रत्नत्रय से मेरा यह आत्मा लबालब/पूर्णरूप से भरपूर हो रहा है।

**विशेषार्थ—**

हे पथिक ! तुम्हारा यह आत्मा द्रव्यकर्म, नोकर्म व भावकर्म वा आर्त्तरौद्र ध्यानरूप विकारों से रहित शुद्ध स्वरूप है। श्री कुंदकुंदाचार्य समयसार ग्रन्थ में लिखते हैं—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥—समयसार

**अर्थ**—यह आत्मा उपादान रूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नही है। इस प्रकार जो जानता है अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है वह ज्ञानी होता है।

[हिन्दी टीका—आ० ज्ञानसागरजी]

जिस प्रकार कलश का उपादानकर्ता मिट्टी है उसी प्रकार कर्म और नोकर्म के परिणाम का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है, परन्तु आत्मा उनका उपादान कर्ता नही है। इसी प्रकार राग-द्वेष-मोह, आर्त्तरौद्र ध्यान रूप विकार भी आत्मा के स्वभाव नहीं हैं ये विभावपरिणाम है। आत्मा तो शुद्ध स्वरूप मात्र ज्ञायक है। इसलिये हे पथिक ! उस शुद्धात्मा का परम समाधि के द्वारा अनुभव करके ज्ञानी बनने का पुरुषार्थ करो।

मेरा यह आत्मा कर्म-नोकर्म से रहित है, शुद्धात्मा है। मैं उसी शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान करता हूँ, उसी शुद्धात्मा को जानता हूँ तथा उसी मे आचरण रूप अनुष्ठान चारित्र को धारण करता हूँ। क्योंकि

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥—नियमसार

मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे तथा प्रत्याख्यान मे एव सवर मे और ध्यान के समय मे केवल आत्मा ही आत्मा है।

मैं निर्विकल्प समाधि अथवा परमसामायिक या परमध्यान की प्राप्ति के लिये भोगाकांक्षा, निदानबंध और शल्य आदि भावों से रहित उस शुद्धात्मा का ध्यान करने का पुरुषार्थ करता हूँ, जो स्पष्ट रूप से मेरी एक शुद्धात्मा है, सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग इन सब ही भावनाओं में मेरी एक आत्मा ही है।

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥—समयसार

ज्ञानी जीव के चारित्र दर्शन और ज्ञान है जो कि उसके स्वरूप में है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से तो न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। तो फिर क्या है? "ज्ञायक मात्र है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव है" जो कि रागादिक रहित शुद्ध भाव है।

हे आत्मन्! मैं उस स्वशुद्धात्मा में स्थित हो, स्वसमय की प्राप्ति को करता हूँ। उस स्वसमय की प्राप्ति कैसे होगी?—स्वशुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान से।

स च जीवाश्चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदाकाले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानाहि। तथाहि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रुचिरूप सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमिति उक्त लक्षणेन निश्चयरत्न-त्रयेणपरिणतजीवपदार्थं हे शिष्य! स्वसमयं जानीहि।

यह जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित रहता है उस समय उसे स्वसमय समझो। अर्थात् विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में रुचि रूप सम्यग्दर्शन और उसी मे रागादि रहित स्वसंवेदन का होना सम्यग्ज्ञान तथा निश्चल स्वानुभूति रूप वीतराग चारित्र है। इस प्रकार कहे गये लक्षण वाले रत्नत्रय के द्वारा परिणत-जीव-पदार्थ को हे शिष्य! तू स्वसमय समझ।

[ज० से० कृत सं० टीका, हिन्दी आ० ज्ञानसागर जी, गाथा-२]

परद्रव्यनतैं भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जानपनो सो, सम्यग्ज्ञान कला है।
आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यक् चारित्र सोई।

—छहढाला ३-२

निश्चय रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय या स्वसमय ये सब एकार्थवाची है। जो जीव इस अभेद रत्नत्रय से एकत्व के साथ निश्चित रूप से एक होकर रहता है वह इस संसार में सर्वत्र सुन्दर, सुहावना व पूज्य होता है। उस एकत्व में बंध की कथा संसार में गिराने वाली है। इसलिये हे पथिक! एकत्व का आश्रय करो, अभेद की शरण लो, भेद का त्याग करो। यह

अभेद रत्नत्रय ही शाश्वतसुख का साक्षात् कारण है अथवा अभेद रत्नत्रय ही शाश्वतिक सुख है।

इस अभेद रत्नत्रय से निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होती है।

**प्रश्न**—निर्विकल्प समाधि किसे कहते है ?

**उत्तर**—वयणोच्चारणकिरियं परिचित्त वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाण परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥
संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाण परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

—नियमसार

वचन बोलने की क्रिया का परित्याग कर, जो वीतराग भाव से आत्मा को ध्याता है उसके परम समाधि होती है। सयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है उस साधु की परम समाधि होती है। यही निर्विकल्प समाधि है।

कभी अशुभ से बचने के लिये वचनो के विस्तार से मनोहर परम वीतराग सर्वज्ञदेव का स्तवन आदि परम जिन योगीश्वर को भी करना चाहिये। परमार्थत: प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे समस्त वचन विषयक व्यापार को नही करना चाहिये, इसी हेतु से वचन रचना का परित्याग करके सकल कर्म कलंकरूपी पंक से रहित तथा भावकर्म के भी प्रध्वस्त हो जाने से, होने वाले ऐसे परम वीतराग भाव के द्वारा तीनों कालों में आवरण रहित, नित्य, शुद्ध कारण परमात्मा को जो परम वीतराग तपश्चरण मे लीन हुआ वीतरागी सयमी साधु स्वात्माश्रित निश्चय धर्म्यध्यान मे और टकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वरूप में निरत ऐसे शुक्लध्यान से ध्याता है, द्रव्यकर्म और भावकर्म रूपी सेना को जीतने वाले ऐसे उस साधु के वास्तव मे परमसमाधि होती है।

[नि० सा० १२२ हिन्दी टीका गणिनी आ० ज्ञानमती माताजी कृत]

सयल-वियप्पह जो विलउ परम-समाहि भणंति।
तेण सुहासुह-भावडा मुणि सयलवि मेलंति ॥१९०॥

—प० प्र०

**अर्थ**—जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप से प्रतिकूल रागादि समस्त विकल्पो के विलय-नाश को वीतरागपरमसामायिक रूप परमसमाधि कहते

हैं। इस परमसमाधि से मुनिगण परमाराध्यध्यानरत तपोधन सभी शुभा-शुभभावों को छोड़ देते हैं।

अर्थात् समस्त परद्रव्यों की चाह रूप आशा से रहित, स्वशुद्धात्मा की भावना अथवा निजशुद्धात्म स्वभाव से भिन्न जो इहलोक-परलोक सम्बन्धी चाह जब तक मन में बनी रहती है तब तक यह जीव निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता।

रागादि विकल्पजाल से रहित निजशुद्धात्मा की भावना वीतराग परमसामायिक रूप परमसमाधि ही निर्विकल्प समाधि है। हे पथिक! उसी निर्विकल्प समाधि की प्रतिदिन भावना करना चाहिये तथा उसी के हेतु आधि-मानसिक दुःख, व्याधि शारीरिक दुःख से भिन्न निजशुद्धात्मा में स्थिर होकर रागद्वेषादि समस्त विभावभावों का त्याग कर निजस्वरूप की भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार उस निर्विकल्प समाधि या निर्विकल्प ध्यान से वीतराग, स्वाभाविक, सहजानन्द, सुखानुभूति की उत्पत्ति होती है वही वीतराग सहजानन्द सुख मेरा व मेरी आत्मा का लक्षण है।

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकम्।
विलीन संकल्पविकल्पजालं,
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

—समयसार कलश

मेरा आत्म स्वभाव परभाव अर्थात् अपने से भिन्न विभावभाव तथा चेतन-अचेतनादि परभाव से भिन्न है। शुद्धनय के अनुसार वह आत्म-स्वभाव अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि गुणों से परिपूर्ण है; इस आत्मा को न किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसका नाश करने वाला ही है। यह तो आदि अन्त से रहित अनादि निधन है और सर्वभेदों से रहित एकाकार रूप है, तथा (परद्रव्य मेरे हैं इस प्रकार के भाव को संकल्प तथा मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, इस प्रकार की बुद्धि को विकल्प कहते हैं) आत्मा समस्त संकल्प-विकल्पों के भेदजाल से रहित है। जब आत्मा में परम समाधि/निर्विकल्प समाधि या निर्विकल्प ध्यान द्वारा अथवा शुद्धनय प्रकट होता है तब ऐसा वीतराग स्वाभाविक सहजानन्दमय ऐसा शुद्ध निज-स्वरूप प्रतिभासित होता है।

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं तत्क्षण गतविभ्रमः।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्प समाधितः ॥१५॥

—प० स्तो०

विकल्प रहित शुद्ध आत्मा में स्थिर होकर निर्विकल्प समाधि से जिस क्षण में शुद्ध ज्योति के दर्शन करता है, उसी क्षण परद्रव्य में अपनत्व बुद्धि और विभाव परिणति रूप विकल्प पलायमान हो जाते हैं।

तत्क्षण मुक्ति पथिक ! आत्मा में ही सर्व ज्योति को प्राप्त करता हुआ कहता है—वह मेरा आत्मा ही सर्वोत्तम सार भूत पदार्थ है अर्थात् वही सब कुछ है। आत्मा से भिन्न अन्य कुछ नहीं है—

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः ॥१६॥
स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मकः ॥१७॥
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनं।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमं शिवः ॥१८॥
स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः।
स एव परमज्ञानं, स एव गुणसागरः ॥१९॥
परमाल्हादसंपन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्।
सोऽहं तं देहमध्येषु, यो जानाति स पंडितः ॥२०॥

—प० स्तो०

उसी वीतराग सहजानन्द से मेरी आत्मा में स्वसंवेदन अर्थात् अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव रूप ज्ञान की प्राप्ति समीचीन रूप से हो जाती है। यह ज्ञानज्योति अन्तरंग में अतिशय से अपनी चैतन्यशक्ति से भरितावस्था को प्राप्त अत्यन्त गंभीर, जिसका थाह नहीं ऐसी प्रकाशित हुई है। अब पहले जैसे आत्मा कर्ता था, वह उस प्रकार अब कर्ता नहीं होता और इसके अज्ञान से जो पुद्गल कर्मरूप होता था, वह भी अब कर्मरूप नहीं होता, किन्तु ज्ञान तो ज्ञानरूप ही हुआ और पुद्गल शुद्ध परमाणु रूप हो जाता है। इस प्रकार आत्मा के यथार्थज्ञान होने से दोनों द्रव्यों के परिणामों में निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं होता, ऐसा सम्यग्दृष्टि का ज्ञान होता है।

**प्रश्न**—यह आत्मा ज्ञानी है यह बात कैसे जानी जाती है ?

**उत्तर**—कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

—समयसार

यह आत्मा उपादानरूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नहीं है। इस प्रकार जो जानता है अर्थात् समाधिस्थ होकर अनुभव करता है वही ज्ञानी होता है। अर्थात् जिस प्रकार कलश का उपादान कर्त्ता मिट्टी है उसी प्रकार कर्म और नोकर्म परिणामों का कर्ता पुद्गल द्रव्य है, परन्तु आत्मा उनका उपादान कर्ता नहीं है। इस प्रकार जो जानता है वह निश्चय शुद्धात्मा का परम समाधि के द्वारा अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता है।

[आ० ज्ञा० सा० कृत हिन्दी टीका]

**प्रश्न**—ज्ञानशक्ति का प्रभाव बतलाइये ?

**उत्तर**—ऊपर कहे गये लक्षण सहित ज्ञानी की ज्ञानशक्ति का इतना प्रभाव होता है कि जैसे मन्त्रविद्या के जानकार पुरुष विष को खाकर निर्दोष मन्त्र की सहायता से मरण को प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही परमतत्त्वज्ञानी-जीव शुभ व अशुभरूप कर्मों के फल को भोगता हुआ भी वह, निर्विकल्प समाधि है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञानरूप अमोघ मन्त्र के बल से कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता—

—१९५ गा०—स० सा० हिन्दी [आ० वि० सा०]

खाना भले विष सुधी विष-मन्त्र-ज्ञाता,
पाता न मृत्यु फिर भी दुख भी न पाता।
त्यों निर्विकल्पक समाधि विलीन ध्यानी,
भोगे विपाक विधि के बँधते न ज्ञानी॥

हे मुक्ति पथिक! तुम स्वयं उस परमार्थ ज्ञान के स्वामी, भरितावस्थै युक्त मात्र ज्ञानानन्द के पिटारे हो, उसी भेदज्ञान का आश्रय करो, उसी को अपने अन्दर जाज्वल्यमान करो। केवलज्ञान ज्योति तुम्हारा स्वरूप है उसे प्रकट करो—मैं केवलज्ञान स्वभावी हूं, क्षायोपशमिक ज्ञान में मेरा कोई स्वभाव नहीं। मैं मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय और केवलज्ञानरूप पर्यायों से भिन्न "मात्र ज्ञानपुञ्ज" अमर ज्योति हूँ। उसी का आश्रय करता हूँ, पुनः-पुनः उसी की शरण लेता हूँ।

उसी आत्मा के अनुभव रूप ज्ञान की प्राप्ति से स्वात्मा में लीन होने रूप सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है।

स्वसंवेदनज्ञानानन्तरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परम-सामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्ति करोति जीवः।

[ज० से० आ० कृ० सं० टीका स० सा० गाथा ७७]

तभी क्रोधादि आस्रवों के कलुषतारूप अशुचिपने को, जड़तारूप विपरीतपने को और व्याकुलता लक्षणरूप दुःख के कारणपने को जानकर एवं अपनी आत्मा की निर्मल आत्मानुभूतिरूप शुचिपने को, सहज-शुद्ध अखण्ड केवलज्ञानरूप ज्ञातापन को और अनाकुलता लक्षण अनन्त-सुखरूप स्वभाव को जानकर उसके द्वारा स्वसंवेदनज्ञान को प्राप्त होने के अनन्तर सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में एकाग्रतारूप परमसामायिक में स्थित होकर यह जीव क्रोधादिक आस्रवो की निर्वृत्ति करता है।

आत्मानुभवरूप ज्ञान से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का तात्पर्य यही है कि यहाँ वैराग्यपूर्ण ज्ञान को ज्ञान कहा है और उससे बंध का निरोध होता है। पानक-पीने की वस्तु ठंडाई के समान अभेदनय से जहाँ ऐसा ज्ञान है वही वीतराग चारित्र और वीतराग सम्यक्त्व है ही। अर्थात् वैराग्य पूर्ण ज्ञान—जो सांसारिक विषय वासनाओं से सर्वथा दूर हो और शुद्धात्मा मे तल्लीन रहने वाला हो अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनों की एकता को प्राप्त अभेद रत्नत्रय/वीतरागता/निर्विकल्प समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है।

अतः ज्ञानी आत्मा निम्न भावना के बल से आत्मस्वरूप का दर्शन करता है—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

—समयसार

मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममता रहित हूँ और ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण हूँ। अतः उसी स्वभाव में स्थित होता हुआ एवं चैतन्य के अनुभव में लीन होता हुआ, मैं उन क्रोधादि सब आस्रवभावों का क्षय करता हूँ।

हे पथिक! तुम्हारी आत्मा अभेद रत्नत्रय से पूर्ण भरितावस्थारूप है। उस अभेद रत्नत्रय भरितावस्था में मिथ्यादर्शन-अज्ञान और कषाय

इन मल की उपस्थिति तुम्हारी शुद्धात्मा की बाधक बन रही है। अतः सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन की प्राप्ति द्वारा मिथ्यामल का क्षय करो, पश्चात् ज्ञान के द्वारा अज्ञानमल को धो डालो और फिर सम्यक्चारित्र के द्वारा कषायमल का प्रक्षालन करो। जैसे कोई भी धनेच्छुक पुरुष चमर, छत्र आदि चिह्नों से राजा को जानकर "यही राजा है" ऐसा निश्चय करता है, पश्चात् उस राजा का आश्रय लेता है, उसी की पूर्ण प्रयत्न से आराधना करता है। इसी प्रकार हे पथिक! तुम भी शुद्ध जीवराजा को उसके द्रव्यगुण-पर्याय से जानो, जो कि निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से जानने योग्य है। फिर उसी नित्यानन्द स्वभावी का आश्रय लो, जो कि निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है। शुद्ध जीवराजा के आश्रय लेने से सभी वांछित सिद्ध हो जाते हैं। फिर तुझे बाह्य शुभाशुभ विकल्पजाल से क्या प्रयोजन है?

हे पथिक! व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य ही उनकी उपासना करो। किन्तु शुद्धनिश्चयनय से वे तीनों एक शुद्धात्मस्वरूप ही हैं। मेरी शुद्धात्मा से रत्नत्रय भिन्न नहीं हैं।

मै अभेदरत्नत्रय का स्वामी शुद्धात्मा हूँ।

निश्चय से मेरी आत्मा का अभेदरत्नत्रय से तादात्म्य सम्बन्ध है क्योंकि रत्नत्रय शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य कहीं नहीं रहता है।

"रत्नत्रयेण भरितावस्थोऽहम्"
"पूर्णकलशवत् अभेद रत्नत्रयेण भरितावस्थोऽहं"
अभेदरत्नत्रयाश्रित शुद्धात्मने नमः।
नित्य निरञ्जन शुद्धातम मैं रत्नत्रय से पूर्ण अहो।
अहंकार-ममकार शून्य हूँ वीतराग मैं शुद्ध अहो।
सहजानन्दी सुख आस्वादी पूर्ण-पूर्ण मैं शान्त अहो।
घड़ी-घड़ी अरु पल-पल पीओ आनन्दामृत मीत अहो॥२॥

**सूत्र—सहजशुद्धपारिणामिकभावस्वभावोऽहम् ॥३॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सहज पारिणामिक भाव स्वभाव हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—भाव किसे कहते हैं—

**उत्तर**—द्रव्य के परिणाम को भाव कहते हैं। [ध०५/१, ७, १/१८७/९

अथवा

"भावः चित्परिणामः"—चेतन के परिणाम को भाव कहते हैं।
[गो० जी०/जी० प्र०/१६५/३९१/६]

**प्रश्न**—जीव द्रव्य के मुख्यता से कितने भाव हैं ?

**उत्तर**—जीव द्रव्य के ५ भाव हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।

**प्रश्न**—इन पाँच भावों की विशेषता बतलाइये ?

**उत्तर**—कर्मों के उपशम से औपशमिक भाव होता है, कर्मों के क्षय से क्षायिक, कर्मों के क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक, कर्मों के उदय से औदयिक और कर्मों की सम्पूर्ण उपाधि से रहित पारिणामिक। इन भावों में क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव मोक्ष को करने वाले हैं, औदयिक भाव बन्ध करने वाले हैं और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है। कहा भी है—

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिक क्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः॥
[स० सा० गाथा ४१४ टीका जयसेनाचार्य कृत]

हे पथिक ! मेरा आत्मा परमार्थतः सहज शुद्ध पारिणामिक भाव स्वभाव वाला है।

**प्रश्न**—सहज शुद्ध पारिणामिक भाव कैसा है ?

**उत्तर**—"सकलकर्मोपधिविमुक्तः परिणामे भवः पारिणामिकभावः"। जिस भाव में इंद्रिय-मन-कर्म किसी की अपेक्षा नही है अतः स्वाभाविक है। कर्मों के उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम से मुक्त होने से जो शुद्ध है ऐसा मेरा पारिणामिक भाव मेरी आत्मा का स्वभाव है। मैं उस भावस्वरूप हूँ।

अतः पथिक सहज शुद्ध पारिणामिक भाव की शरण पकड़ो, उसी की आराधना, उसी की श्रद्धा, उसी की पूजा, उसी की वन्दना करो—

जो ध्याता है नित्य, सहज शुद्ध पारिणामिक भावा।
करता मुक्ति निवास, देते आचार्य ये दावा॥
मुक्ति पथिक ! अब जाग, ले ले उसी का सहारा।
मिट जाये अब शीघ्र, जनम-मरण दुख भारा॥३॥

मेरा जीवत्व भाव शुद्ध पारिणामिक भाव है, मै उस शुद्ध पारिणामिक भाव की नित्य वन्दना करता हूँ तथा उसी मे तल्लीन होने का पुरुषार्थ करता हूँ।

**सूत्र—सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहम् ॥४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं स्वाभाविक शुद्धज्ञान अर्थात् केवलज्ञान से उत्पन्न होने वाले परमानन्द स्वभाववाला हूँ।

**प्रश्न**—सहजशुद्धज्ञान किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—कर्मावरण से रहित, स्वाभाविक, क्षायिक ज्ञान, केवलज्ञान "सहजशुद्धज्ञान" है।

**प्रश्न**—केवलज्ञान किसे कहते हैं।

**उत्तर**—जो एक साथ ही सर्व आत्म प्रदेशों से तात्कालिक/वर्तमान-कालीन, या अतात्कालिक/भूत-भविष्यत्, अनेक प्रकार के और मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन आदि समस्त पदार्थों को जानता है वह क्षायिकज्ञान ही केवलज्ञान है।

[ पवयणसारो/४७ ]

अथवा—त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जो युगपत् जानता है वह केवलज्ञान है।

**प्रश्न**—परपदार्थों को जानने मात्र से केवली को आनन्द कैसे ?

**उत्तर**—जो कोई एक ग्रन्थ या एक विषय का भी पूर्ण ज्ञान रखता है तो उसके आनन्द का ठिकाना नही रहता, फिर केवलज्ञान में त्रिकाल-वर्ती सर्वपदार्थों को जानने वाले केवली के आनन्द का वर्णन कौन कर सकता है ?

मुक्ति पथिक ! तुम्हारा आत्मा उसी केवलज्ञानानन्द का स्वामी है, मेघों के आवरण के हटते ही सूर्य तीन लोक सर्व पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही घातिया कर्मावरण के दूर होते ही केवलज्ञान में सर्व चराचर पदार्थ प्रतिभासित होने लगते हैं।

मैं कौन हूँ—प्रत्येक भव्यात्मा को प्रतिदिन भावना करना चाहिये—

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतये णाणी ॥ ९६ ॥

—नियमसार

सहज शुद्ध केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य से युक्त जो परमात्मा हैं वही मैं हूँ। अर्थात् मैं सहजशुद्धज्ञान स्वरूप हूँ, मैं सहजशुद्ध क्षायिकज्ञान स्वरूप हूँ।

मेरा यह आत्मा, वह परम तेज केवलज्ञान-दर्शन और केवल सौख्य

स्वभावी है। उसके जान लेने पर क्या नहीं जाना गया ? उसके देख लेने पर क्या नही देखा गया ? और उसके सुन लेने पर क्या नहीं सुना गया ?
[प० पं० के एक० स० श्लो० २०]

सहज शुद्ध इक अमर ज्योति मम, आतमराम में बसी हुई।
कर्मपटल को अभी हटाकर, देखूँ उसकी छवि नई॥
यही भावना पथिक कर रहा, ज्योति अन्दर जगी हुई।
केवलज्ञान ज्योति प्रकटित हो, है स्वरूप मेरा तो यही॥४॥

**सूत्र—भेदाचलनिर्भरानन्द स्वरूपोऽहम् ॥५॥**

**सूत्रार्थ**—मै समस्त आनन्दों से भिन्न, अचल पूर्ण आनन्द स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

पथिक ! समस्त इन्द्रियाधीन, परतन्त्र, परद्रव्यों से उत्पन्न आनन्दों भिन्न तुम्हारा स्वतन्त्र अतीन्द्रिय आत्मानन्द है। आज तक अज्ञानवश मैंने माता-पिता-पुत्र-पत्नी में रत हो, मोह में अटकाने वाले स्वार्थपूर्ण राग को ही आनन्द मानकर अपने आत्मानन्द को नही पहिचाना। इन्द्रिय विषयों की पूर्ति को ही आनन्द मान तृप्त रहा, उससे भिन्न स्वयं का आनन्द स्वयं मे स्वयं से अभिन्न छिपा है उसे प्राप्त करने का कभी पुरुषार्थ भी नही किया।

अब मैं जागृत हुआ, अपने अतीन्द्रिय अचल पूर्णानन्द की खोज कर उसी मे डुबकी लगाने का पुनः-पुनः प्रयास करता हूँ।

मेरी व मेरी आत्मा का सच्चा अतीन्द्रिय आनन्द शाश्वत है, स्वतंत्र है, परद्रव्य की पराधीनता से भिन्न है, इन्द्रियातीत है। तीन लोक को क्षोभित करने वाला भीषण तूफान भी मेरे उस आत्मानन्द को चलायमान नहीं कर सकता।

मेरा अचल, पर से भिन्न, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द मुझमें है, मै उसका स्वामी हूँ, मैं उससे अभिन्न हूँ, मैं उस पूर्ण-आत्मानन्द स्वरूप हूँ। मेरा आत्मा उसी अचलानन्द से पूर्ण कलशवत् लबालब भरा हुआ है।

आनन्दकन्द दुःख भंजन एक न्यारा,
है अचल निर्भर सुखामृत का पिटारा।
पीओ पथिक तुम इसे भर ज्ञान प्याला,
मिलता यहाँ सुख सदा अनुपम विशाला॥ ५॥

सूत्र—चित्कलास्वरूपोऽहम् ॥६॥

सूत्रार्थ—मैं चैतन्य कला स्वरूप हूं मेरा आत्मा चैतन्य कला से युक्त है।

विशेषार्थ—

प्रश्न—चित्कला किसे कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा के ज्ञान-दर्शन स्वभाव जो चैतन्य हैं, उनकी स्वाभाविक परिणति में तल्लीनता चित्कला कहलाती है।

हे मुक्तिराही ! शुद्ध चिदात्मा जीव द्रव्य रस, रूप, गन्ध से रहित व इन्द्रिय के अगोचर है, केवल चेतना गुणवाला है। उस चेतना गुण की शुद्ध परिणति मेरी आत्मा का स्वरूप है।

प्रश्न—चित्कला में निपुण कौन हो सकता है ?

उत्तर—आत्मानुभूति का प्यासा जीव आत्मानुभव प्राप्त कर चित्कला मे निपुण तत्स्वरूप हो जाता है।

प्रश्न—चित्कला निपुण आत्मानुभवी कारीगरी की दशा कैसी हो जाती है ?

उत्तर—एक निपुण चित्रकार जिस समय सुन्दर चित्र बनाने में मग्न हो जाता है उस समय उसकी दशा बाह्य विषयो से भिन्न अर्थात् उसे अन्य सब विषय फीके नजर आते हैं। उसी प्रकार चैतन्य ज्ञान दर्शनरूपी उद्यान में केलि करने वाला निपुण आत्मानुभवी कलाकार अपने सुन्दर चैतन्य चित्र को देखने मे ऐसे तल्लीन हो जाता है कि बाह्य सब वस्तुएँ निस्सार नजर आती है।

आत्मानुभवी कलाकार की दशा—
आतम अनुभव आवे, जब निज आतम अनुभव आवै ॥ टेक ॥
रस नीरस हो जाय तत्क्षण, अक्ष विषय नही भावे ॥ १ ॥
गोष्ठी कथा कुतूहल सब विघटै, पुद्‌गल प्रीति नशावै ॥ २ ॥
राग-द्वेष युग चपल पक्ष युत, मन पंछी मर जावे ॥ ३ ॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै ॥ ४ ॥

हे आत्मन् ! ऐसा मानकर इस चित्कला की प्राप्ति अपूर्व है और उपादेय है ऐसा मानकर पर्वत की गुफा, दराड़ आदि एकान्त स्थान में बैठकर विकल्प रहित, मोह रहित तथा समस्त झंझटों से रहित हो,

चित्कला में लीन हो। तथा उससे उत्पन्न जो सुखामृत उसकी अनुभूति ही है लक्षण जिसका, ऐसे शुद्ध जीव का भली प्रकार ध्यान करो।

हे पथिक अब तुम्हें क्या करना है—

चित चैतन्य की भूमि में तुम, अनुभव बीज बुवाना,
दर्शन ज्ञान चरित सुख वीरज, कुसुम सदा महकाना।
इनकी सौरभ कला में तल्लीन होकर आनन्द पाना,
पथिक जरा नहीं प्रमाद करना आगे बढ़ते जाना॥ ६॥

**सूत्र—चिन्मुद्रांकितनिर्विभागस्वरूपोऽहम् ॥ ७ ॥**

**सूत्रार्थ**—शुद्ध चैतन्यस्वरूप मुद्रा से शोभायमान और जिसका किसी प्रकार विभाग न हो सके, ऐसे शुद्ध आत्मामय मैं हूँ।

**विशेषार्थ—**

मुद्रा सर्वत्रमान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।
राजमुद्राधरोऽत्यन्त हीनवच्छास्त्रनिर्णयः॥

सब जगह मुद्रा माननीय है, मुद्रारहित का सम्मान नहीं होता। जिस प्रकार राजमुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन मनुष्य भी मान्य होता है।

**प्रश्न**—तुम्हारी शुद्ध आत्मा की कौन-सी मुद्रा है?

**उत्तर**—मेरा जीवात्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रूप तथा संस्थान, संहनन से रहित है। राग-द्वेष-मोह-मिथ्यात्वादि प्रत्यय तथा कर्म-नोकर्म भी इसकी पहिचान नही। वर्ग-वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभाग-स्थान इनमें भी मेरी निशानी नही है। योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धि-स्थान तथा जीवस्थान तथा गुणस्थान मे भी मेरी मुद्रा नही है ये सब पुद्गल द्रव्य के सयोग से होने वाले परिणाम हैं—"मुझ शुद्ध जीवात्मा की शुद्ध चैतन्य मुद्रा है"। मैं उस शुद्ध "चैतन्य मुद्रा" युक्त हूँ।

मेरा यह चित्चैतन्य मुद्रा युक्त आत्मा वर्तमान मे देह-देवालय मे विराजमान है—

"चिंतय निजदेहस्थं सिद्धं"

मैं उस चैतन्य प्रभु को सिद्धालय में अपने शाश्वत स्थान पर विराज-

मान करने के लिये नित्य आराधना करता हूँ। हे परमात्मन्! अपने शाश्वत स्वरूप में आओ, तुम्हारी मैं निरन्तर वन्दना, अर्चना करता हूँ।

"मेरा यह चिन्मुद्राङ्कित आत्मा अखण्डित है"

मेरा यह शुद्धात्मा जब विभाव रूप से परिणमन करता था तब इसमें ज्ञेय के निमित्त से तथा क्षयोपशम विशेष से अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनका खण्डन करके ज्ञानमात्र आकार अनुभव में आया। इसीसे मेरा आत्मा "अखण्ड" है। जो मेरा अखड ज्ञान पुञ्ज मतिज्ञान आदि भेदों में कहा जाता था, आज अहो आनन्द है, उसको दूर कर मेरा ज्ञानमात्र उदय में हुआ इसी से मेरा आत्मा अखंड है।

हे आत्मन्! इस आत्मप्रभु को कोई हथोड़ी छैनी लेकर तोड़ नहीं सकता, फोड़ नहीं सकता, इसे कोई अग्नि में जला नहीं सकता, पानी में कभी डुबा नही सकता। कटना, टूटना आदि पुद्गल में होता है। हे पथिक! तुम उस पुद्गल से भिन्न हो।

"दुनियाँ में सबसे न्यारा, यह आतमा हमारा।
यह जले नहीं अगनि में, भीगे न कभी पानी में।
मरता न मरी का मारा, यह आतमा हमारा॥

अमृत कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तबहि-
महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलयनिर्भरं सकलकालमालम्बते,
यदेकरनमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥ १४॥

वह परम-उत्कृष्ट-जगत्प्रकाशक ज्योति हमें प्राप्त होवे, जो कि सदाकाल चैतन्य की उठती तरंगों से परिपूर्ण है। जिस प्रकार नमक की एक डली एक क्षाररस की लीला का ही अवलम्बन करती है उसी प्रकार यह परम प्रकाश-तेज परद्रव्यो से भिन्न शुद्धातमा के स्वरूप का अवलम्बन करता है। यह तेज अखण्डित है—किसी भी प्रमाण से खण्डित नहीं होता॥ १४॥ [ आर्यिका ज्ञानमती जी कृत हिन्दी अनुवाद ]

चैतन्य शुद्ध चिन्मुद्रा यह अनूठी,
पाता वही जगत् में जिसको न बुद्धि।
है निर्विभाग यह एक अखण्ड ज्ञाता,
पाओ पथिक अब इसे जग छोड़ नाता॥ ७॥

**सूत्र—चिन्मात्रमूर्तिस्वरूपोऽहम् ॥ ८ ॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति स्वरूप हूँ।

**विशेवार्थ**—

मेरा शुद्ध चैतन्यात्मा द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से रहित एक टंकोत्कीर्ण चिन्मात्र मूर्ति स्वरूप है। एक मूर्तिकार पाषाण में मूर्ति का दर्शन करने के बाद उसमें से मूर्ति निकालना चाहता है; तब वह हथौड़ा-टाँकी आदि लेकर पाषाण के अनुपयोगी अंश को निकालता चला जाता है और अनुपयोगी पाषाण के हटते ही वह "वीतराग" मूर्ति के दर्शन करता हुआ आनन्दित हो उठता है। ठीक इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवात्मा मुक्ति पथिक, जिसने शरीररूपी पाषाण के भीतर वीतराग चैतन्यमूर्ति के एक बार भावपूर्वक दर्शन कर लिया है, वह अब चिन्मात्र-मूर्ति के दर्शन के लिये लालायित है।

क्या कहता है वह सम्यग्दृष्टि—

**परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषि-तायाः। ममपरमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु।**

पर परिणति का कारण जो मोहनीय कर्म है उसके उदयरूप विपाक से अर्थात् पर से पुत्र-मित्र-कलत्र-शत्रु आदि से उत्पन्न परिणाम से अथवा आत्मस्वरूप से भिन्न विभावपरिणाम के कारण से जो अनुभाव्य (रागादि भावो) की व्याप्ति है, उससे मेरी परिणति निरन्तर अनादिकाल से कल्माषित अर्थात् मलिन हो रही है परन्तु मैं द्रव्यदृष्टि से कर्मकलंक से रहित शुद्ध चैतन्यमात्रमूर्ति हूँ।

हे शुद्ध चिदात्मराज! मैं तेरी निरन्तर आराधना करता हूँ जिन चरणों के आश्रय से मेरी अनुभवरूप परिणति की परम विशुद्धि (कर्मकलंक से रहित उत्कृष्ट विशुद्धि) निर्मलता हो।

सरागी मूर्तियो से जोडना-जोड़ना चलता है पर वीतरागता में छोडना-छोड़ना मात्र रहता है। अतः अब मैं भेदविज्ञान रूपी छेनी लिये शरीर पाषाण में से द्रव्य कर्म-नोकर्म-भाव को त्यागता हुआ शुद्ध चिन्मात्र-मूर्ति के दर्शन करता हूँ।

द्रव्यकर्म अरु भावकर्म अरु नोकर्मों से भिन्ना,<br>
शुद्धबुद्ध चिन्मात्र ये मूरत लिपटी कर्मरज लिन्ना।<br>
भेदविज्ञान की टांची लेकर कर्मकलंक को निकालो,<br>
शुद्ध चिदानंद चैतन्य मूरत के तुम दर्शन पा लो ॥ ८ ॥

**सूत्र—चैतन्यरत्नाकरस्वरूपोऽहम् ॥९॥**

**सूत्रार्थ**—मैं चैतन्य गुणरत्नों का आकर/समुद्र स्वरूप हूँ। अर्थात् मेरी आत्मा रत्नत्रय-अनन्तचतुष्टय आदि गुणों का खजाना रत्नाकर है। अथवा मेरी आत्मा में अनन्त गुणरूपी रत्न भरे हुए हैं।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक! चैतन्य रत्नाकर में डुबकी लगाओ, देखो तुम्हारा गुणो का खजाना आत्माराम अनन्त गुणों का स्वामी तुम्हारे पास है, तुम स्वयं तद्‌रूप हो—

आत्माराम गुणाकरं गुणनिधि **चैतन्य रत्नाकरं**।

मेरा आत्मा रत्नत्रय—सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है।

मेरा आत्मा अनन्त चतुष्टय का स्वामी है।

मैं उत्तमक्षमादि दस धर्म स्वरूप हूँ।

मैं त्रैलोक्याधिपति, त्रैलोक्यचूडामणि, त्रैलोक्येश्वर हूँ?

राग के उदय से आच्छादित अनादिकालीन भ्रम बुद्धि से आज तक मैने सोना-चाँदी-हीरा-पन्ना आदि पत्थर के टुकड़ों को ही रत्न माना, उसी से इस शरीर को सजाया। पर अब मुझे अचल विश्वास हो गया है कि इन पुद्‌गल के टुकड़ों को रत्न मानकर इनकी प्राप्त्यर्थ मैं रात-दिन परिश्रम करता रहा। ये मेरी शाश्वत रत्न-निधि को ठगने वाले हैं। इनमे अब मेरा राग उदय का अभाव हो गया है। अतः मैं अब अपने आत्मसमुद्र में रहने वाले गुणों रूपी शाश्वत रत्नों की प्राप्ति करता हूँ बाह्य क्षणिक पुद्‌गल पिण्डों का त्याग करता हूँ।

**( शिखरिणी )**

रत्नाकर चैतन्य, रतनत्रयनिधि का है धनी,<br>
लगाओ इसमें तो, डुबकी मिले जावे निधि तेरी।<br>
पथिक सुन लो अब तो रतन इसमें नंतनंता,<br>
लुटेरे लूटें ना बतावें वीर भगवन्ता ॥९॥

**सूत्र—चैतन्यामरद्रुमस्वरूपोऽहम् ॥१०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध चैतन्यमय अमर कल्पवृक्ष हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—कल्पवृक्ष किसे कहते हैं, सामान्य लक्षण बतलाइये?

**उत्तर**—भोगभूमि के समय वहाँ पर गाँव व नगरादि सब नहीं होते,

केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं, जो जुगलों को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुओं को दिया करते हैं। ( ति० प० ४।३४१ )

पाणंग तूरियंगा, भूसण-वत्थंग-भोयणंगा य।
आलय-दीविय-भायण-माला-तेजंग-आदि-कप्पतरू ॥ ( ति० प० ३४६।४ )

ये कल्पवृक्ष १० प्रकार के होते हैं—पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग।

( ति० प० )

पथिक ! ये मब सब कल्पवृक्ष पुण्यकर्म को अपेक्षा करते हैं अर्थात् पुण्यात्मा जीवो को ही अधिक से अधिक ३ पल्य तक मन की कल्पित वस्तुओं को देने में समर्थ हैं इससे आगे एक समय अधिक होने पर नही। ये कल्पवृक्ष जड़ है, पृथ्वीकाय हैं परन्तु हे पथिक तुम स्वयं शुद्ध चैतन्य अमर धर्मरूप कल्पवृक्ष हो। इस अमर कल्पवृक्ष में न पुण्य की अपेक्षा है, यह तो कर्म निरपेक्ष अर्थात् पुण्य-पाप रूपी चोरो के समाप्त होते ही अन्तरात्मा में सहज पुष्पित/विकसित होता है।

मैं मुक्तिराही समस्त कर्म प्रकृतियों/पुण्य-पाप के क्षय से उत्पन्न शुद्ध अभेद रत्नत्रय धर्मरूप अमर कल्पवृक्ष की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता हूँ, क्योंकि मैं निश्चय से तद्रूप हूँ। आश्चर्य है कि भोगभूमि के कल्पवृक्ष तो माँगने पर देते हैं, पर मेरा चिदानन्द धर्मरूप अमर कल्पवृक्ष बिना माँगे मब कुछ देता है—

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिन्ता रैन।
बिन जाँचे बिन चितये, धर्म सकल सुख दैन ॥

—बारह भावना

मै उमी रत्नत्रय धर्ममयी शुद्ध चैतन्य अमर कल्पवृक्ष की छाया को प्राप्त होता हूँ जो अविनाशी है, मतत भव्यात्माओं का रक्षक है, तथा बाह्य मर्व कल्पवृक्षों से माँगने का त्याग करता हूँ। क्योंकि मैं स्वयं अमर चैतन्य कल्पवृक्ष हूँ, फिर माँगना क्यों ?

( वसंततिलका )

हूँ रत्नत्रय धरम का मैं कल्पवृक्ष,
हूँ अमर शुद्ध चैतन्य न कोई अक्ष।
जो इष्ट वस्तु सबको अनुपम प्रदाता,
छाया उसी की गहता सब छोड़ नाता ॥१०॥

**सूत्र—चैतन्यामृताहारस्वरूपोऽहम् ॥११॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध चैतन्यमय अमृताहार करने वाला हूँ अथवा अमृताहार स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—अमृत क्या है ?

**उत्तर**—"सम्यक् ज्ञान अमृत है"।

**प्रश्न**—आहार किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—दस प्राण सहित जीव के प्राणों की रक्षार्थ जो ग्रहण किया जाता है उसे आहार कहते हैं।

**प्रश्न**—आहार कितने प्रकार का होता है ?

**उत्तर**—आहार के छह भेद आचार्यों ने कहे हैं—

> णोकम्मकम्महारो लेप्पाहारो य कवलमाहारो।
> उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥

—प्र० सा०/टी० ०/२०

नोकर्म आहार, कर्म आहार, लेप आहार, कवल आहार, ओज आहार और मानसिक आहार।

**प्रश्न**—शुद्ध चैतन्यात्मा का इन छह में से कौन सा आहार है ?

**उत्तर**—शुद्ध चैतन्यात्मा का इनमे से कोई आहार नहीं, अतः वह तो निराहार है।

**प्रश्न**—जब शुद्धात्मा का इनमें से कोई आहार नहीं है तो आहार कौन करता है ? क्या

**उत्तर**—क्या पुद्गल भोजन करता है ?

शुद्ध जीवात्मा कभी आहार/भोजन नहीं करता/यदि करता है तो सिद्ध भगवान् को भी भोजन होना चाहिये; जो कि असम्भव है। शुद्ध पुद्गल परमाणु अथवा पुद्गल जड़ है वह भी भोजन करता नहीं। यदि पुद्गल भोजन करे तो मुर्दे को भी भोजन करना चाहिये, पर मुर्दे को भोजन करते कभी देखा नहीं। आखिर भोजन कौन करता है ? जैसे हल्दी और चूना के संयोग से एक तीसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है वैसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न एक तीसरी ही संयोगजन्य अवस्था होती है वह आहार आदि को ग्रहण करती है।

निश्चय से मैं तो शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ, परद्रव्य के संयोग से रहित मेरा "चैतन्यामृत" ही आहार है कारण मैं ज्ञान-दर्शन का स्वामी हूँ। ज्ञानमय मेरी चैतन्यात्मा "ज्ञानामृताहार" से ही तृप्त है, उसे अन्य आहार से कोई प्रयोजन नही। मैं सतत ज्ञानामृत का पान करते हुए बाह्य छह प्रकार के आहार को छोड़ता हुआ, अपने स्वभाव में ही तृप्त रहता हूँ।

ज्ञानामृत का प्याला पीता, मेरा आतम घड़ी घड़ी।
है आहार ही सतत ये मेरा, छोड़ूँ इसको न एक घड़ी॥
पथिक ! न भटकूँ इधर-उधर अब, सत्यज्ञान की लगी लड़ी।
मुक्ति वधू मे नाता जोड़ूँ, मोक्ष महल से जुड़ी कड़ी॥११॥

**सूत्र—चैतन्यरसरसायनस्वरूपोऽहम् ॥१२॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध चैतन्य रूप रस से बने हुए रसायन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—रस कितने है ?

**उत्तर**—खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़वा, कसायला ये पाँच तथा एक आत्मा मे स्थित चैतन्यरस।

नीबू खट्टा रस रूप है, गन्ना मीठा रस रूप है, नीम कड़वा रस रूप है, मिर्च चरपरा रस रूप है तथा आँवला कसायला रस रूप है। ये सब पदार्थ अपने रस से तन्मय रूप रहते है, ठीक उसी प्रकार मेरा आत्मा चैतन्य रस रूप है और उसी चैतन्य रसमय हो, तन्मय रूप से रहता है।

खट्टा, मीठा आदि पञ्चरसो से बने पदार्थ/रसायन जड़ पुद्गल मय हैं और पुद्गल की ही पुष्टि करते हैं जब कि मेरा चैतन्यरस से बना ज्ञान-दर्शन रूपी आनन्द रसायन मेरे आत्मा को पुष्ट करता है। अतः मैं मुक्ति पथिक पुद्गल के पोषक जड़ रसों को त्यागता हूँ, उनमें गृद्धता को त्यागता हूँ और चैतन्य रस से पूर्ण आनन्द रसायन का पान करता हूँ।

रस के रसायन बना तुम खूब खावो,
होगी न तृप्त यह जिह्वा सच तो मानो।
चैतन्य शान्त सुध रसायन को जो चाखो,
आनन्दकन्द सुखनन्द सु मोक्ष पाओ॥१२॥

सूत्र—चैतन्यचिह्नस्वरूपोऽहम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—मैं शुद्धात्मा चैतन्य चिह्न स्वरूप हूँ।

विशेषार्थ—

प्रश्न—चिह्न किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसके द्वारा वस्तु की पहिचान होती है उसे चिह्न कहते हैं।

प्रश्न—शुद्ध जीव द्रव्य का चिह्न क्या है ?

उत्तर—शुद्ध जीव द्रव्य चैतन्य चिह्नमय है।

१. जीव कर्मों से बँधा हुआ है ऐसा एक (पर्यायार्थिक) नय का पक्ष है, और वह कर्मों से बद्ध नहीं है. यह द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। पक्षपात रहित भेदज्ञानी के शुद्धचैतन्य स्वरूप आत्मा चैतन्यस्वरूप ही अनुभव मे आता है।

२. पर्यायार्थिक नय कहता है जीव मोही है और द्रव्यार्थिक नय कहता है कि जीव मोही नही है। पक्षपात रहित तत्त्ववेत्ता के चित्स्वरूप जीव चैतन्यमय ही है अर्थात् उसे चैतन्यमय जीव जैसा है वैसा ही सदा अनुभवगोचर होता है।

३. जीव रागी है, द्वेषी है, कर्मों का कर्ता, कर्मों का भोक्ता है, चार प्राणों से जीने वाला मूर्तिक है, अनेक है आदि रूप व्यवहार नय का कथन है और जीव न रागी है, न द्वेषी है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न चार प्राणों से जीता है, न मूर्तिक है और न अनेक है ऐसा निश्चयनय का कथन है। इस प्रकार चैतन्यरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्ष हैं, लेकिन मैं मुक्तिराही पथिक, भेदविज्ञानी तत्त्ववेत्ता हूँ। मुझे नित्य ही चित्स्वभावी जीव चित्स्वरूप ही अनुभव में आता है!

अतः मैं चैतन्यचिह्न से अलंकृत शुद्धात्मा हूँ—

चैतन्य चिह्नयुत आतमा मम, शुद्ध बुद्ध अखंड है,<br>
नय प्रमाण निक्षेप का जहाँ, कोई भेद न खंड है।<br>
अमर ज्योति चिन्मयी मम, चिद् चिदानंद भासती,<br>
वो प्रगट होवे हृदय में, ज्ञान केवल शाश्वती ॥१३॥

**सूत्र—चैतन्यकल्याणवृक्षस्वरूपोऽहम् ॥१४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं चैतन्य कल्याणवृक्ष स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

हे आत्मन्! इस जीव ने अनादिकाल से कर्मवृक्ष की छाया को पकड़ कर रखा। उन्ही कर्मों के अच्छे-बुरे विपाक, हर्ष-विषाद करता रहा। कर्मवृक्ष सामान्य से एक और द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म रूप से तीन प्रकार के तथा मूल कर्मों की अपेक्षा आठ प्रकार के व उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा कर्मवृक्ष १४८ प्रकार का है।

"आठ कर्मों के बीच अकेली आत्मा"

फिर भी अनन्तशक्तिशाली है। उसकी चाह करो, उसी की गहन छाया की प्राप्ति करो। पथिक! विचार करो संसार के दुःखों से छूटने के लिये कौन-सी छाया चाहिये।

जिसका प्रीति-अप्रीति से रहित शाश्वत स्थान है, जो सर्व प्रकार के आत्मिक सुख से निर्मित निराकार है, जो चैतन्य रूप अमृत फलों से पूर्ण लदा है, ऐसा चैतन्य कल्याणवृक्ष मेरा स्वरूप है। मेरा चैतन्य कल्याण-वृक्ष—ज्ञानरूपी आम्रफल, दर्शनरूपी नारिकेल फल व सुख, सत्ता, चैतन्य, बोधादि अमृत फलों से गहन छायादार फला हुआ है। मैंने आज तक उसकी शरण नहीं ली, आज मैं चैतन्य कल्याणवृक्ष की गहन छाया का आश्रय लेता हूँ। कर्मवृक्ष की छाया या उसके आश्रय का त्याग करता हूं। कर्मवृक्ष की छाया अनन्त संसार के दुःखों का हेतु है, मुक्ति-महल की अर्गला है, जबकि मेरे चैतन्य कल्याणवृक्ष की छाया संसार के दुःखो से संतप्त जीवों को अनन्त सुख-शान्ति को देने वाली तथा चिर-काल भ्रमण की थकान को दूर करने वाली है। एक पुद्गल की पर्याय है, दूसरी चैतन्यशक्ति है। मैं अब चैतन्य को छोड़कर पुद्गल के पीछे एक समय भी बर्बाद नही करता हुआ चैतन्य कल्याणतरु की गहरी छाया मे अनन्तकाल के लिये विश्राम लेता हूँ।

कर्मवृक्ष की छाया में तू पथिक! अभी तक भटक रहा,
जितना उसके पास गया तू, उतना ही जग अटक रहा।
तेरा चैतन्य कल्याणवृक्ष है, इसकी छाया को गह ले,
अनन्त सुख की छाया पाकर, मुक्ति महल में वास करे ॥१४॥

**सूत्र—चैतन्यपुञ्जस्वरूपोऽहम् ॥ १५ ॥**

**सूत्रार्थ—मैं शुद्धात्मा चैतन्यपुञ्ज स्वरूप हूँ।**

**विशेषार्थ—**

यह जीव चित्शक्ति-ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों से व्याप्त सर्व-स्वसारभूत इतना मात्र ही है अर्थात् जीव द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है इसके प्रत्येक प्रदेश में चैतन्य शक्ति अनवरत प्रवाहित[1] है। अतः मैं चैतन्य पुञ्ज-स्वरूप हूँ।

जब मैं सतत अखण्ड ज्ञान पुञ्ज/चैतन्य पुञ्ज का आश्रय करता हूँ तब शुद्धनय का अवलंबन करते ही संसार के दुःखरूप जन्म-मरण, कुल, योनि आदि विकल्पों को नहीं करता हूँ। बल्कि निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर निर्दोष चिन्मात्र, चैतन्यपुञ्ज भगवान् आत्मा को प्राप्त कर लेता हूँ।

अतः मैं मुक्ति पथिक अब चैतन्यपुञ्ज शुद्धात्मा से भिन्न सकल विभाव भावों को छोड़कर और चैतन्य शक्ति मात्र अपनी आत्मा को स्पष्टतया अवगाहन करके आत्मा साक्षात् विश्व के ऊपर स्फुरायमान होते हुए परम उत्कृष्ट अनन्तरूप आत्मा को अपनी आत्मा में अनुभव करने का परम पुरुषार्थ करता हूँ।

चैतन्यपुञ्ज सुअखंड ये जीव म्हारा,
अविभागीअंश[1] चिज्ज्योतिर्मय पिटारा।
रहता प्रकाशित मणिसम ज्ञानधारा,
लेना जो आश्रय उसे भवसिन्धु तारा ॥ १५ ॥

**सूत्र—ज्ञानज्योतिस्वरूपोऽहम् ॥ १६ ॥**

सूत्रार्थ—समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली ज्योति केवलज्ञान ज्योति वह मेरा स्वरूप है। निश्चय से मैं तद्रूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

श्री अमृतचन्द्राचार्य अमृतकलश में लिखते हैं—

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वाबलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥ ११२ ॥

—अमृत कलश

१. जीव का अविभागी प्रदेश भी चैतन्ययुक्त है।

**अर्थ**—यह जीव मोहरूपी मदिरा को पीने से भ्रान्तिरस ( ममकार अहंकार ) के वेग से पुण्य-पाप रूप कर्मों के भेदरूपी उन्माद से ( मनुष्य-तिर्यञ्च गति आदि योनियों में ) नाचता है। ऐसे प्रकृति प्रदेशादि चार स्वभाव रूप समस्त कर्म को ध्यान के बल से जड़मूल से उखाड़कर अत्यंत सामर्थ्यशाली अखंड ज्ञानज्योति प्रकट हुई है, वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि जिसने अज्ञानरूपी अंधकार का नाश कर दिया है, तथा लीलामात्र से ( परमपुरुषार्थ से ) विकासरूपी होती जाती है और जिसने परिपूर्णता को प्राप्त ऐसे केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है, ऐसी वह ज्ञानज्योति है। ( जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तब तक तो वह ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय से परोक्षरूप से क्रीड़ा करती है और पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर प्रत्यक्ष रूप से क्रीड़ा करती है )।

[ आर्यिका आदिमतीजी कृत हिन्दी अर्थ ]

हे पथिक ! तुम्हारा आत्मा ज्ञानज्योति स्वभाव वाला है पर कर्मों से आच्छादित हुआ, बंधों के घिराव मे पड़ा हुआ है उसके लिये परमपुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थी जीव ही ध्यान के बल से कर्मों के बन्धन को काटकर ज्ञानज्योति को प्रकट करता है। अतः अब मै सम्यग्ज्ञानी हुआ, प्रत्यक्ष ज्ञानज्योति/पूर्ण केवलज्ञान को अपने आत्मा मे साक्षात् प्रकट करने का अभ्यास करता हूँ।

मैं चैतन्य, ज्ञानज्योतिमय, केवलज्ञान प्रकटाऊँगा,
लोकालोक चराचर देखूँ, परम पुरुषार्थ जगाऊँगा ॥
तीनलोक का शिरोमणि बन, ऐसा ध्यान लगाऊँगा।
घाति अघाति सरव क्षय करके, मुक्तिपुरी को जाऊँगा ॥ १६ ॥

**सूत्र—ज्ञानामृतप्रवाहस्वरूपोऽहम् ॥ १७ ॥**

**सूत्रार्थ**—मेरी आत्मा मे निश्चय से सतत ज्ञानामृत का प्रभाव हो रहा है, मैं उस ज्ञानामृन प्रवाह स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

हे पथिक ! तुम्हारे चैतन्य में ज्ञानामृत का प्रवाह सतत प्रवाहित है, तुम पुरुषार्थ कर उसकी प्राप्ति करो। तुम निश्चय से तद्रूप हो।

**प्रश्न**—अखंड ज्ञान प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—क्रोधादिकषाय, इन्द्रिय विषय, विकथादि के समूहरूप भार से

भारी होने पर आलस्य होता है। आलस्य ही प्रमाद कहलाता है। अतः परद्रव्य में राग-द्वेष बुद्धि का त्यागकर, प्रमाद अवस्था का त्याग करो। प्रमादयुक्त आलस्य भाव शुद्ध भाव नहीं हो सकता और जहाँ शुद्ध भाव नहीं, वहाँ अखण्ड ज्ञानामृत का प्रवाह प्रवाहित नहीं हो सकता।

कलशकाव्य में आचार्यश्री लिखते हैं—

> त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं,
> स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
> बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छलच्-
> चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९१॥
>
> —अमृत-कलश

जो पुरुष निश्चय से अशुद्धता के करने वाले सब परद्रव्यों को छोड़कर आप अपने निजद्रव्य में लीन होता है वह पुरुष नियम से अपराधों से रहित हुआ बन्ध के नाश को प्राप्त होने से नित्य उदय रूप हुआ। अपने स्वरूप के प्रकाशरूप ज्योति में निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृत प्रवाह/ज्ञानामृत प्रवाह में प्रवाहित हुआ मुक्तावस्था को प्राप्त होता है।

मैं मुक्ति पथिक क्रोधादि कषायों व विकथाओं में रुचि का त्यागकर ज्ञानामृत प्रवाह में डुबकी लगाने का पुरुषार्थ करता हूँ।

> परद्रव्यन की प्रीति से, बढ़ता सदा प्रमाद।
> इनको त्यागो पथिक तुम, बहता ज्ञान प्रवाह ॥१७॥

## सूत्र—ज्ञानार्णवस्वरूपोऽहम् ॥१८॥

**सूत्रार्थ**—मेरा आत्मा ज्ञानसमुद्र स्वरूप है। अथवा मैं अखण्ड ज्ञान-समुद्र स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

पथिक! यह आत्मा ज्ञान का समुद्र है। जैसे बहुत से जल से भरा समुद्र है उसमें छोटी-बड़ी अनेक लहरें उठा करती हैं वे सब लहरें एक जल रूप ही हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा ज्ञानार्णव/ज्ञानसमुद्र है, एक ही है इसमें अनन्तगुण हैं। कर्म निमित्त से ज्ञान मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय और केवल आदि अनेक भेद रूप से स्वयं आत्मा में ही व्यक्त हो प्रकट होता, फिर भी वे ज्ञान की विभिन्न प्रकट अवस्थाएँ एक ज्ञान रूप ही

जाननी चाहिये। आत्मा उन्हे खण्ड-खण्ड अनुभव नही करता। इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य जी ने कलशकाव्य में लिखा है—

> आच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो.
> निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
> यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकी भवन्,
> वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥
>
> —अमृत-कलश

समस्त ज्ञेय पदार्थो के समूहरूपी रस को पी लेने की (अनुभव करने की) अतिशयता से जो मानो उन्मत्त है जिसका निर्मल से निर्मल पदार्थों का वेदन करने वाला ज्ञान विशेष (अनुभव गोचर ज्ञान की मतिज्ञानादि पर्यायें) स्वयमेव ही उछलता है, वह यह भगवान् आत्मा अभूतपूर्व-अद्भुतनिधि (ज्ञानादिरूप) वाला चैतन्य रत्नाकर (ज्ञानार्णव/ज्ञानसमुद्र) ज्ञान की पर्यायरूपी तरगो के साथ जिसका रस (अनुभव) अभिन्न है ऐसा एक (आत्मा सामान्यरूप) होने पर भी अनेक मतिश्रुतादि ज्ञानरूप होता हुआ, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के द्वारा उछलता है। (अर्थात् आत्मा एक ज्ञान जल से भरा विशाल समुद्र है परन्तु कर्मोदयवशात् तरगो के समान ज्ञान के अनेक भेद स्वयमेव प्रकट होते हैं।)

> जल के समुद्र उठती जल की तरगें,
> वे हैं अभिन्न जल से जल की उमगें।
> कर्मोदयात् यदि जो उठती ज्ञान लहरे,
> वे है तरग निज की निज मे उमंगें ॥१८॥

## सूत्र—निरुपमलेप स्वरूपोऽहम् ॥१९॥

**सूत्रार्थ**—मेरा आतमा उपमातीत गुणों से लेप से लिप्त है। मै तत्स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक! तुम्हारा प्रभु परमात्मा/शुद्धात्मा उपमातीत गुणो के लेप से लिप्त है। उपमातीत गुणो का स्वामीपना उसका स्वभाव है। तुम्हारे स्वगुणो पर जो आच्छादन है उनको हटाकर स्वगुणों को प्रकाशित करने का परम पुरुषार्थ करो।

**प्रश्न**—उपमातीत गुणो का प्रकाश कैसे हो?

उत्तर—शुद्धात्मा के उपमातीत गुणों को रत्नत्रय सूर्य के तेज किरणों से प्रकाश में लाया जा सकता है। सम्यक् या क्षायिकज्ञान के द्वारा ज्ञानावरण का लेप दूर हो। तथा अनन्त क्षायिकज्ञान गुण प्रकट हो। क्षायिकदर्शन गुण के द्वारा दर्शनावरण कर्म दूर हो, अनन्तसुख गुण के द्वारा मोहनीय का क्षय हो, अनन्तवीर्य गुण के द्वारा अन्तराय कर्म का क्षय हो, अव्याबाध गुण के द्वारा वेदनीय कर्म का क्षय हो, अवगाहन गुण के द्वारा आयु कर्म क्षय हो, सूक्ष्मत्व् गुण के द्वारा नाम कर्म का क्षय हो तथा अगुरुलघु गुण के द्वारा गोत्र कर्म का क्षय हो। कर्मों से आच्छादित आत्मा चारित्र व तप की आराधना से ही उपमातीत गुणों का प्रकाशन कर पाता है।

पथिक ! कर्मों का वृक्ष सूखते ही अन्दर देखो, तुम्हारा चिदानन्द चैतन्य शुद्धात्मा निरूपम गुणों के लेप से लिप्त है।

दर्शन जु ज्ञान अरु सुख अनन्त जानो,
है निराबाध अवगाह गुरु लघु बखानो।
सूक्ष्म सुवीरज अनन्तों गुण अनूपा,
लिप्त हुआ सु मम आतम एक भूपा ॥१९॥

**सूत्र—निरवद्यस्वरूपोऽहम् ॥२०॥**

सूत्रार्थ—मेरा आत्मा पाप रहित निष्पाप अथवा सावद्य रहित है। मैं निरवद्य स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

प्रश्न—सावद्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—पाप सहित परिणाम को सावद्य कहते हैं। जैसे—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, ख्याति, पूजा, लाभ, दृष्टश्रुत-अनुभूत भोगाकांक्षा रूप निदान, माया-मिथ्या, रस-गारव-ऋद्धि-गारव, सातगारव, दडत्रय आदि विभावपरिणाम पाप परिणाम हैं, सावद्य परिणाम हैं।

मुक्ति पथिक ! निरन्तर भावना करो—हिंसादि पाप परिणाम मेरा स्वभाव नहीं है, मैं निरवद्यस्वरूप हूँ। राग-द्वेष-क्रोधादि विभावपरिणति मेरा स्वभाव नहीं है, मैं इनसे भिन्न निरवद्य स्वरूप हूँ। ख्याति-पूजा लाभ-निदान-त्रय गारव-त्रय दंड आदि सावद्य परिणाम मेरा स्वभाव नहीं हैं, मैं निरवद्य स्वरूप हूँ।

पाप रागादिक कहे, क्रोध लोभ अरु मान।
इनमें चेतन है नहीं, मैं निरवद्य महान् ॥२०॥

**सूत्र—शुद्धचिन्मात्र स्वरूपोऽहम् ॥२१॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्धचिन्मात्र स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

पथिक! शुद्धात्मा स्वरूप तुम्हारी चैतन्य आत्मा है। इस चैतन्य आत्मा के प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग बंध नही, मोक्ष भी नही। गुण-स्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा आदि कुछ भी इसमें नही हैं। रागादि विभाव परिणाम, अध्यवसान स्थान भी मुझमें नही। रोग-शोक-आधि-व्याधि-उपाधि मे भी मेरा स्वरूप नही है। आर्त्त-रौद्र ध्यान भी मेरा स्वरूप नही है।

फिर मै कौन हूँ?

मै सर्व परद्रव्य; परभावों से भिन्न, अनन्त शक्ति का धारक, ज्ञान-मूर्ति, **शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप** मात्र ज्ञायक हूँ।

चिदानन्द चैतन्यपति, शुद्धातम सुखकार।
पर परिणति से भिन्न है, ज्ञायक यह अविकार ॥२१॥

**सूत्र—शुद्धाखण्डैकमूर्तस्वरूपोऽहम् ॥२२॥**

**सूत्रार्थ**—मै शुद्ध-अखण्ड-एक-मूर्ति स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**

मेरा शुद्ध चैतन्य आत्मा शुद्ध है, ज्ञेयाकार वस्तुओं के अवलम्बन से भी खण्डित नही होता, एक है और मूर्ति स्वरूप है।

**प्रश्न**—जब आत्मा शुद्ध है और फिर उसे शुद्ध करने के लिये रत्न-त्रय की आराधना आदि रूप पुरुषार्थ की आवश्यकता ही क्या है?

**उत्तर**—ऐसा नही। कपड़ा स्वभाव से सफेद है, उस पर धूलि आदि लग जाने से वह मैला हो जाता है, बुद्धिमान पुरुष उस कपड़े को पानी, साबुन आदि के प्रयोग द्वारा धोकर पुन: सफेद/स्वच्छ कर उसका उपयोग करता है। ठीक उसी प्रकार यह चैतन्यात्मा स्वभाव से निर्मल है/शुद्ध है विमल है परन्तु द्रव्यकर्म-भावकर्म व नोकर्म रूपी धूलि लगने से अनादि/

से मैला का मैला ही बना रहा। कारण कभी इसने सम्यग्ज्ञानी बनकर भेदविज्ञान रूपी साबुन व समतारूपी जल लेकर इस आत्मा पर लगी गन्दगी को छुडाया नहीं। इसी कारण आचार्य संबोधन देते हैं। हे आत्मन् ! तुम यद्यपि स्वभाव से शुद्ध हो, पर ये जो द्रव्यादि कर्म धूलिवत् तुम्हारे साथ चिपट रहे हैं उन्हें धोए बिना शुद्ध स्वभाव नहीं प्राप्त होगा। अतः शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये रत्नत्रय की आराधना आवश्यक है।

भेदविज्ञान साबुन भयो समरस निरमल नीर।
धोबी अन्तर आतमा धोवे निजगुण चीर ॥

—हि. स. सा.

मेरा चैतन्य प्रभु अखण्ड है।

**प्रश्न**—आत्मा तो असंख्यातप्रदेशी है; फिर वह अखंड कैसे ?

**उत्तर**—असख्यातप्रदेशी भी आत्मा भेद रूप नहीं, वह अखंड है। जैसे लवण की कंकड़ी अन्य द्रव्यों के संयोग के अभाव से केवल लवणमात्र अनुभव किये जाने पर एक लवणरस ही सर्वतः क्षाररूप से स्वाद में आता है, उसी तरह आत्मा भी परद्रव्य के संयोग से भिन्न केवल एकभाव से अनुभव करने पर सब तरफ से एक अखड विज्ञानघन स्वभाव के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। ज्ञानी ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं। वे एकाकार ज्ञेयों से भिन्न ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं। क्योंकि ज्ञान है, वही आत्मा है और आत्मा है वही ज्ञान है। वह ज्ञान रूप तेज "अखण्डित' है जो ज्ञेयों के आकार से खंडित नही होता। अतः मेरा शुद्धात्मा "**अखण्डित**" है।

शुद्धात्मा एक है।

पथिक ! यह शुद्धात्मा कैसा है ?—"**एषः ज्ञानघनः आत्मा एकः**" यह ज्ञानस्वभावी आत्मा एक है, अद्वितीय है। प्रमाण दृष्टि से देखा जावे तो यह आत्मा युगपत् अनेक अवस्थारूप भी है और एक अवस्थारूप भी है, क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से इसके तीन पना है तथापि स्वरूप की अपेक्षा इसके एकपना है।

आत्मा एक चैतन्य स्वभावी है, तथा व्यवहार दृष्टि से देखें तो (त्रिस्वभावी) दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन भाव रूप परिणमन करने से अनेकाकार है।

शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखने पर आत्मा प्रकट ज्ञायकत्व ज्योतिरूप से

आत्मा एक रूप है, क्योंकि शुद्धनय से सर्व अन्य पदार्थों के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होने वाले विभावों को पृथक् करने रूप स्वभाव होने से वह अमेचक है।

मुक्ति पथिक ! यह आत्मा भेदरूप, अनेकाकार अशुद्ध है तथा अभेद रूप एकाकार शुद्ध है, ऐसी चिन्ता या विकल्पो को छोड़ दो। आत्मस्वरूप की सिद्धि तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही होती है अतः इस रत्नत्रय की आराधना करो।

मैं शुद्धात्मा मूर्तिस्वरूप हूँ।

मैं मुक्ति पथिक ! सम्यग्दृष्टि, सामान्य और विशेष सभी परभावो से भिन्न होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्मा के तत्त्व को अच्छी तरह जानता हुआ स्वभाव का ग्रहण और परभाव का त्याग कर, उत्पन्न हुए अपने वस्तुपने को फैलाता हुआ कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न हुए जो भाव, उन सबको छोड़ता हुआ मूर्तिस्वरूप हूँ।

निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितम्।
परमानन्दसम्पन्नं शुद्ध चैतन्य लक्षणम्॥ ३॥

—प० स्तो०

इदं ज्ञानं रूपं स्वयं तत्त्ववेदी,
न पूर्णं न शून्यं न चैत्यं स्वरूपी।
न चान्यो न भिन्नं न परमार्थमेकम्,
चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्॥ ८॥

—वी० स्तो०

शुद्ध हूँ मैं इक अखण्ड मूर्तिमत् परमातमा,
रूप मेरा है नही, मै सदा शुद्धातमा।
ज्ञेय झलकें ज्ञान में, कितने ही आ इक साथ में,
पर न खण्डित कर सके वे, हूँ अखण्ड शुद्धातमा॥ २०

**सूत्र—अनन्तज्ञान स्वरूपोऽहम्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्तज्ञान स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—अनन्त किसे कहते है ?

**उत्तर**—न अन्त इति अनन्त—जिसका कभी अन्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं।

हे पथिक ! मुक्तिराही तुम अनन्तज्ञान स्वरूप हो।

**प्रश्न**—अनन्तज्ञान किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—क्षायिकज्ञान को अनन्तज्ञान कहते हैं। जो असहाय है अर्थात् इन्द्रियों की सहायता से रहित पूर्ण स्वतन्त्र आत्मा का सहज स्वभाव है।

अनेकानेक विपत्तियाँ आने पर भी क्षायिकज्ञान पर कभी आवरण नही हो सकता। मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्ययज्ञान इनमे तुम्हारा स्वभाव नही। ये ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाली विभिन्न ज्ञानपर्यायें हैं। ज्ञानावरण कर्म के आत्यन्तिक क्षय से होने वाला अनन्त ज्ञान/क्षायिकज्ञान अथवा केवलज्ञान यही मेरा सच्चा स्वरूप है। मै मुक्ति पथिक अनन्तज्ञान के बाधक विभाव परिणामो—प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात का त्याग करता हूँ तथा केवलज्ञान/अपने स्वभाव को प्राप्त करने का परम पुरुषार्थ करता हूँ।

> क्षायोपशमिक ज्ञान के, साधन बहु जगमाँहि।
> अनन्तक्षायिक ज्ञान को, रत्नत्रय हितकार ॥ २३ ॥

**सूत्र—अनन्तदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥ २४ ॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्तदर्शन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—अनन्तदर्शन किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से होने वाले विशुद्ध परिणाम अथवा जीव की विशुद्धता को अनन्त दर्शन कहते हैं। अनन्त दर्शन का ही दूसरा नाम केवल-दर्शन है।

हे पथिक ! चक्षुदर्शन–चक्षु इन्द्रिय की सहायता से होता है, अचक्षु-दर्शन–चक्षु-इन्द्रिय के अलावा अन्य इन्द्रियों को अपेक्षा रखता है, अवधि-दर्शन–अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है। ये सब निश्चय से मेरे स्वभाव नहीं हैं, कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले क्षायोपशमिक भाव हैं। केवलदर्शन परद्रव्य की अपेक्षा रहित क्षायिक भाव है, जो मेरा अपना निज स्वभाव है। मैं चैतन्य केवलदर्शन स्वरूप हूँ।

मम आतमा में अनन्तदर्शन का, सुनिर्झर बह रहा।
दर्श ज्ञानावरण क्षय हो, तब मिले वह सुख अहा॥
आनन्दकन्द चैतन्य पिण्ड यह, दर्शन ज्ञान स्वभावी।
कर्मों का क्षय करके तो प्रभु, मुक्तिपुरी का वासी॥ २४॥

अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन चैतन्य का स्वभाव है। कर्मों के आचरण में ज्ञान-दर्शन की क्रमशः प्रवृत्ति होती है। ज्ञान विशेष है, दर्शन सामान्य है परन्तु कर्मों का क्षय होते ही क्षायिक दर्शन व ज्ञान युगपत् प्रवृत्ति करते हैं। युगपत् प्रवृत्ति ही ( दर्शनज्ञानकी ) मेरा स्वभाव है, मैं तद्रूप हूँ। उसी को व्यक्त करने की प्रतीति व पुरुषार्थ करता हूँ।

**सूत्र—अनन्तसुख स्वरूपोऽहम् ॥ २५ ॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—सुख किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—आत्मा की आह्लादरूप अवस्था को सुख कहते हैं।

**प्रश्न**—आत्मा का हित क्या है ?

**उत्तर**—आत्मा का अनन्त स्वभाव है उसकी प्राप्ति करना आत्मा का हित है।

**प्रश्न**—आत्मसुख कैसा है ?

**उत्तर**—"आकुलता बिन" आत्मा का अनन्त सुख आकुलता से रहित है। जिस सुख के साथ कभी दुःख का लेश नही, वही आत्मा का अनन्त सुख है।

हे पथिक ! तुम स्वयं उस अनन्त सुख के स्वामी हो, परन्तु वर्तमान में उस सुख से वंचित हो रहे हो। मोहनीय कर्म ने तुम्हारे अनन्त सुख को आच्छादित कर रखा है। मोहनीय कर्म का क्षय होते ही वह "अनन्त-सुख" स्वयं मे स्वयं से प्राप्त होगा। सर्वप्रथम अनन्त सुख/शाश्वत/अजर-अमर सुख की प्राप्ति के लिये—

मैं परद्रव्य में ममत्व का त्याग करता हूँ, परद्रव्य में प्रीति विभाव परिणति है। इन्द्रियों से उत्पन्न सुख सुखाभास हैं उनके पीछे दुःखों का साम्राज्य संसार जाल है। यह आतमसुख अतीन्द्रिय है, अनन्त है, मेरी

स्वाभाविक अवस्था है। अतः मैं क्षणिक सुखों में राग बुद्धि का त्याग कर, शाश्वत सुख की प्राप्ति हेतु वीतरागता की शरण को प्राप्त होता हूँ।

हे सुख अनन्त अद्भुत निज आतमा में,
कैसा भरा यह सुधाघट शाशता में।
ये सुखाभास जन में तुमको डुबावे,
क्षायिक अनन्त सुख मुक्तिपुरी ले जावे ॥२५॥

हे भव्यात्मन्! तू सदाकाल इस ज्ञानमयी शुद्धात्मा मे रुचि से लीन हो और इसी में हमेशा सन्तुष्ट हो, अन्य कोई कल्याणकारी नहीं है और इसी से तृप्त हो, अन्य कुछ इच्छा न रहे; ऐसा अनुभव करने से तुझे अक्षय/अनन्त सुख प्राप्त होगा। इसी सुख की भावना प्रतिदिन करना चाहिये।

**सूत्र—अनन्तशक्तिस्वरूपोऽहम् ॥२६॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्त शक्ति स्वरूप हूँ।

निश्चय से मेरा यह चैतन्य आत्मा अनन्त शक्ति का स्वामी है।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—फिर वह शक्ति अभी व्यक्त क्यों नहीं है?

**उत्तर**—हे आत्मन्! अन्तराय कर्म के आच्छादन से यह शक्ति वर्तमान में प्रकट नही है। कर्मावरण हटते ही, तू अनुभव करेगा, तू अनन्तशक्ति स्वरूप है।

**"अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवः"**

हे पथिक! आत्मा स्वयं अनन्त/शक्ति स्वरूप, स्वयमेव देव है। इसमें ऐसी शक्ति है जो छद्मस्थ के विचार में नहीं आ सकती। तात्पर्य यह कि ज्ञानमूर्ति आत्मा अनन्तशक्ति का धारक वांछित कार्य की सिद्धि करने वाला आप ही देव है इसलिये सब प्रयोजन के सिद्ध करने वाले ज्ञानी के अन्य परिग्रह के सेवन करने से क्या साध्य है? कुछ नहीं।

आत्मस्वरूप/आत्मशक्ति की व्यक्ति हो जाने पर अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह से ज्ञानी के क्या प्रयोजन? कुछ नहीं।

अनन्त शक्ति के व्यक्त होने में बाधक कारण है दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य में अन्तराय डालना है। जबतक इस कर्म का आस्रव नहीं रुकेगा तब तक पूर्वबद्ध कर्म की संवर निर्जरा भी नहीं होगी, अतः मैं ज्ञानी

आत्मा अनन्तशक्ति के बाधक कारणों का त्याग करता हूँ। अन्तराय कर्मबन्ध या आस्रव के कारणभूत परिणामों को मैं अब अपने में कभी नहीं आने दूँगा। ये विभाव/विकृत परिणाम मेरा स्वभाव नहीं है। मैं विभाव का त्याग करता हूँ, स्वभाव को व्यक्त करने का पुरुषार्थ करता हूँ।

है अचिन्त्यशक्ती आतम में, सभी कार्य हो जाते सिद्ध।
स्वयं देव जब बसा हृदय में, कौन कार्य जो हो अवरुद्ध॥
बाह्य परिग्रह से क्या मतलब, जब आतम हो केवल बुद्ध।
पथिक अनन्तशक्ति को समझो, जो होना हो परम विशुद्ध॥२६॥

सूत्र नं० २३-२४-२५-२६ का मूल सारांश इस प्रकार है—सादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भुत व्यवहारनय की अपेक्षा से शुद्ध, स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गल परमाणु के सदृश "केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य से युक्त जो परमात्मा है वह मैं ही हूँ। मुक्तिपथिक सम्यग्ज्ञानी को इस प्रकार से भावना प्रतिदिन करना चाहिये। यहाँ तात्पर्य है कि निश्चयनय से मैं अनन्त/क्षायिक ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति स्वरूप हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिये।

**सूत्र—सहजानन्दस्वरूपोऽहम् ॥२७॥**

**सूत्रार्थ** - मै सहज/स्वाभाविक आत्मा से उत्पन्न आनन्द स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—सहजानन्द किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—आत्मा की सहज शुद्ध अवस्था जहाँ परद्रव्य का राग अथवा परद्रव्य के संयोग का भी अभाव है ऐसा सहज चैतन्य आनन्द जो वचनातीत है "सहजानन्द" है।

पथिक ! निश्चयनय से प्रत्येक जीवात्मा मे सहजानन्द अवस्था अव्यक्त रूप मे विद्यमान है, तुम्हारा चैतन्य भी उसी सहजानन्द का स्वामी है, पर बस व्यक्त करने की आवश्यकता है।

**प्रश्न**—सहजानन्द की व्यक्ति/प्रकट किसके होती है ?

**उत्तर**—जो चेतन आत्मा अपनी शुद्धात्मा में ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप निश्चयरत्नत्रयमय भावना के बल से शुभ, अशुभ कर्मों से उपार्जित हुए परिणाम स्वरूप बाह्य द्रव्यों के विषयों में मोह-ममता नहीं

रखता है, बाह्य पदार्थों से जिसका विचार दूर हटा हुआ है ऐसा शुद्धात्मा में तल्लीन रहने वाला सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव ही सहजानन्द को व्यक्त कर उसका रसास्वादन करता है।

अर्थात् त्रिगुप्तिगुप्त परम समाधि में निरत रहता मुनि ही वास्तव में सहजानन्द को प्रकट करता है।

पथिक ! मेरा आत्मा स्वयं निश्चयनय से सहजानन्द स्वरूप है उसको व्यक्त करने के लिये मैं रत्नत्रय की भावना करता हूँ, परमसमाधि की चाहना करता हूँ तथा दिगम्बर मुनि अवस्था प्राप्त करने की भावना करता हूँ क्योंकि बिना मुनि मुद्रा धारण किये मेरा सहजानन्दी स्वरूप कभी व्यक्त हो नही सकता।

आनन्द सहजानन्दरूपा, एक आतमराम है।
दुःख नहीं वहाँ सुख नही, अरु पुण्य पाप हराम हैं॥
उसका करो आस्वाद भैय्या, जो सहज अभिराम है।
माया ममता से निराला, सहज सुख का धाम है॥२७॥

**सूत्र—परमानन्द स्वरूपोऽहम् ॥२८॥**

सूत्रार्थ—मै शुद्धात्मा परम आनन्द स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

पथिक ! मेरा आत्मा परमानन्द स्वरूप है। मेरा परमानन्द अभी व्यक्त नहीं हो पाया सो क्या कारण है ?

हे आत्मन् ! अनादिकाल से अपने आपको मिथ्यात्व, रागादि उन्मार्ग से बचाकर तुमने एक बार भी रत्नत्रय मार्ग में स्थापित नहीं किया। इसी कारण अभी तक परमानन्द स्वरूप आत्मा का आनन्द व्यक्त नहीं कर पाया।

मैं अब मिथ्यात्व, रागादि विकल्प जाल रूप उन्मार्ग से हटकर अपने को अपने में स्थापित करता हूँ।

परम आनन्द सहित आतम, शुद्ध शान्त अनूप है।
दर्श पाता वह नहीं जो ध्यानहीन मनुष्य है॥२८॥

**सूत्र—परम ज्ञानानन्द स्वरूपोऽहम् ॥२९॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा शुद्धात्मा परम ज्ञानानन्द स्वरूप है अथवा मैं परम-ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

पथिक ! चैतन्य आत्मा परम ज्ञानानन्द स्वभाव का धारी है निश्चय-नय से। उस स्वभाव को व्यक्त करने का पुरुषार्थ करो। यह मानव देह में ही हो सकता है, अन्यत्र नही।

**प्रश्न**—परमानन्द ज्ञान किस जीव को व्यक्त होता है ?

**उत्तर**—स्वसंवेदनज्ञानी त्रिगुप्ति धारी जीव हर्ष-विषादादि विकल्प-भावों की झंझट से रहित होता हुआ सभी द्रव्यों के प्रति होने वाले रागादिक विभावपरिणामो का त्यागी होता है इसलिये वह कीचड़ में पड़े हुए सोने की तरह नवीनकर्म से लिप्त नही होता। वही स्वसंवेदन ज्ञानी परमानन्द ज्ञान को व्यक्त करता है।

हे पथिक ! यही परमानन्द ज्ञान मेरा स्वरूप है। परद्रव्यों में मेरा कोई नाता नहीं। परद्रव्य भिन्न है, मैं भिन्न हूँ। मैं परमानन्द स्वरूप हूँ, जो दशा स्वसंवेदनज्ञानी की है, वही मैं हूँ। कब मैं उस परम ज्ञानानंद की अनुभूति को प्राप्त करूँगा, ऐसी भावना प्रतिदिन करनी चाहिये।

> परम ज्ञानानन्दमयी, शुद्ध चेतन अभिराम।
> पाता इसको है वही, धरता जो निज ध्यान ॥२९॥

**सूत्र—सदानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सदा आनन्द स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

पथिक ! निश्चय से जब शुद्धात्मा सदा आनन्दपुञ्ज है, आनन्दमयी है, फिर वर्तमान में तू दुखी क्यों ?

दुखों का मूल कारण परिग्रह है, परिग्रहपिशाच ही तेरे शाश्वत आनन्द का बाधक है उसे छोड़—

> मुञ्च परिग्रहवृन्दममेषम्,
> चारित्रं पालय सविशेषम्।
> कामक्रोधनिपीलनयंत्रम्,
> ध्यान कुरु रे जीव ! पवित्रम् ॥२१॥

—वै० म०

हे जीव! सम्पूर्ण आभ्यन्तर और बहिरंग परिग्रहों ( मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, राग व द्वेष तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड ) को छोड़कर पूर्ण चारित्र का पालन कर, तथा काम-क्रोधादिक को पेलकर नष्ट कर देने वाले, यन्त्र के समान जो पवित्र ध्यान है उसे धारण कर।

सदानन्दमय जीवं यो जानाति, स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम् ॥६॥

—प० स्तो०

सदा रहता नन्द जिसमें, वह मैं आतमराम हूँ,
आत्मनन्द में लीन चेतन, ज्ञानमय अभिराम हूँ।
इन्द्रिय सुख से भिन्न हूँ, पर नित्य सुख में लीन हूँ,
बना रहे निज रूप मुझ में, नित्य उसकी खोज हूँ ॥३०॥

**सूत्र—चिदानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३१॥**

**सूत्रार्थ**—मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

स्वसंवेदन ज्ञान गुण के आलम्बन से जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभ व भोगों की इच्छा रूप निदानबन्ध आदि विभावपरिणामों से रहित होता हुआ, तीन लोक, तीन काल में भी मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा विषयों के सुख की वासना से चित्त को मलिन नहीं करता तथा शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए वीतराग-परमानन्द सुख के द्वारा उसी में रंजित हुआ, उसी रूप में अपने मन को संतृप्त कर तल्लीन रहता है वही जीव चिदानन्द का प्रकट आस्वादन करता है।

हे पथिक! सभी विभावपरिणामों से भिन्न वही चिदानन्द मेरा स्वभाव है, मैं वह ही हूँ, मैं उसी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता हूँ। कारण मैं तद्रूप हूँ। मैं कौन हूँ—

निराकार निर्भय सदा, निर्मल चेतन रूप।
चिदानंद ध्याऊँ सदा, मैं हूँ शिवालय भूप ॥ ३१ ॥

**सूत्र—निजानन्दस्वरूपोऽहम् ।।३२।।**

**सूत्रार्थ**—मैं निजानन्द अर्थात् स्वात्मानन्द/अपनी आत्मा से उत्पन्न स्व आनन्द स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

पथिक ! आनन्द को बाहर कहाँ खोज रहे हो ? राग में अथवा मोह में ? स्त्री के प्रेम में ? या माँ के वात्सल्य में या पुत्र के राग में अथवा पिता के दुलार में ? कहाँ ?

पथिक ! यह सब क्षणिक और स्वार्थपूर्ण राग आनन्द नहीं, आनन्दाभास है अर्थात् सच्चा आनन्द नही है। वास्तविक आनन्द तुम्हारे आत्मा में शाश्वत विराजमान है, तुम उस आनन्द के स्वामी तद्रूप हो। तुम्हारा आनन्द, तुम्हारे स्वयं मे है उसी की प्राप्ति करो। बाहर न भटको।— "तेरा साँई तुज्झ मे, ज्यो पुहपन में वास"।

समझो पथिक निजानन्द को—

> तेरा आनन्द तुझमें चेतन, क्यों बाहर में खोजता,
> निज की गुण पर्यायें तजकर, क्यों पर में सुख मानता।
> अपने गुण की छाँह पकड़ ले, पथिक, कहीं ना जाना रे,
> पर परिणति पर्यायें तजकर, निज मे निज को भजना रे ।।३२।।

**सूत्र—निज निरञ्जनस्वरूपोऽहम् ।।३३।।**

**सूत्रार्थ**—मैं निज स्वरूप में रहने वाला समस्त विकारी भावों से रहित निरञ्जन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—शुद्ध आत्मा का स्वरूप क्या है ?

**उत्तर**—शुद्ध चैतन्य/ज्ञान-दर्शन आत्मा का निज स्वरूप है।

पथिक ! यह शुद्धात्मा अपने शुद्ध चैतन्य-ज्ञान दर्शन स्वरूप से पूर्ण कलशवत् भरितावस्था रूप है।

**प्रश्न**—अञ्जन क्या है ?

**उत्तर**—डिब्बी में रखा अञ्जन डिब्बी को भी काला कर देता है ठीक उसी प्रकार जिस निमित्त से अथवा जिनके संयोग से शरीर रूपी

डिब्बी में रखा शुद्धात्मा निरन्तर मलीनता को धारण किये हुए वे द्रव्य-कर्म-भावकर्म और नोकर्म अंजन हैं।

**प्रश्न**—क्या यह अंजन आत्मा का स्वभाव है ?

**उत्तर**—नहीं। जैसे डिब्बी में से अंजन के निकालते ही डिब्बी स्वच्छ है! ठीक उसी प्रकार यह चैतन्यात्मा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म, राग-द्वेष-मोह, ख्याति, पूजा आदि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म के दूर हटते ही "निरंजन" हुआ। अपने स्वरूप मे शुद्ध है, निर्मल है, विमल है, शुद्ध स्फटिक मणि सदृश प्रकाशमान तेजपुञ्ज है।

हे पथिक! रत्नत्रय खड्ग को धारण कर त्रिमल रूप शत्रुओं को दूर करने का पुरुषार्थ करो। तुम चैतन्यात्मा हो, तुम्हारा न कोई शत्रु है, न मित्र है, तुम निरंजन निर्विकार निर्लेप हो। विभावपरिणति में तुम्हारा स्वरूप है ही नहीं। अतः निज निरंजन सच्चिदानन्द निर्लेप आत्मा का निजी स्वभाव उसी को प्रकट करो, क्योंकि तुम तद्रूप हो।

शुद्ध निरंजन आतमा, तीन मलों से दूर।
जो ध्यावे नित ही इसे, करे भवसागर चूर ॥३३॥

**सूत्र—सहजसुखानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३४॥**

**सूत्रार्थ**—मेरी यह आत्मा सिद्धों के समान केवल आत्मा के स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले परमसुख अथवा परम आनन्दमय है।

**विशेषार्थ**—

पथिक! यह आत्मा सिद्ध समशुद्ध, स्वाभाविक सुखों का भंडार है। परमानन्द स्वरूप है। उस सहज सुख को प्रकट करने की आवश्यकता है।

**प्रश्न**—आत्मा का सहजानन्द किस आत्मा में प्रकट होता है ?

**उत्तर**—जो जीव शुद्धात्मा की भावनारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति से युक्त है अर्थात् जिसने यह दृढ़ विश्वास कर लिया है कि सिद्धालय में स्थित सिद्ध भगवान् के समान ही मेरे देह देवालय स्थित चैतन्यात्मा अनन्त गुणों का आधार अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द से पूर्ण है, उस जीव के मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव भाव नाश हो जाता है। वह जीव अब नवीन कर्मों का बंधक न होकर, पूर्व संचित कर्मों की भी निर्जरा करता है। उसी जीवात्मा में सहज, अतीन्द्रिय, आनन्द आविर्भूत होता है।

अतः हे स्वहित सम्पादन में तत्पर मुक्ति पथिक! प्रिय बन्धु! जो

कर्ममल से रहित अत्यन्त शुद्ध, चैतन्यमय, चित्पिण्ड स्वरूप, स्वपरविवेक रूप ज्ञानज्योति से सुशोभित है, जो चैतन्यशक्ति की आधार भूमि है, जो चैतन्य शक्ति से रमणीक दिखाई देता है, जो चैतन्यरूपी चाँदनी छिटकाने के लिये चन्द्र के समान है, तथा जो सर्व गुण सम्पन्न है ऐसे बोध के अधिपति रूप सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण कर, उनका ध्यान कर [ वै० म० ५५ अर्थ ] क्योंकि जो सिद्ध का स्वरूप है वही तुम हो। उनका स्वभाव/स्वरूप व्यक्त हो चुका है, तुम्हें व्यक्त करना है।

सहज सुख आनन्द स्वामी, देह देवालय बसे,
सिद्ध गुण की वन्दना से, उसके दर्शन भी लसे।
स्वहित सम्पादन में तत्पर, बन्धु अब तो जाग जा,
अपनी भक्ति में ही रमकर, निज से निज के पार जा ॥३४॥

**सूत्र—नित्यानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३५॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सतत/अविरतरूपेण आनन्दस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

निश्चयनय से यह जीवात्मा नित्य/सतत आनन्द स्वरूप है।

"संयोगतो दुःखमनेकभेदं" कर्मों के संयोग के कारण यह संसार अवस्था में अनेक कर्मों का बन्धक हुआ, कभी सोने के पिंजरे मे और कभी लोहे के पिंजरे में आनन्दाभास को आनन्द मानता नजर आ रहा है।

हे स्वहित तत्पर पथिक ! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभ रूप योग ये चार भाव ही संसार रूपी वृक्ष की जड़ सरीखे हैं, ये ही निष्कर्म आत्मतत्त्व से विलक्षणता लिए हुए होने से कर्मों को उत्पन्न करने वाले हैं। निर्मोही, अव्याबाध, आत्मा के नित्यानन्द के बाधक हैं; अतः इन आगम प्रसिद्ध चार पायो को शुद्धात्मा के नित्यानन्द की भावना से युक्त होकर स्वसंवेदन नाम वाले ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा काट डालो। इससे पूर्वबद्ध कर्मों का संयोग एकाएक टूटेगा और तुम्हारे नित्यानन्द प्रभु का निश्चित तुम्हे साक्षात् दर्शन प्राप्त होगा।

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्दकारणम् ॥६॥

—प० स्तो०

सतत आनन्द झर रहा है, आत्म नद के सोत से,
ज्ञानी भर-भर पी रहा, अज्ञानी रोता मोह से।
पथिक! समझो कुछ रुको, आनन्द अमृत पिण्ड हूँ,
पीओ भर-भर के ये अमृत, झर रहा मैं नित्य हूँ॥ ३५॥

**सूत्र—शुद्धात्मस्वरूपोऽहम् ॥३६॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध आत्म स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

पथिक! यह आत्मा शुद्ध सिद्ध आत्मा के स्वरूप युक्त है।

**प्रश्न**—शुद्ध सिद्धात्मा कैसे हैं?

**उत्तर**—जो आठ प्रकार के कर्मों से रहित हैं, शान्तरूप हैं, निरञ्जन/कर्मरूपी अञ्जन से रहित है, नित्य हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, अगुरुलघु, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व तथा अव्याबाधत्व आदि आठ गुणों से अलंकृत है, कृतकृत्य हैं अर्थात् जिन्हें अब कोई कार्य करना शेष नहीं रहा, लोकाग्र-निवासी हैं। ऐसा सिद्ध भगवान् की आत्मा शुद्धात्मा है।

पथिक! समस्त बाह्य प्रपञ्चों से दूर हटो। जैसा शुद्धात्मा लोकाग्र में निवास कर रहा है, निश्चयनय से वही शुद्धात्मा तुम स्वयं हो। उन्होंने अपनी निधि को व्यक्त कर लिया है और तुम्हारी निधि संसाररूपी समुद्र में आवृत हो रही है। अपने शुद्धात्म स्वरूप को व्यक्त करो, क्योंकि तुम स्वयं तद्रूप हो।

(छन्द रोला)

सिद्धालय मे आन विराजे केवलीनन्ता,
सिद्ध समान महान्, जग में तुम हो महन्ता।
पथिक! जरा पर-द्रव्य से तुम नाता तोड़ो,
जनजीवन संचार, निज से निज को जोड़ो॥ ३६॥

**सूत्र—परमज्योतिस्वरूपोऽहम् ॥३७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं परमज्योति स्वरूप हूँ। अथवा मेरा यह आत्मा परम-ज्योति स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—परमज्योति किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जो निराबाध रूप से त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्य व सर्व पर्यायों को

देखने में समर्थ है, अक्षय है। वह क्षायिक अखण्ड ज्ञानज्योति अथवा केवल-ज्ञान ही परमज्योति है।

हे पथिक ! मति-श्रुत-अवधि, मनःपर्ययज्ञान की टिमटिमाती किरणों का प्रकाश तुम्हारा स्वरूप नहीं, इनमें तुम्हारा निश्चयनय से कोई अधिकार नहीं, ये सब विभावपरिणतियाँ हैं। तुम्हारा आत्मा प्रखर तेज से दीप्तिमान सूर्य सम प्रखर केवलज्ञान रूप परं ज्योति स्वरूप है।

**प्रश्न**—परमज्योति का प्रकाश कब होता है ?

**उत्तर**—मोहनीय कर्म के क्षय होने पर जब आत्मा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तभी बारहवें के चरम समय में ज्ञानावरण कर्म का क्षय होते ही तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त शुद्धोपयोगी, त्रिगुप्तिगुप्त योगी केवल-ज्ञान परमज्योति को प्राप्त करते हैं।

पथिक ! रत्नत्रय खड्ग हाथ में लेकर मोह राजा पर विजय प्राप्त कर, ज्ञानावरण रज को दूर हटाओ, तुम देखोगे—"मैं परमज्योति" ही हूँ।

कैवल्यज्योति मम आतम में बसी है,
ज्ञानादि कर्म रज से वह तो ढकी है।
जागो पथिक तुम इसे अब तो जगाओ,
मुक्ति का पंथ अब तो तुम ना लजाओ ॥३७॥

**सूत्र—स्वात्मोपलब्धिस्वरूपोऽहम् ॥३८॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अपने आत्मा की उपलब्धि स्वरूप हूँ। अर्थात् जिस प्रकार सिद्ध भगवान् को स्व आत्मा की उपलब्धि होने पर जैसा उनका स्वरूप है उसी स्वरूप वाला मैं हूँ।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक ! संसार के बन्धन से मुक्त, सर्व विभाव भावों से रहित, अष्ट कर्मों से रहित जो सिद्धात्मा हैं वही स्वरूप तुम्हारा है।

वे सिद्धात्मा जन्म-मरण-क्षुधा-तृषा आदि सर्व दोषों से रहित हो गये हैं, वही स्वरूप तुम्हारी आत्मा का है।

मैं मुक्ति पथिक ! स्व आत्मा की उपलब्धि के लिये प्रथम उन स्वात्मोपलब्धिरत सिद्धों की आराधना करता हूँ तथा वही स्वरूप मैं हूँ ऐसा दृढ़ श्रद्धान भी करता हूँ। मैं मुक्तिराही उन्हीं सिद्धात्मा के पदचिह्नों पर

चलकर स्वात्मोपलब्धि को शीघ्र प्राप्त करूँ, ऐसी नित्य भावना करता हूँ, क्योंकि मैं तद्रूप हूँ।

सिद्ध शुद्ध निज आतम लब्धि होवे,
तब कर्म मूल चेतन संसार खोवे।
सिद्ध समान मम आतम नित्य होवे,
है भावना बस यही कब मुक्ति होवे ॥३८॥

**सूत्र—शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपोऽहम् ॥३९॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अपनी शुद्ध आत्मा से उत्पन्न अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाला शुद्ध आत्मा की अनुभूति स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

हे पथिक ! भगवान् सिद्ध परमेष्ठी को जिस प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। वैसा ही अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाला मैं हूँ।

**प्रश्न**—शुद्धात्मानुभूति किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—१. अपने आत्मा से उत्पन्न हुए परमाह्लादरूप निर्मल सुख के विश्वास करने को शुभ स्वानुभूति कहते हैं। [ २०–२ ]

२. अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान को धारण करने वाले विशुद्ध सिद्धों के अनन्त सुख का अपने आत्मा में विश्वास करना स्वानुभूति कहलाती है ॥२१–२॥

३. अमूर्त चैतन्यस्वरूप विशुद्ध और अत्यन्त निर्मल ऐसे अपने आत्मद्रव्य में श्रद्धान करने को बुद्धिमान् लोग स्वानुभूति कहते हैं ॥२२–२॥

४. अत्यन्त शुद्ध ज्ञानमय शुद्धोपयोग रूप अपने आत्मा के परिणामों में श्रद्धान करने को सुख देने वाला स्वानुभूति कहते हैं ॥२३–२॥

५. यह आत्मा इसी स्वानुभूति से अत्यन्त निर्मल, शुभ, समस्त उपद्रवों से रहित शुद्ध और शुद्ध चैतन्य स्वरूप अपने आत्मा को जान लेता है ॥२४–२॥

सु० ध्या० प्र०

सिद्धात्मा इसी स्वानुभूति का पूर्व में आश्रय कर रत्नत्रय की आराधना के द्वारा जिस शुद्धात्मानुभूति में लय को प्राप्त हुए, वही मैं हूँ, वही मेरा स्वरूप है। शुद्धात्मानुभूति का अनुभव करने वाले सिद्धों का जो अनुभव है

वही मेरा स्वरूप है। मैं सतत उसी शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त करने की भावना करता हूँ।

> सिद्ध समान शुद्ध मम आतम, यही भावना मेरी रे।
> पर परिणति पर्याय हटाकर, करूँ प्राप्ति अब तेरी रे॥
> मैं अमूर्त अतीन्द्रिय चेतन, शुद्ध निजातम केरी रे।
> सिद्धालय में वास करूँ मैं, सिद्ध प्रभु की चेरी रे॥३९॥

**सूत्र—शुद्धात्म संवित्तिस्वरूपोऽहम् ॥४०॥**

**सूत्रार्थ**—भगवान् सिद्ध परमेष्ठी जिस प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होने वाले केवलज्ञानमय हैं। उसी प्रकार मैं भी शुद्ध केवलज्ञानमय हूँ।

**विशेषार्थ**—

पथिक! जब यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त होता है तब ही तीन प्रकार के कर्तापन से दूर हुआ आत्मसंवित्ति को प्राप्त होता है। वह तीन प्रकार का कर्तापन कौन-सा है—१. शरीरात्मक २. अविरतात्मक ३. विरतात्मक।

१. **शरीरात्मक**—जीव यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ, अतः अपने जीवन के लिये उपयोगी वस्तुओं को अपने परिश्रम से सम्पादन कर सुखी बनूं, ऐसा विचार कर मनमानी करते हुए पाप-पाखण्ड मे लगा रहता है यह शरीरात्मक कर्त्तापन है।

२. **अविरतात्मक**—जब यह जान लेता है कि मुझे नाना प्रकार की कुयोनियों मे जन्म-मरण करते हुए अनन्तकाल बीत गया, जिसमें यह मनुष्य जन्म कठिनता से प्राप्त हुआ है, अतः अब ऐसा करूँ कि कम से कम कुयोनियों में तो जन्म धारण न करना पड़े, ऐसा सोचकर अन्याय, अभक्ष्य से बचकर न्यायोपार्जित कर्तव्य मे लगा रहता है, दान-पूजादिक षट्कर्म करने लग जाता है यह अविरतात्मक कर्त्तापन है।

३. **विरतात्मक**—जब यह जान लेता है कि यह संसार का दृश्यमान-ठाठ क्षणभंगुर है और जो यह मानव पर्याय मिली है उसका कोई भरोसा नहीं, अतः अब शेष जीवन को भगवान् भजन में बिताऊँ, ऐसा सोचकर गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर साधु-सेवा में लगा रहता है तब वहाँ शुद्धोपयोग के साधनरूप आवश्यक कर्म करने लगता है यह विरतात्मक कर्त्तापन है। इससे भी उत्तीर्ण होकर जब अपनी शुद्धात्मा के अनुभव-स्वरूप निर्वि-

कल्प परम समाधि में लगता है, तल्लीन हो जाता है। उस समय तीनों प्रकार के कर्तापन से रहित होता हुआ ज्ञानीपन को प्राप्त होता है, तब उस अवस्था में नूतन कर्मबंध भी नहीं होता है।

[ स० सा० १०४ आ० ज्ञानसागरजी कृत हिन्दी विशेषार्थ, पृ० १०४ ]

पथिक! निश्चयनय से तुम्हारा आत्मा सिद्ध समान केवलज्ञान स्वरूप है। तथापि उसका साक्षात्कार करने के लिये शुद्धात्मानुभूति के बल से यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर, त्रिप्रकार कर्त्तापन से दूर हटकर, रत्नत्रयी आत्मा में लीन होने का पुरुषार्थ करो। तभी शुद्धात्म संवित्ति की साक्षात् प्राप्ति संभव है।

कर्त्ता बुद्धि त्याग कर, शुद्ध स्वरूप लखाय।
केवलज्ञानमयी भया, कर्मबंध रुक जाय ॥४०॥

**सूत्र—भूतार्थस्वरूपोऽहम् ॥४१॥**

**सूत्रार्थ**—जैसे सिद्ध भगवान् की आत्मा का स्वरूप आत्मा का यथार्थ स्वरूप है, वैसे ही मेरा आत्मा भी परसंयोग से रहित भूतार्थ स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—आत्मा का भूतार्थ स्वरूप क्या है?

**उत्तर**—सर्व परद्रव्यों के संयोग से अथवा रागादि भावकर्म, द्रव्यकर्म ज्ञानादि और शरीरादि नोकर्म से रहित मात्र "शुद्ध चैतन्य अवस्था" आत्मा का भूतार्थ स्वरूप है।

मैं ज्ञानावरण कर्म रहित हूँ। मैं दर्शनावरण आदि सर्व कर्म रहित हूँ। मैं मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी आदि पर्यायों से रहित हूँ। मै मुनि-आर्यिका आदि लिङ्गो से रहित हूँ। मैं प्रमत्त भी नही, अप्रमत्त भी नहीं हूँ। मैं गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं से भी रहित हूँ, क्योंकि ये सब कर्मकृत विभाव पर्यायें/अवस्थाएँ हैं। फिर मैं कौन हूँ? "मैं जो हूँ, सो हूँ" यही आत्मा का भूतार्थ स्वरूप है।

पथिक! अपने सत्य स्वरूप से युक्त आत्मा "जो है वह है" उसका सत्य स्वरूप वचनातीत है। मैं उसी स्वरूप हूँ।

जो हूँ, वह हूँ, मैं हूँ आतम, नही परद्रव्यों से वासता।
अपना चेतन अपने भीतर, रहता निजगुण सासता॥
गुणस्थान आदि में देखा, कहीं नजर नहीं आवता।
अपने से ही परदा करता, अपने घर को भासता ॥४१॥

**सूत्र—परमात्मस्वरूपोऽहम् ॥४२॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार अर्हन्त घातिया कर्मों को क्षय कर अरहन्त परमात्मा बन गये हैं तथा सिद्ध भगवान् अष्टविध कर्मों का क्षय करके परम परमात्मपद को प्राप्त हो गये हैं। मेरी आत्मा भी परमात्म-स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—आत्मा के कितने भेद हैं ?

**उत्तर**—१. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा ऐसे आत्मा के तीन भेद हैं।

**प्रश्न**—परमात्मा का स्वरूप क्या है ?

**उत्तर**—जो निर्मल हैं अर्थात् राग-द्वेष आदि आत्ममल/भावमल, ज्ञानावरण आदि कर्ममल और शरीर मल से रहित हैं। केवल हैं अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से रहित अकेले हैं। शुद्ध हैं, समस्त दोषों से रहित हैं। विविक्त हैं, सब पदार्थों से भिन्न। प्रभु हैं, त्रिलोक के स्वामी अर्थात् इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि से पूजनीय, अव्यय हैं। अपने स्वगुण पर्याय से कभी भी नष्ट न होने वाले। परमेष्ठी—सबसे ऊँचे पद में स्थित, परमात्मा समस्त संसारी जीवों में उत्कृष्ट आत्मा हैं। अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि ऐश्वर्य के धारक हैं। तथा जो समस्त अन्तरङ्ग शत्रुओं–रागद्वेष आदि को तथा बहिरंग शत्रुओं–ज्ञानावरण, मोहनीय आदि को जीतने वाले हैं वे अरहन्त व सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा कहलाते हैं।

हे पथिक ! तुम्हारा आत्मा अरहन्त और सिद्ध परमात्मा समान है। जो उनके गुण, ऐश्वर्य आदि हैं, वही तुम्हारा स्वरूप है। अपनी सम्पत्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। बिना पुरुषार्थ किये उस परमात्म स्वरूप की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

**प्रश्न**—परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—छहढ़ालाकार ने लिखा है—

> बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजे।
> परमातम को ध्याय निरन्तर, जो निज आतम पूजे ॥

—छहढ़ाला ३-६

इसी उपाय का कथन करते हुए श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्री समाधि-तन्त्र में लिखा है—

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

बहिरातमपना तो दुःखमय संसार के भ्रमण का कारण है अतः वह तो त्यागने योग्य है। परमात्मा बनने के उद्देश्य से सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र द्वारा आत्मा को शुद्ध करने में प्रयत्नशील अन्तरात्मा बनना उचित है, क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व (सराग सम्यग्दर्शन) व्यवहार सम्यक् ज्ञान और अणुव्रत-महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र के द्वारा ही क्रम से घातिया कर्मों का नाश होकर परमात्म पद मिलता है इसलिये निश्चय रत्नत्रयधारी परमात्मा बनने का उपाय व्यवहार रत्नत्रय धारक अन्तरात्मा बनना है।

अतः हे पथिक ! प्रतिदिन यह भावना करनी चाहिये—

मैं अरहन्त परमात्मा स्वरूप हूँ। मैं सिद्ध परमात्मा स्वरूप हूँ। कर्मवशात् यदि आत्मा विभाव में भटकता है तो पुनः इसे सम्बोधित करो—हे आत्मन् ! तू अर्हन्त स्वरूप है, अर्हन्त को कोई अर्घ चढ़ावे या अवर्णवाद करे वे तो सदा समभाव में लीन रहते हैं फिर तू उसी अर्हन्त के समान है, वही तेरा स्वरूप है, अतः तू राग-द्वेष आदि विभावपरिणामों को शीघ्रता से छोड़ दे।

हूँ चेतन निर्मल अभिराम,
पर परिणति का अब क्या काम।
मैं हूँ परमातम के समान,
अपने में पाऊँ विसराम ॥४२॥

**सूत्र—निश्चयपञ्चाचारस्वरूपोऽहम् ॥४३॥**

**सूत्रार्थ**—मेरी आत्मा निश्चय दर्शनाचार, निश्चय ज्ञानाचार, निश्चय चारित्राचार, निश्चय तपाचार और निश्चय वीर्याचार स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक ! जैसे सिद्ध भगवान् की आत्मा निश्चय पञ्चाचार से पूर्ण है वैसे ही मेरा आत्मा भी निश्चय पञ्चाचार स्वरूप है।

**प्रश्न**—निश्चय पञ्चाचार का आरम्भक कौन जीव है ?

**उत्तर**—जो परमोपेक्षासंयमी दिगम्बर साधु शुद्धात्मा की आराधना के अतिरिक्त सभी अनाचार को छोड़कर, सहज चैतन्य के विलास लक्षण वाले निरञ्जनरूप, निज परमात्मतत्त्व की भावनारूप आचार में सहज

वैराग्यभावना से तन्मयरूप हुआ स्थिर भाव को करता है वह तपोधन निश्चय पञ्चाचार का आरम्भक होता है।

वही आत्मा जन्म-मरण के करने वाले, सर्वदोषों के प्रसंगरूप ऐसे अनाचारों को अत्यन्तरूपेण छोड़कर, उपमातीत सहज आनन्द, सहज दर्शन, सहज ज्ञान, क्षायिक चारित्र और सहजवीर्य रूप निश्चय पञ्चाचार का स्वामी बन, अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा स्थिर होकर, बाह्य आचार से रहित होता हुआ, शमसमुद्र के जल बिन्दुओं के समूह से पवित्र हो जाता है, सो वह पुण्यरूप महापुरुष सकल मलरूपी क्लेश का नाश कर साक्षात् सिद्धावस्था को प्राप्त कर लोकाग्र में शोभायमान होता है।

हे मुक्ति पथिक ! तुम्हारा आत्मा भी सिद्ध भगवान् के समान निश्चय पञ्चाचार—क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक चारित्र, क्षायिक सुख व क्षायिक वीर्य स्वरूप है। अन्तर मात्र इतना है उन्होंने समरस जल से अपनी आत्मा को पवित्र कर निजात्मा में प्रकट कर लिया है और तुम्हे प्रकट करना है!

हे पथिक ! उस निश्चय पञ्चाचार को स्वात्मा में प्रकट करने के लिये प्रथमतः व्यवहार चारित्र, व्यवहार पञ्चाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का आश्रय करो, क्योंकि व्यवहार पञ्चाचार का निर्दोष पालन ही निश्चय पञ्चाचार की उत्पत्ति का हेतु है। मैं मुक्ति पथिक ! सर्वप्रथम संसार के मोहजाल को छोड़कर व्यवहार पञ्चाचार को अंगीकार करता हूँ तथा निश्चय पञ्चाचार को ध्येय बनाता हूँ, उसी की पूर्ण प्राप्ति का लक्ष्य रखता हूँ।

सकल सिद्धिदातार है, निश्चय पञ्चाचार।
तिनकी प्राप्ति हेतु पथिक, भेष दिगम्बर धार ।।४३।।

**सूत्र—समयसारस्वरूपोऽहम् ।।४४।।**

**सूत्रार्थ**—मै समयसार स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—समयसार किसे कहते है ?

**उत्तर**—परमशुद्ध आत्मा को "समय" कहते हैं। उस शुद्ध आत्मा के सार अनन्त चतुष्टय गुण हैं। उन अनन्त चतुष्टय गुणों से भरपूर अर्हन्त व सिद्ध भगवान् की आत्मा साक्षात् समयसार है।

अरहंत व सिद्ध भगवान् की आत्मा ज्ञानादि आठ मदों से रहित है, ममता परिणाम रूप राग से रहित है, क्षुधादि अठारह दोषों से रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा हास्य-रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तीनवेद रूप नोकषायों से रहित है, अत्यन्त विशुद्ध प्रशान्त मूर्ति है। इसीलिये उनकी आत्मा शुद्ध कहलाती है। तथा वे केवलदर्शन के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को अच्छी तरह देखते हैं और केवलज्ञान के द्वारा उन्हें भली-भाँति जानते हैं तथा सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध हैं इसलिये भी उनकी आत्मा शुद्ध कहलाती है और वही समय है और विशुद्ध आत्मा के रत्नत्रय, अनंतचतुष्टयादि गुण उस शुद्ध आत्मा का सार है। ऐसे समयसार के लिये मेरा त्रिकाल नमस्कार है।

हे पथिक ! तुम स्वय उसी समयसार स्वरूप हो। उसको प्राप्त करने के लिये मद, कषाय, राग-द्वेष, सर्वदोषों का त्याग करो। तुम्हारा समय-सार तुम्हारे भीतर छिपा है। बाहर का द्रव्य समयसार मार्गदर्शी है, खोजो, भाव समयसार तुम स्वयं हो। आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्प जालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृत पिबन्ति ॥३।२४॥

—समयसार-कलश

जो लोग नय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आपके स्वरूप में तल्लीन रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित, शान्त चित्त वाले होते हैं, वे लोग ही साक्षात अमृत का—समयसार का पान करते हैं।

ओ पथिक ! जाग अब बाहर ना भटकना,
सारे विकल्प तज अपने मे अटकना।
भीतर छिपा अमृत घट का है जो प्याला,
पीता वही जो मदमस्त निजात्मवाला ॥४४॥

**सूत्र—अध्यात्मसारस्वरूपोऽहम् ॥४५॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा आत्मा अध्यात्मसार स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—अध्यात्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं।

**प्रश्न**—आत्मा के आश्रित क्या है ?

**उत्तर**—"स्वसमय" आत्मा के आश्रित है।

यह स्वसमय ही "अध्यात्म का सार" है

**प्रश्न**—उस स्वसमय की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में श्रद्धा सम्यग्दर्शन है और उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान है तथा निश्चल स्वानुभूति वीतराग चारित्र है। यह निश्चय रत्नत्रय ही स्वसमय [ अध्यात्मसार ] की प्राप्ति का अचिन्त्य उपाय है और इस निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये भी व्रत-समिति-गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा व परीषहों का जीतना आदि रूप से व्यवहार चारित्र तथा सप्त तत्त्वों का श्रद्धान रूप दर्शन व उनका ज्ञान इस प्रकार व्यवहार रत्नत्रय की आराधना आवश्यक है क्योंकि साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। व्यवहार रत्नत्रय साधन है, निश्चय रत्नत्रय साध्य है।

हे पथिक ! जब यह जीव सर्व पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ. ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति के उदय होने से सब परद्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से एकरूप होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एककाल में जानता तथा तद्रूप परिणमन करता हुआ "स्वसमय" है। यही स्वसमय "अध्यात्मसार" है। हे आत्मन् ! "मैं भी उसी अध्यात्मसार स्वरूप हूँ"।

आत्माश्रित अध्यात्मसार को, स्वसमय नाम से पहिचानो।
रत्नत्रय आराधन से तुम, उसकी प्राप्ती को मानो॥
साधन के बिन साध्य न होवे, सिद्धान्त यही उर में लाओ।
व्यवहार रतनत्रय साधन लेकर, निश्चय सिद्धि कर डालो॥४५॥

**सूत्र—परममंगलस्वरूपोऽहम् ॥४६॥**

**सूत्रार्थ**—मै परममंगलस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—मंगल किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं॥९॥

—ति० प०

क्योंकि यह मल को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, मारता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है। इसीलिये मंगल कहा गया है।

यह मंगल ज्ञानावरणादिक द्रव्यमल और रागादि भावमल के भेद से अनेक भेद रूप मल को स्पष्ट रूप से गलाता अर्थात् नष्ट करता है इसलिये मंगल कहा गया। अथवा

**अहवा मंगं सोक्खं लादि ॥१५॥**—ति० प०

यह मंग (मोद) को एवं सुख को लाता है इसलिये भी मंगल कहा जाता है। अर्थात् मंगल सुख को लाने वाला होता है। पूर्वाचार्यों के द्वारा मंग शब्द पुण्यार्थवाचक कहा गया है।

पाप को भी मल कहा गया है उसे भी मंगल गलाता है।

पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशान्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब शब्द मंगल के ही पर्यायवाची हैं।

**प्रश्न**—मंगल कितने हैं ?

**उत्तर**—आनन्द को उत्पन्न करनेवाला मंगल छह भेदरूप है—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये नाम मंगल हैं। कृत्रिम-अकृत्रिम जिनबिम्ब स्थापना मंगल हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्यमंगल हैं। गुणवान् मनुष्यों का निवास, दीक्षा क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र इत्यादि रूप से क्षेत्र मंगल अनेक प्रकार का है। गिरनार, उर्जयन्त, पावानगर, चम्पापुर, सम्मेदशिखर आदि निर्वाण क्षेत्र भी क्षेत्र मंगल है। जिस काल में जीव केवलज्ञानादि रूप मंगलमय पर्याय प्राप्त करता है उसको तथा दीक्षा काल, केवलज्ञानोत्पत्ति काल और मोक्ष के प्रवेश का काल इन सबको, पापरूपी मल को गलाने के कारण होने से काल मंगल कहते हैं। इसी प्रकार जिनमहिमा से सम्बन्ध रखने वाले अष्टाह्निका पर्व, सोलहकारण पर्व, दसलक्षण पर्व आदि भी काल मंगल हैं। मंगल रूप पर्यायों से परिणत शुद्ध जीव द्रव्य भाव मंगल है। यही परम मंगल है।

अत: लोक में मंगल पर्यायों में परिणत घातिया कर्मों के नाशक शुद्ध-जीव द्रव्य अरहंत भगवान् परम मंगल हैं। अष्टकर्मों से रहित शुद्ध जीव

द्रव्य सिद्ध भगवान् परममंगल हैं तथा रत्नत्रय के आराधक षष्ठम गुण-स्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्वसाधु परम मंगल हैं।

मुक्ति पथिक ! मेरा आत्मा भी अरहंत, सिद्ध और सर्वसाधु के समान परम मंगल स्वरूप है। द्रव्य-भावमल का नाशक और अतीन्द्रिय आनन्द को लाने वाला है। मैं उसी मंगलस्वरूप आत्मा की आराधना, अर्चना, विनयाजलि करता हूँ।

मंगलमय मम आतमा, सर्वमलों से दूर।
भक्ति भाव से नित जजै, होय कर्ममल चूर ॥४६॥

**सूत्र—परमोत्तमस्वरूपोऽहम् ॥४७॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा आत्मा परम-उत्तम स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—परमोत्तम किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—परम = श्रेष्ठ। उत् = उखाड़ने वाला। तम् = अन्धकार।

जीव के साथ अनादिकाल से अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार लगा हुआ है उसे जड़ से उखाड़ कर श्रेष्ठ केवलज्ञान ज्योति/भेदज्ञान प्रकाश उत्पन्न करे, वही लोक में परमोत्तम है।

**प्रश्न**—वे परमोत्तम कौन हैं ?

**उत्तर**—इस संसार मे अरहंत-सिद्ध-साधु और जिनधर्म ये चार ही परमोत्तम हैं।

पथिक ! अरहंत-सिद्ध-साधु और जिनधर्म इन चारों ही परमोत्तम-स्वरूप मेरा आत्मा है।

जो भव्यात्मा अरहंतादि परमेष्ठी को उनके द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है वह अपनी आत्मा में विराजमान अरहंत को जानता है उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है और तभी वह परमोत्तम पद को प्राप्त हो जाता है। अतः मेरा आत्मा स्वयं परमोत्तम स्वरूप है।

परम उत्तम आतमा यह, ज्ञान केवल पूर है।
जग के सब द्वन्दों से हटकर, निज गुणों में चूर है॥
पाता वही जो कुलाचार से, मूलव्रत में शुद्ध है।
आत्मगुण शालीनता से, आत्मरस में पूर है ॥४७॥

हे जीव ! सम्पूर्ण आभ्यन्तर और बहिरंग परिग्रहों ( मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, राग व द्वेष तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड ) को छोड़कर पूर्ण चारित्र का पालन कर, तथा काम-क्रोधादिक को पेलकर नष्ट कर देने वाले, यन्त्र के समान जो पवित्र ध्यान है उसे धारण कर।

सदानन्दमय जीवं यो जानाति, स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम् ॥६॥

—प० स्तो०

सदा रहता नन्द जिसमें, वह मैं आतमराम हूँ,
आत्मनन्द में लीन चेतन, ज्ञानमय अभिराम हूँ।
इन्द्रिय सुख से भिन्न हूँ, पर नित्य सुख में लीन हूँ,
बना रहे निज रूप मुझ में, नित्य उसकी खोज हूँ ॥३०॥

**सूत्र—चिदानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३१॥**

**सूत्रार्थ**—मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

स्वसंवेदन ज्ञान गुण के आलम्बन से जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभ व भोगों की इच्छा रूप निदानबन्ध आदि विभावपरिणामो से रहित होता हुआ, तीन लोक, तीन काल में भी मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा विषयों के सुख की वासना से चित्त को मलिन नहीं करता तथा शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए वीतराग-परमानन्द सुख के द्वारा उसी में रंजित हुआ, उसी रूप में अपने मन को संतृप्त कर तल्लीन रहता है वही जीव चिदानन्द का प्रकट आस्वादन करता है।

हे पथिक ! सभी विभावपरिणामों से भिन्न वही चिदानन्द मेरा स्वभाव है, मैं वह ही हूँ, मैं उसी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता हूँ। कारण मैं तद्रूप हूँ। मैं कौन हूँ—

निराकार निर्भय सदा, निर्मल चेतन रूप।
चिदानंद ध्याऊँ सदा, मैं हूँ शिवालय भूप ॥ ३१ ॥

**सूत्र—निजानन्दस्वरूपोऽहम् ।।३२।।**

**सूत्रार्थ**—मैं निजानन्द अर्थात् स्वात्मानन्द/अपनी आत्मा से उत्पन्न स्व आनन्द स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

पथिक ! आनन्द को बाहर कहाँ खोज रहे हो ? राग में अथवा मोह में ? स्त्री के प्रेम मे ? या माँ के वात्सल्य में या पुत्र के राग में अथवा पिता के दुलार में ? कहाँ ?

पथिक ! यह सब क्षणिक और स्वार्थपूर्ण राग आनन्द नहीं, आनन्दाभास है अर्थात् सच्चा आनन्द नही है। वास्तविक आनन्द तुम्हारे आत्मा में शाश्वत विराजमान है, तुम उस आनन्द के स्वामी तद्रूप हो। तुम्हारा आनन्द, तुम्हारे स्वय में है उसी की प्राप्ति करो। बाहर न भटको।— "तेरा साँई तुज्झ मे, ज्यों पुहपन में वास"।

समझो पथिक निजानन्द को—

तेरा आनन्द तुझमे चेतन, क्यों बाहर में खोजता,
निज की गुण पर्यायें तजकर, क्यों पर में सुख मानता।
अपने गुण की छाँह पकड़ ले, पथिक, कहीं ना जाना रे,
पर परिणति पर्यायें तजकर, निज में निज को भजना रे ।।३२।।

**सूत्र—निज निरञ्जनस्वरूपोऽहम् ।।३३।।**

**सूत्रार्थ**—मैं निज स्वरूप में रहने वाला समस्त विकारी भावों से रहित निरञ्जन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—शुद्ध आत्मा का स्वरूप क्या है ?

**उत्तर**—शुद्ध चैतन्य/ज्ञान-दर्शन आत्मा का निज स्वरूप है।

पथिक ! यह शुद्धात्मा अपने शुद्ध चैतन्य-ज्ञान दर्शन स्वरूप से पूर्ण कलशवत् भरितावस्था रूप है।

**प्रश्न**—अञ्जन क्या है ?

**उत्तर**—डिब्बी में रखा अञ्जन डिब्बी को भी काला कर देता है ठीक उसी प्रकार जिस निमित्त से अथवा जिनके संयोग से शरीर रूपी

डिब्बी में रखा शुद्धात्मा निरन्तर मलीनता को धारण किये हुए वे द्रव्य-कर्म-भावकर्म और नोकर्म अंजन हैं।

**प्रश्न**—क्या यह अंजन आत्मा का स्वभाव है ?

**उत्तर**—नहीं। जैसे डिब्बी मे से अंजन के निकालते ही डिब्बी स्वच्छ है! ठीक उसी प्रकार यह चैतन्यात्मा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म, राग-द्वेष-मोह, ख्याति, पूजा आदि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म के दूर हटते ही "निरंजन" हुआ। अपने स्वरूप में शुद्ध है, निर्मल है, विमल है, शुद्ध स्फटिक मणि सदृश प्रकाशमान तेजपुञ्ज है।

हे पथिक ! रत्नत्रयं खड्ग को धारण कर त्रिमल रूप शत्रुओं को दूर करने का पुरुषार्थ करो। तुम चैतन्यात्मा हो, तुम्हारा न कोई शत्रु है, न मित्र है, तुम निरंजन निर्विकार निर्लेप हो। विभावपरिणति में तुम्हारा स्वरूप है ही नहीं। अतः निज निरंजन सच्चिदानन्द निर्लेप आत्मा का निजी स्वभाव उसी को प्रकट करो, क्योंकि तुम तद्रूप हो।

शुद्ध निरंजन आतमा, तीन मलों से दूर।
जो ध्यावे नित ही इसे, करे भवसागर चूर॥३३॥

**सूत्र—सहजसुखानन्दस्वरूपोऽहम्** ॥३४॥

**सूत्रार्थ**—मेरी यह आत्मा सिद्धों के समान केवल आत्मा के स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले परमसुख अथवा परम आनन्दमय है।

**विशेषार्थ**—

पथिक ! यह आत्मा सिद्ध समशुद्ध, स्वाभाविक सुखों का भंडार है। परमानन्द स्वरूप है। उस सहज सुख को प्रकट करने की आवश्यकता है।

**प्रश्न**—आत्मा का सहजानन्द किस आत्मा में प्रकट होता है ?

**उत्तर**—जो जीव शुद्धात्मा की भावनारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति से युक्त है अर्थात् जिसने यह दृढ़ विश्वास कर लिया है कि सिद्धालय में स्थित सिद्ध भगवान् के समान ही मेरे देह देवालय स्थित चैतन्यात्मा अनन्त गुणों का आधार अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द से पूर्ण है, उस जीव के मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव भाव नाश हो जाता है। वह जीव अब नवीन कर्मों का बंधक न होकर, पूर्व संचित कर्मों की भी निर्जरा करता है। उसी जीवात्मा में सहज, अतीन्द्रिय, आनन्द आविर्भूत होता है।

अतः हे स्वहित सम्पादन में तत्पर मुक्ति पथिक ! प्रिय बन्धु ! जो

कर्ममल से रहित अत्यन्त शुद्ध, चैतन्यमय, चित्पिण्ड स्वरूप, स्वपरविवेक रूप ज्ञानज्योति से सुशोभित है, जो चैतन्यशक्ति की आधार भूमि है, जो चैतन्य शक्ति से रमणीक दिखाई देता है, जो चैतन्यरूपी चाँदनी छिटकाने के लिये चन्द्र के समान है, तथा जो सर्व गुण सम्पन्न है ऐसे बोध के अधिपति रूप सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण कर, उनका ध्यान कर [ वै० म० ५१ अर्थ ] क्योंकि जो सिद्ध का स्वरूप है वही तुम हो। उनका स्वभाव/स्वरूप व्यक्त हो चुका है, तुम्हें व्यक्त करना है।

सहज सुख आनन्द स्वामी, देह देवालय बसे,
सिद्ध गुण की वन्दना से, उसके दर्शन भी लसे।
स्वहित सम्पादन में तत्पर, बन्धु अब तो जाग जा,
अपनी भक्ति में ही रमकर, निज से निज के पार जा ॥३४॥

**सूत्र—नित्यानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३५॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सतत/अविरतरूपेण आनन्दस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

निश्चयनय से यह जीवात्मा नित्य/सतत आनन्द स्वरूप है।

"संयोगतो दुःखमनेकभेदं" कर्मों के संयोग के कारण यह ससार अवस्था में अनेक कर्मों का बन्धक हुआ, कभी सोने के पिंजरे में और कभी लोहे के पिंजरे में आनन्दाभास को आनन्द मानता नजर आ रहा है।

हे स्वहित तत्पर पथिक ! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभ रूप योग ये चार भाव ही संसार रूपी वृक्ष की जड़ सरीखे हैं, ये ही निष्कर्म आत्मतत्त्व से विलक्षणता लिए हुए होने से कर्मों को उत्पन्न करने वाले हैं। निर्मोही, अव्याबाध, आत्मा के नित्यानन्द के बाधक हैं; अतः इन आगम प्रसिद्ध चार पायों को शुद्धात्मा के नित्यानन्द की भावना से युक्त होकर स्वसंवेदन नाम वाले ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा काट डालो। इससे पूर्वबद्ध कर्मों का संयोग एकाएक टूटेगा और तुम्हारे नित्यानन्द प्रभु का निश्चित तुम्हें साक्षात् दर्शन प्राप्त होगा।

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्दकारणम् ॥६॥

—प० स्ता०

सतत आनन्द झर रहा है, आत्म नद के स्रोत से,
ज्ञानी भर-भर पी रहा, अज्ञानी रोता मोह से।
पथिक ! समझो कुछ रुको, आनन्द अमृत पिण्ड हूँ,
पीओ भर-भर के ये अमृत, झर रहा मैं नित्य हूँ ॥ ३५ ॥

**सूत्र—शुद्धात्मस्वरूपोऽहम् ॥३६॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध आत्म स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

पथिक ! यह आत्मा शुद्ध सिद्ध आत्मा के स्वरूप युक्त है।

**प्रश्न**—शुद्ध सिद्धात्मा कैसे हैं ?

**उत्तर**—जो आठ प्रकार के कर्मों से रहित हैं, शान्तरूप हैं, निरञ्जन/कर्मरूपी अञ्जन से रहित हैं, नित्य हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, अगुरुलघु, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व तथा अव्याबाधत्व आदि आठ गुणों से अलंकृत है, कृतकृत्य हैं अर्थात् जिन्हे अब कोई कार्य करना शेष नही रहा, लोकाग्र-निवासी हैं। ऐसा सिद्ध भगवान् की आत्मा शुद्धात्मा है।

पथिक ! समस्त बाह्य प्रपञ्चों से दूर हटो। जैसा शुद्धात्मा लोकाग्र में निवास कर रहा है, निश्चयनय से वही शुद्धात्मा तुम स्वयं हो। उन्होंने अपनी निधि को व्यक्त कर लिया है और तुम्हारी निधि संसाररूपी समुद्र में आवृत हो रही है। अपने शुद्धात्म स्वरूप को व्यक्त करो, क्योंकि तुम स्वयं तद्रूप हो।

( छन्द रोला )

सिद्धालय में आन विराजे केवलीनन्ता,
सिद्ध समान महान्, जग में तुम हो महन्ता।
पथिक ! जरा पर-द्रव्य से तुम नाता तोड़ो,
जनजीवन संचार, निज से निज को जोड़ो ॥ ३६ ॥

**सूत्र—परमज्योतिस्वरूपोऽहम् ॥३७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं परमज्योति स्वरूप हूँ। अथवा मेरा यह आत्मा परम-ज्योति स्वरूप है।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—परमज्योति किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जो निराबाध रूप से त्रिकालवर्ती सर्वद्रव्य व सर्व पर्यायों को

देखने में समर्थ है, अक्षय है। वह क्षायिक अखण्ड ज्ञानज्योति अथवा केवलज्ञान ही परमज्योति है।

हे पथिक ! मति-श्रुत-अवधि, मनःपर्ययज्ञान की टिमटिमाती किरणों का प्रकाश तुम्हारा स्वरूप नहीं, इनमें तुम्हारा निश्चयनय से कोई अधिकार नहीं, ये सब विभावपरिणतियाँ हैं। तुम्हारा आत्मा प्रखर तेज से दीप्तिमान सूर्य सम प्रखर केवलज्ञान रूप परं ज्योति स्वरूप है।

**प्रश्न**—परमज्योति का प्रकाश कब होता है ?

**उत्तर**—मोहनीय कर्म के क्षय होने पर जब आत्मा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तभी बारहवें के चरम समय में ज्ञानावरण कर्म का क्षय होते ही तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त शुद्धोपयोगी, त्रिगुप्तिगुप्त योगी केवलज्ञान परमज्योति को प्राप्त करते हैं।

पथिक ! रत्नत्रय खड्ग हाथ में लेकर मोह राजा पर विजय प्राप्त कर, ज्ञानावरण रज को दूर हटाओ, तुम देखोगे—"मैं परमज्योति" ही हूँ।

कैवल्यज्योति मम आतम में बसी है,<br>
ज्ञानादि कर्म रज से वह तो ढकी है।<br>
जागो पथिक तुम इसे अब तो जगाओ,<br>
मुक्ति का पंथ अब तो तुम ना लजाओ ॥३७॥

**सूत्र—स्वात्मोपलब्धिस्वरूपोऽहम् ॥३८॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अपने आत्मा की उपलब्धि स्वरूप हूँ। अर्थात् जिस प्रकार सिद्ध भगवान् को स्व आत्मा की उपलब्धि होने पर जैसा उनका स्वरूप है उसी स्वरूप वाला मैं हूँ।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक ! संसार के बन्धन से मुक्त, सर्व विभाव भावों से रहित, अष्ट कर्मों से रहित जो सिद्धात्मा हैं वही स्वरूप तुम्हारा है।

वे सिद्धात्मा जन्म-मरण-क्षुधा-तृषा आदि सर्व दोषों से रहित हो गये हैं, वही स्वरूप तुम्हारी आत्मा का है।

मैं मुक्ति पथिक ! स्व आत्मा की उपलब्धि के लिये प्रथम उन स्वात्मोपलब्धिरत सिद्धों की आराधना करता हूँ तथा वही स्वरूप मैं हूँ ऐसा दृढ़ श्रद्धान भी करता हूँ। मैं मुक्तिराही उन्हीं सिद्धात्मा के पदचिह्नों पर

चलकर स्वात्मोपलब्धि को शीघ्र प्राप्त करूँ, ऐसी नित्य भावना करता हूँ, क्योंकि मैं तद्रूप हूँ।

सिद्ध शुद्ध निज आतम लब्धि होवे,
तब कर्म मूल चेतन संसार खोवे।
सिद्ध समान मम आतम नित्य होवे,
है भावना बस यही कब मुक्ति होवे ॥३८॥

सूत्र—शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपोऽहम् ॥३९॥

सूत्रार्थ—मैं अपनी शुद्ध आत्मा से उत्पन्न अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाला शुद्ध आत्मा की अनुभूति स्वरूप हूँ।

विशेषार्थ—

हे पथिक ! भगवान् सिद्ध परमेष्ठी को जिस प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। वैसा ही अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाला मैं हूँ।

प्रश्न—शुद्धात्मानुभूति किसे कहते हैं ?

उत्तर—१. अपने आत्मा से उत्पन्न हुए परमाह्लादरूप निर्मल सुख के विश्वास करने को शुभ स्वानुभूति कहते हैं। [ २०–२ ]

२. अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान को धारण करने वाले विशुद्ध सिद्धों के अनन्त सुख का अपने आत्मा में विश्वास करना स्वानुभूति कहलाती है ॥२१–२॥

३. अमूर्त चैतन्यस्वरूप विशुद्ध और अत्यन्त निर्मल ऐसे अपने आत्मद्रव्य मे श्रद्धान करने को बुद्धिमान् लोग स्वानुभूति कहते हैं ॥२२–२॥

४. अत्यन्त शुद्ध ज्ञानमय शुद्धोपयोग रूप अपने आत्मा के परिणामों में श्रद्धान करने को सुख देने वाला स्वानुभूति कहते हैं ॥२३–२॥

५. यह आत्मा इसी स्वानुभूति से अत्यन्त निर्मल, शुभ, समस्त उपद्रवों से रहित शुद्ध और शुद्ध चैतन्य स्वरूप अपने आत्मा को जान लेता है ॥२४–२॥

सु० ध्या० प्र०

सिद्धात्मा इसी स्वानुभूति का पूर्व में आश्रय कर रत्नत्रय की आराधना के द्वारा जिस शुद्धात्मानुभूति में लय को प्राप्त हुए, वही मैं हूँ, वही मेरा स्वरूप है। शुद्धात्मानुभूति का अनुभव करने वाले सिद्धों का जो अनुभव है

वही मेरा स्वरूप है। मैं सतत उसी शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त करने की भावना करता हूँ।

सिद्ध समान शुद्ध मम आतम, यही भावना मेरी रे।
पर परिणति पर्याय हटाकर, करूँ प्राप्ति अब तेरी रे॥
मैं अमूर्त अतीन्द्रिय चेतन, शुद्ध निजातम केरी रे।
सिद्धालय में वास करूँ मैं, सिद्ध प्रभु की चेरी रे॥३९॥

**सूत्र—शुद्धात्म संवित्तिस्वरूपोऽहम् ॥४०॥**

**सूत्रार्थ**—भगवान् सिद्ध परमेष्ठी जिस प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होने वाले केवलज्ञानमय हैं। उसी प्रकार मैं भी शुद्ध केवलज्ञानमय हूँ।

**विशेषार्थ**—

पथिक! जब यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त होता है तब ही तीन प्रकार के कर्तापन से दूर हुआ आत्मसंवित्ति को प्राप्त होता है। वह तीन प्रकार का कर्तापन कौन-सा है—१. शरीरात्मक २. अविरतात्मक ३. विरतात्मक।

१. **शरीरात्मक**—जीव यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ, अतः अपने जीवन के लिये उपयोगी वस्तुओं को अपने परिश्रम से सम्पादन कर सुखी बनूँ, ऐसा विचार कर मनमानी करते हुए पाप-पाखण्ड मे लगा रहता है यह शरीरात्मक कर्त्तापन है।

२. **अविरतात्मक**—जब यह जान लेता है कि मुझे नाना प्रकार की कुयोनियों में जन्म-मरण करते हुए अनन्तकाल बीत गया, जिसमें यह मनुष्य जन्म कठिनता से प्राप्त हुआ है, अतः अब ऐसा करूँ कि कम से कम कुयोनियों में तो जन्म धारण न करना पड़े, ऐसा सोचकर अन्याय, अभक्ष्य से बचकर न्यायोपार्जित कर्तव्य में लगा रहता है, दान-पूजादिक षट्कर्म करने लग जाता है यह अविरतात्मक कर्त्तापन है।

३. **विरतात्मक**—जब यह जान लेता है कि यह संसार का दृश्यमान-ठाठ क्षणभंगुर है और जो यह मानव पर्याय मिली है उसका कोई भरोसा नहीं, अतः अब शेष जीवन को भगवान् भजन में बिताऊँ, ऐसा सोचकर गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर साधु-सेवा में लगा रहता है तब वहाँ शुद्धोपयोग के साधनरूप आवश्यक कर्म करने लगता है यह विरतात्मक कर्त्तापन है। इससे भी उऋण होकर जब अपनी शुद्धात्मा के अनुभव-स्वरूप निर्वि-

कल्प परम समाधि में लगता है, तल्लीन हो जाता है। उस समय तीनों प्रकार के कर्तापन से रहित होता हुआ ज्ञानीपन को प्राप्त होता है, तब उस अवस्था में नूतन कर्मबंध भी नहीं होता है।

[ स० सा० १०४ आ० ज्ञानसागरजी कृत हिन्दी विशेषार्थ, पृ० १०४ ]

पथिक ! निश्चयनय से तुम्हारा आत्मा सिद्ध समान केवलज्ञान स्वरूप है। तथापि उसका साक्षात्कार करने के लिये शुद्धात्मानुभूति के बल से यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर, त्रिप्रकार कर्त्तापन से दूर हटकर, रत्नत्रयी आत्मा में लीन होने का पुरुषार्थ करो। तभी शुद्धात्म संवित्ति की साक्षात् प्राप्ति संभव है।

कर्त्ता बुद्धि त्याग कर, शुद्ध स्वरूप लखाय।
केवलज्ञानमयी भया, कर्मबंध रुक जाय ॥४०॥

**सूत्र—भूतार्थस्वरूपोऽहम् ॥४१॥**

**सूत्रार्थ**—जैसे सिद्ध भगवान् की आत्मा का स्वरूप आत्मा का यथार्थ स्वरूप है, वैसे ही मेरा आत्मा भी परसंयोग से रहित भूतार्थ स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—आत्मा का भूतार्थ स्वरूप क्या है ?

**उत्तर**—सर्व परद्रव्यों के संयोग से अथवा रागादि भावकर्म, द्रव्यकर्म ज्ञानादि और शरीरादि नोकर्म से रहित मात्र "शुद्ध चैतन्य अवस्था" आत्मा का भूतार्थ स्वरूप है।

मैं ज्ञानावरण कर्म रहित हूँ। मैं दर्शनावरण आदि सर्व कर्म रहित हूँ। मैं मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी आदि पर्यायों से रहित हूँ। मैं मुनि-आर्यिका आदि लिङ्गों से रहित हूँ। मै प्रमत्त भी नही, अप्रमत्त भी नहीं हूँ। मैं गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं से भी रहित हूँ, क्योंकि ये सब कर्मकृत विभाव पर्यायें/अवस्थाएँ हैं। फिर मैं कौन हूँ ? "मैं जो हूँ, सो हूँ" यही आत्मा का भूतार्थ स्वरूप है।

पथिक ! अपने सत्य स्वरूप से युक्त आत्मा "जो है वह है" उसका सत्य स्वरूप वचनातीत है। मैं उसी स्वरूप हूँ।

जो हूँ, वह हूँ, मैं हूँ आतम, नहीं परद्रव्यो से वासता।
अपना चेतन अपने भीतर, रहता निजगुण सासता ॥
गुणस्थान आदि में देखा, कहीं नजर नहीं आवता।
अपने से ही परदा करता, अपने घर को भासता ॥४१॥

**सूत्र—परमात्मस्वरूपोऽहम् ॥४२॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार अर्हन्त घातिया कर्मों को क्षय कर अरहन्त परमात्मा बन गये है तथा सिद्ध भगवान् अष्टविध कर्मों का क्षय करके परम परमात्मपद को प्राप्त हो गये हैं। मेरी आत्मा भी परमात्म-स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—आत्मा के कितने भेद हैं ?

**उत्तर**—१. बहिरात्मा २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा ऐसे आत्मा के तीन भेद हैं।

**प्रश्न**—परमात्मा का स्वरूप क्या है ?

**उत्तर**—जो निर्मल हैं अर्थात् राग-द्वेष आदि आत्ममल/भावमल, ज्ञानावरण आदि कर्ममल और शरीर मल से रहित हैं। केवल हैं अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से रहित अकेले हैं। शुद्ध हैं, समस्त दोषों से रहित हैं। विविक्त हैं, सब पदार्थों से भिन्न। प्रभु हैं, त्रिलोक के स्वामी अर्थात् इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि से पूजनीय, अव्यय हैं। अपने स्वगुण पर्याय से कभी भी नष्ट न होने वाले। परमेष्ठी—सबसे ऊँचे पद में स्थित, परमात्मा समस्त संसारी जीवों में उत्कृष्ट आत्मा है। अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि ऐश्वर्य के धारक हैं। तथा जो समस्त अन्तरङ्ग शत्रुओं-रागद्वेष आदि को तथा बहिरंग शत्रुओं-ज्ञानावरण, मोहनीय आदि को जीतने वाले हैं वे अरहन्त व सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा कहलाते हैं।

हे पथिक ! तुम्हारा आत्मा अरहन्त और सिद्ध परमात्मा समान है। जो उनके गुण, ऐश्वर्य आदि हैं, वही तुम्हारा स्वरूप है। अपनी सम्पत्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। बिना पुरुषार्थ किये उस परमात्म स्वरूप की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

**प्रश्न**—परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—छहढ़ालाकार ने लिखा है—

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजे।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो निज आतम पूजे॥

—छहढ़ाला ३-६

इसी उपाय का कथन करते हुए श्री पूज्यपाद स्वामी ने श्री समाधि-तन्त्र में लिखा है—

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥

बहिरात्मपना तो दुःखमय संसार के भ्रमण का कारण है अतः वह तो त्यागने योग्य है। परमात्मा बनने के उद्देश्य से सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र द्वारा आत्मा को शुद्ध करने में प्रयत्नशील अन्तरात्मा बनना उचित है, क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व (सराग सम्यग्दर्शन) व्यवहार सम्यक् ज्ञान और अणुव्रत-महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र के द्वारा ही क्रम से घातिया कर्मों का नाश होकर परमात्म पद मिलता है इसलिये निश्चय रत्नत्रयधारी परमात्मा बनने का उपाय व्यवहार रत्नत्रय धारक अन्तरात्मा बनना है।

अतः हे पथिक ! प्रतिदिन यह भावना करनी चाहिये—

मैं अरहन्त परमात्मा स्वरूप हूँ। मैं सिद्ध परमात्मा स्वरूप हूँ। कर्मवशात् यदि आत्मा विभाव में भटकता है तो पुनः इसे सम्बोधित करो—हे आत्मन् ! तू अर्हन्त स्वरूप है, अर्हन्त को कोई अर्घ चढ़ावे या अवर्णवाद करे वे तो सदा समभाव में लीन रहते हैं फिर तू उसी अर्हन्त के समान है, वही तेरा स्वरूप है, अतः तू राग-द्वेष आदि विभावपरिणामों को शीघ्रता से छोड़ दे।

हूँ चेतन निर्मल अभिराम,<br>
पर परिणति का अब क्या काम।<br>
मैं हूँ परमातम के समान,<br>
अपने में पाऊँ विसराम ॥४२॥

**सूत्र—निश्चयपञ्चाचारस्वरूपोऽहम् ॥४३॥**

**सूत्रार्थ**—मेरी आत्मा निश्चय दर्शनाचार, निश्चय ज्ञानाचार, निश्चय चारित्राचार, निश्चय तपाचार और निश्चय वीर्याचार स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक ! जैसे सिद्ध भगवान् की आत्मा निश्चय पञ्चाचार से पूर्ण है वैसे ही मेरा आत्मा भी निश्चय पञ्चाचार स्वरूप है।

**प्रश्न**—निश्चय पञ्चाचार का आरम्भक कौन जीव है ?

**उत्तर**—जो परमोपेक्षासंयमी दिगम्बर साधु शुद्धात्मा की आराधना के अतिरिक्त सभी अनाचार को छोड़कर, सहज चैतन्य के विलास लक्षण वाले निरञ्जनरूप, निज परमात्मतत्त्व की भावनारूप आचार में सहज

वैराग्यभावना से तन्मयरूप हुआ स्थिर भाव को करता है वह तपोधन निश्चय पञ्चाचार का आरम्भक होता है।

वही आत्मा जन्म-मरण के करने वाले, सर्वदोषों के प्रसंगरूप ऐसे अनाचारों को अत्यन्तरूपेण छोड़कर, उपमातीत सहज आनन्द, सहज दर्शन, सहज ज्ञान, क्षायिक चारित्र और सहजवीर्य रूप निश्चय पञ्चाचार का स्वामी बन, अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा स्थिर होकर, बाह्य आचार से रहित होता हुआ, शमसमुद्र के जल बिन्दुओं के समूह से पवित्र हो जाता है, सो वह पुण्यरूप महापुरुष सकल मलरूपी क्लेश का नाश कर साक्षात् सिद्धावस्था को प्राप्त कर लोकाग्र में शोभायमान होता है।

हे मुक्ति पथिक ! तुम्हारा आत्मा भी सिद्ध भगवान् के समान निश्चय पञ्चाचार—क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक चारित्र, क्षायिक सुख व क्षायिक वीर्य स्वरूप है। अन्तर मात्र इतना है उन्होंने समरस जल से अपनी आत्मा को पवित्र कर निजात्मा में प्रकट कर लिया है और तुम्हे प्रकट करना है !

हे पथिक ! उस निश्चय पञ्चाचार को स्वात्मा में प्रकट करने के लिये प्रथमतः व्यवहार चारित्र, व्यवहार पञ्चाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का आश्रय करो, क्योंकि व्यवहार पञ्चाचार का निर्दोष पालन ही निश्चय पञ्चाचार की उत्पत्ति का हेतु है। मैं मुक्ति पथिक ! सर्वप्रथम संसार के मोहजाल को छोड़कर व्यवहार पञ्चाचार को अंगीकार करता हूँ तथा निश्चय पञ्चाचार को ध्येय बनाता हूँ, उसी की पूर्ण प्राप्ति का लक्ष्य रखता हूँ।

सकल सिद्धिदातार है, निश्चय पञ्चाचार।
तिनकी प्राप्ति हेतु पथिक, भेष दिगम्बर धार ॥४३॥

**सूत्र—समयसारस्वरूपोऽहम् ॥४४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं समयसार स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—समयसार किसे कहते है ?

**उत्तर**—परमशुद्ध आत्मा को "समय" कहते हैं। उस शुद्ध आत्मा के सार अनन्त चतुष्टय गुण हैं। उन अनन्त चतुष्टय गुणों से भरपूर अर्हन्त व सिद्ध भगवान् की आत्मा साक्षात् समयसार है।

अरहंत व सिद्ध भगवान् की आत्मा ज्ञानादि आठ मदों से रहित है, ममता परिणाम रूप राग से रहित है, क्षुधादि अठारह दोषों से रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा हास्य-रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तीनवेद रूप नोकषायों से रहित है, अत्यन्त विशुद्ध प्रशान्त मूर्ति है। इसीलिये उनकी आत्मा शुद्ध कहलाती है। तथा वे केवलदर्शन के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को अच्छी तरह देखते हैं और केवलज्ञान के द्वारा उन्हें भली-भाँति जानते हैं तथा सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध हैं इसलिये भी उनकी आत्मा शुद्ध कहलाती है और वही समय है और विशुद्ध आत्मा के रत्नत्रय, अनंतचतुष्टयादि गुण उस शुद्ध आत्मा का सार है। ऐसे समयसार के लिये मेरा त्रिकाल नमस्कार है।

हे पथिक ! तुम स्वय उसी समयसार स्वरूप हो। उसको प्राप्त करने के लिये मद, कषाय, राग-द्वेष, सर्वदोषो का त्याग करो। तुम्हारा समय-सार तुम्हारे भीतर छिपा है। बाहर का द्रव्य समयसार मार्गदर्शी है, खोजो, भाव समयसार तुम स्वयं हो। आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्य।
विकल्प जालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥३।२४॥

—समयसार-कलश

जो लोग नय के पक्षपात को छोड़कर सदा अपने आपके स्वरूप में तल्लीन रहते हैं एवं सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित, शान्त चित्त वाले होते हैं, वे लोग ही साक्षात अमृत का—समयसार का पान करते है।

ओ पथिक ! जाग अब बाहर ना भटकना,
सारे विकल्प तज अपने मे अटकना।
भीतर छिपा अमृत घट का है जो प्याला,
पीता वही जो मदमस्त निजात्मवाला ॥४४॥

**सूत्र—अध्यात्मसारस्वरूपोऽहम् ॥४५॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा आतमा अध्यात्मसार स्वरूप है।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—अध्यात्म किसे कहते है ?

**उत्तर**—जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं।

**प्रश्न**—आत्मा के आश्रित क्या है ?

**उत्तर**—"स्वसमय" आत्मा के आश्रित है।

यह स्वसमय ही "अध्यात्म का सार" है

**प्रश्न**—उस स्वसमय की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में श्रद्धा सम्यग्दर्शन है और उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान है तथा निश्चल स्वानुभूति वीतराग चारित्र है। यह निश्चय रत्नत्रय ही स्वसमय [ अध्यात्मसार ] की प्राप्ति का अचिन्त्य उपाय है और इस निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये भी व्रत-समिति-गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा व परीषहों का जीतना आदि रूप से व्यवहार चारित्र तथा सप्त तत्त्वों का श्रद्धान रूप दर्शन व उनका ज्ञान इस प्रकार व्यवहार रत्नत्रय की आराधना आवश्यक है क्योंकि साधन के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। व्यवहार रत्नत्रय साधन है, निश्चय रत्नत्रय साध्य है।

हे पथिक ! जब यह जीव सर्व पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ. ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति के उदय होने से सब परद्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से एकरूप होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एककाल में जानता तथा तद्रूप परिणमन करता हुआ "स्वसमय" है। यही स्वसमय "अध्यात्मसार" है। हे आत्मन् ! "मैं भी उसी अध्यात्मसार स्वरूप हूँ"।

आत्माश्रित अध्यात्मसार को, स्वसमय नाम से पहिचानो।
रत्नत्रय आराधन से तुम, उसकी प्राप्ती को मानो॥
साधन के बिन साध्य न होवे, सिद्धान्त यही उर में लाओ।
व्यवहार रतनत्रय साधन लेकर, निश्चय सिद्धि कर डालो ॥४५॥

**सूत्र—परममंगलस्वरूपोऽहम् ॥४६॥**

**सूत्रार्थ**—मै परममंगलस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—मंगल किसे कहते है ?

**उत्तर**—गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥१॥

—ति० प०

क्योंकि यह मल को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, मारता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है। इसीलिये मंगल कहा गया है।

यह मंगल ज्ञानावरणादिक द्रव्यमल और रागादि भावमल के भेद से अनेक भेद रूप मल को स्पष्ट रूप से गलाता अर्थात् नष्ट करता है इसलिये मंगल कहा गया। अथवा

**अहवा मंगं सोक्खं लादि ॥१५॥—ति० प०**

यह मंग (मोद) को एवं सुख को लाता है इसलिये भी मंगल कहा जाता है। अर्थात् मंगल सुख को लाने वाला होता है। पूर्वाचार्यों के द्वारा मंग शब्द पुण्यार्थवाचक कहा गया है।

पाप को भी मल कहा गया है उसे भी मंगल गलाता है।

पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशान्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब शब्द मंगल के ही पर्यायवाची हैं।

**प्रश्न**—मंगल कितने हैं ?

**उत्तर**—आनन्द को उत्पन्न करनेवाला मंगल छह भेदरूप है—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये नाम मंगल हैं। कृत्रिम-अकृत्रिम जिनबिम्ब स्थापना मंगल हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्यमंगल हैं। गुणवान् मनुष्यों का निवास, दीक्षा क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र इत्यादि रूप से क्षेत्र मंगल अनेक प्रकार का है। गिरनार, उर्जयन्त, पावानगर, चम्पापुर, सम्मेदशिखर आदि निर्वाण क्षेत्र भी क्षेत्र मंगल हैं। जिस काल में जीव केवलज्ञानादि रूप मंगलमय पर्याय प्राप्त करता है उसको तथा दीक्षा काल, केवलज्ञानोत्पत्ति काल और मोक्ष के प्रवेश का काल इन सबको, पापरूपी मल को गलाने के कारण होने से काल मंगल कहते हैं। इसी प्रकार जिनमहिमा से सम्बन्ध रखने वाले अष्टाह्निका पर्व, सोलहकारण पर्व, दसलक्षण पर्व आदि भी काल मंगल हैं। मंगल रूप पर्यायों से परिणत शुद्ध जीव द्रव्य भाव मंगल है। यही परम मंगल है।

अतः लोक में मंगल पर्यायों में परिणत घातिया कर्मों के नाशक शुद्ध-जीव द्रव्य अरहंत भगवान् परम मंगल हैं। अष्टकर्मों से रहित शुद्ध जीव

द्रव्य सिद्ध भगवान् परममंगल है तथा रत्नत्रय के आराधक षष्ठम गुण-स्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्वसाधु परम मंगल हैं।

मुक्ति पथिक ! मेरा आत्मा भी अरहंत, सिद्ध और सर्वसाधु के समान परम मंगल स्वरूप है। द्रव्य-भावमल का नाशक और अतीन्द्रिय आनन्द को लाने वाला है। मैं उसी मंगलस्वरूप आत्मा की आराधना, अर्चना, विनयांजलि करता हूँ।

मंगलमय मम आतमा, सर्वमलों से दूर।
भक्ति भाव से नित जजै, होय कर्ममल चूर ॥४६॥

**सूत्र—परमोत्तमस्वरूपोऽहम् ॥४७॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा आत्मा परम-उत्तम स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—परमोत्तम किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—परम = श्रेष्ठ। उत्-उखाड़ने वाला। तम्=अन्धकार।

जीव के साथ अनादिकाल से अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार लगा हुआ है उसे जड़ से उखाड़ कर श्रेष्ठ केवलज्ञान ज्योति/भेदज्ञान प्रकाश उत्पन्न करे, वही लोक में परमोत्तम है।

**प्रश्न**—वे परमोत्तम कौन हैं ?

**उत्तर**—इस संसार मे अरहंत-सिद्ध-साधु और जिनधर्म ये चार ही परमोत्तम हैं।

पथिक ! अरहंत-सिद्ध-साधु और जिनधर्म इन चारो ही परमोत्तम-स्वरूप मेरा आत्मा है।

जो भव्यात्मा अरहंतादि परमेष्ठी को उनके द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है वह अपनी आत्मा में विराजमान अरहंत को जानता है उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है और तभी वह परमोत्तम पद को प्राप्त हो जाता है। अतः मेरा आत्मा स्वयं परमोत्तम स्वरूप है।

परम उत्तम आतमा यह, ज्ञान केवल पूर है।
जग के सब द्वन्द्वों से हटकर, निज गुणों में चूर है॥
पाता वही जो कुलाचार से, मूलव्रत में शुद्ध है।
आत्मगुण शालीनता से, आत्मरस में पूर है ॥४७॥

**सूत्र—परमशरणोऽहम् ॥४८॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा आत्मा परम शरण रूप है।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—परम शरण किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जिस पदार्थ का आश्रय लेने के बाद जीवात्मा का कभी छरण/पतन न हो, वही परम शरण है।

वे परम शरण लोक में चार हैं—अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म।

पथिक ! जो भव्यात्मा इन चारों की शरण को ग्रहण करता है वह स्वयं लोक को शरणरूप बन जाता है। मैं चैतन्यात्मा अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म की परम शरण को प्राप्त होता हूँ। क्योंकि मैं भी तद्रूप हूँ। अर्थात् जो अरहंत हैं, वही मैं हूँ। जो सिद्ध हैं, वही मैं हूँ जो साधु हैं वही मैं हूँ और जो जिनधर्म है वही मैं हूँ। अतः मैं ही परम शरण हूँ।

शरणा जिसका पायकर, आतम होय विशुद्ध।
परमशरण जग में वही, कह गये ज्ञानी बुद्ध ॥४८॥

**सूत्र—परमकेवलज्ञानोत्पत्तिकारणस्वरूपोऽहम् ॥४९॥**

**सूत्रार्थ**—परम केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण स्वरूप मैं हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—परम केवलज्ञान की उत्पत्ति का हेतु क्या है ?

**उत्तर**—"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्"—मोहकर्म के क्षय से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्राप्त होता है। अर्थात् राग-द्वेष, मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्म का सर्वथा अभाव केवलज्ञानोत्पत्ति का हेतु है।

पथिक ! मेरा आत्मा स्वभाव से मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों से रहित ही है। राग-द्वेषादि भाव तथा मति-श्रुतादि जिन विभावपरिणामों में वर्तमान में मेरा आत्मा गुजर रहा है ये सब कर्म-संयोगज भाव हैं। पर हैं। मेरा आत्मा स्वभाव से तो केवलज्ञान-केवलदर्शन स्वरूप है। अतः मैं स्वयं केवलज्ञानोत्पत्ति का कारण स्वरूप हूँ। मैं ही कारण परमात्मा हूँ।

णियभावं णवि मुच्चइ, परभावं णेव गेण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोहं इदि चिंतए णाणी ॥९७॥

—नियमसार

**अर्थ**—जो निजभाव को नहीं छोड़ता है और किसी भी परभाव को ग्रहण नहीं करता है। मात्र सबको जानता देखता है, वह मैं हूँ। इस प्रकार से ज्ञानी चिंतवन करे।

मेरा आत्मा कारण परमात्मा है। कैसा है कारण परमात्मा? जो सम्पूर्ण पापरूपी वैरी की सेना की विजयपताका के लूटनेवाले, तीनों कालों में निरावरण, निरंजन, निजपरमभाव को कहीं पर भी, किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप ऐसे पाँच प्रकार के संसार की प्रकृष्ट वृद्धि के लिए कारणभूत, विभाव पुद्गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए ऐसे रागादि परभावों को ग्रहण नहीं करता है और निश्चयनय से अपने निरावरण परमज्ञान के द्वारा, निरंजन रूप सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशील आदि स्वभाव धर्मों के आधार-आधेय सम्बन्धी विकल्पों से निर्मुक्त होते हुए भी सदा युक्त, सहज मुक्तिरूपी सुन्दरी के संयोग से उत्पन्न हुए सौख्य के स्थानभूत ऐसे कारण परमात्मा को जानता है और उसी प्रकार के सहजदर्शन के द्वारा देखता है, वह कारण समयसार मैं हूँ।

[ प्रभाचन्द्राचार्य कृत टीका/हिन्दी अ. ग. आ. ज्ञानमती माताजी ]

पथिक! तुम्हारा आत्मा कारण परमात्मा है। केवलज्ञानोत्पत्ति के लिये कारण स्वरूप है ऐसी भावना सदा करनी चाहिये।

निज स्वभाव को नहीं छोड़ता, परभावों में न रमता हूँ,
सब द्रव्यों को जाननहारा, अपने रूप को लखता हूँ।
मुक्तिवधू को वरने वाला, सब विभाव को तजता हूँ,
केवलज्ञानोत्पत्ति कारण, निजस्वरूप को भजता हूँ ॥४९॥

**सूत्र—सकलकर्मक्षयकारणस्वरूपोऽहम् ॥५०॥**

**सूत्रार्थ**- मेरा आत्मा सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को कारण स्वरूप है अथवा मैं सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का कारण स्वरूप हूँ।

**प्रश्न**—समस्त कर्मों के क्षय का कारण क्या है?

**उत्तर**—रत्नत्रय की पूर्णता समस्त कर्मों के क्षय के लिये कारण है।

पथिक ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का नाम रत्नत्रय है। यह रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है। यह मोक्षमार्ग आत्मा के लिये निराकुलता का उपाय है। व्यवहार और निश्चय के भेद से रत्नत्रय दो प्रकार का है। अनादिकाल से मिथ्यात्व से ग्रसित भव्यात्मा जीव जब जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित सप्ततत्त्वों के उपदेश को सुनकर, उनके स्वरूप को स्वीकार कर श्रद्धान करता है, उन्हें अपनी प्रतीति में लाता है और उनके आश्रय से मन में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष को दूर करने का प्रक्रम करता है यह व्यवहार रत्नत्रय हुआ। और अपने आत्मा के शुद्ध निर्विकल्प स्वरूप में रुचि, प्रतीति तथा तल्लीनता निश्चय रत्नत्रय है। पहले व्यवहार रत्नत्रय का आश्रय लेकर फिर निश्चय में ठहर जाना चाहिये। रत्नत्रय प्रकट होते ही आत्मा का संसार सम्बन्धी दुःख नष्ट हो जाता है और मुक्ति प्राप्त होती है। यही रत्नत्रय आत्मा की वस्तु है। इसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। मेरा आत्मा रत्नत्रय से पूर्ण भरितावस्थ रूप है। रत्नत्रय की पूर्णता आत्मा का स्वाभाविक गुण है। गुण कभी गुणी से जुदा नहीं होता। अतः मैं रत्नत्रय की पूर्णता से युक्त हुआ अनादिकाल से बनी विशाल कर्मरूपी मंजिल को भस्म करने के लिये कारणभूत "सकलकर्मक्षय के लिये कारण स्वरूप" हूँ।

पथिक ! रत्नत्रय मेरी आत्मा की निधि है। मैं उसी निधि का स्वामी हूँ। पंचपरमेष्ठी भगवान् चेतावनी दे रहे हैं "हे भव्यात्मन् ! कर्मों से भय-भीत मत हो, उनको क्षय करने की मूल सामग्री रत्नत्रय तुझ में भरपूर पड़ी है उसी को व्यक्त करने का पुरुषार्थ कर।

रत्नत्रय मम गुण निधी, सकलकर्म क्षयकार।
प्रकटाऊँ इसको तभी, होऊँ भवदधिपार ॥५०॥

**सूत्र—परमाद्वैतस्वरूपोऽहम् ॥५१॥**

सूत्रार्थ—मैं निश्चयनय से परम-अद्वैत स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

नय-निक्षेप और प्रमाण के द्वारा गुण-पर्यायस्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है। नय-निक्षेप-प्रमाण आदि साधक अवस्था में सत्यार्थ ही हैं क्योंकि ये ज्ञान के विशेष हैं। व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं—एक तो यथार्थ वस्तु को जानकर ज्ञान और श्रद्धान की सिद्धि करना। दूसरी अवस्था विशेष ज्ञान और राग-द्वेष-मोह कर्म का सर्वथा अभावरूप यथा-

ख्यातचारित्र का होना, इसी से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इसके होने के बाद प्रमाणादिक का अवलम्बन नहीं रहता। तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है। सिद्ध अवस्था ही परम-अद्वैत अवस्था है।

इस चित्चमत्कार पुञ्ज सिद्ध परम अद्वैत अवस्था अथवा शुद्धनय के विषयभूत चैतन्यपुञ्ज आत्मा के अनुभव में आने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती। प्रमाण अस्त को प्राप्त हो जाते हैं तथा निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है यह हम नही जानते। इससे अधिक क्या कहें, कि द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

[ अ० क० ९ हिन्दी अ० ]

तभी शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रकट करता हुआ उदय को प्राप्त होता है। परद्रव्य, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न अपने विभाव को अपने से भिन्न प्रकट करता है। अपने को, अपने द्वारा, अपने लिये, अपने से, अपने में प्रकट कर भेद का अभाव कर अभेद को प्राप्त होता है।

पथिक ! शुद्ध निश्चयनय से मुझ में और परम अद्वैत को प्राप्त सिद्ध भगवान् की आत्मा में, उनके और मेरे गुणों में भेद नहीं है। अतः मैं भी परम-अद्वैत स्वरूप हूँ।—

मम स्वरूप है सिद्ध समान,
अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आश वश खोया ज्ञान,
बना भिखारी निपट अज्ञान।
हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम,
ज्ञाता दृष्टा आतमराम॥

पूज्य पूजक भाव का नहीं, लेश मुझ में शेष है,
सत्यं शिवं अरु सुन्दरं का, भाव मात्र विशेष है।
प्राप्ति उसकी कर रहा मै, पर इसी में लक्ष्य है,
है नमन परमाद्वैत को, जो सिद्ध निश्चल एक है ॥५१॥

**सूत्र—परमस्वाध्यायस्वरूपोऽहम् ॥५२॥**

**सूत्रार्थ**—मैं परमस्वाध्याय स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—परम स्वाध्याय क्या है ?

**उत्तर**—अपनी परम विशुद्ध आत्मा का अनुभव करना स्वाध्याय है। "स्व अध्येति स्वाध्यायः।

**प्रश्न**—ऐसा परम स्वाध्याय किस आत्मा को होता है ?

**उत्तर**—ऐसा परम विशुद्ध स्वाध्याय अरहन्त व सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा को ही होता है।

पथिक ! निश्चयनय से मेरा आत्मा भी परमविशुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाला है। अतः मैं भी परमस्वाध्याय स्वरूप हूँ।

परमविशुद्ध चिदानन्द का अनुभव करना मेरा काम,
अपने पद में थिर रह करके स्वाध्याय है मेरा धाम।
अर्हत् सिद्ध सम मेरा आतम उसको अब प्रकटाऊँगा,
अपनी शक्ति व्यक्त करूँ अब ऐसा ध्यान लगाऊँगा ॥५२॥

**सूत्र—परमसमाधिस्वरूपोऽहम् ॥५३॥**

**सूत्रार्थ**—मै परमसमाधि स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—परमसमाधि किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जिसमें त्रिगुप्ति का धारण, सर्वजीवो मे समभाव, राग-द्वेष का अभाव, आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग, पुण्य पाप का वर्जन, हास्यादि नव नोकषायों का वर्जन है अथवा जिसमें सयम, नियम, तप, निश्चय धर्म्य-ध्यान और शुक्लध्यान सामग्री विशेषों से रहित अखड अद्वैत परम चिन्मय आत्मा का नित्य ही अनुभव किया जाता है वह परमसमाधि कहलाती है। चैतन्यमय निर्विकल्प समाधि में नित्य ही स्थित संयमी मुनि द्वैत और अद्वैत से रहित होते हैं।

**प्रश्न**—परमसमाधि की प्राप्ति का उपाय बतलाइये ?

**उत्तर**—परमसमाधि की प्राप्ति का उपाय—समता कुल देवी की आराधना है—

आ० श्री योगीन्द्रदेव ने अमृताशीति में लिखा है—

अनशनादितपश्चरणैः फलं,
समतया रहितस्य यतेर्न हि।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं,
भज मुने समताकुलमंदिरम् ॥

समता से रहित यति को अनशन आदि तपश्चरणों के द्वारा निश्चित रूप से फल नहीं है। इसलिये, हे मुने! समता का कुल मन्दिर ऐसे इस आकुलता रहित निज तत्त्व को तुम भजो। यहाँ तात्पर्य यह है कि यदि कोई साधु द्रव्यलिंगी है, श्रमण के सदृश दिखता है किन्तु यदि भाव श्रमण नहीं है तथा समता भाव से रहित है तो कठोर तपश्चरण के पश्चात् भी वह आत्मसिद्धि रूप महाफल को प्राप्त नहीं कर सकता है।

इसी बात को आ. कुन्दकुन्ददेव नियमसार में लिखते हैं—

किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी, समदा रहियस्स समणस्स ।।१२४।।

—नियमसार

समता रहित श्रमण का वन में निवास, काय का क्लेश, अनेक प्रकार उपवास तथा अध्ययन, मौन आदि कार्य क्या करेंगे? कुछ नहीं, अर्थात् संसार बढ़ाने वाले हैं / मुक्ति के बाधक हैं।

मैं मुक्तिराही समस्त बाह्याडम्बरों का त्याग कर सर्वसावद्य योग से विरत हो, इन्द्रियों के व्यापार से विमुख हो समता भाव का आलम्बन करता हूँ। मैं सहज वैराग्यरूपी शिखर पर चढ़ने का इच्छुक त्रस-स्थावर सभी जीवों में समता को धारण करता हूँ। राग-द्वेष से रहित हो, आर्त्त-रौद्रध्यान को नित्य छोड़ता हूँ। मैं पुण्य-पाप भावों को भी छोड़ता हूँ। मैं हास्यादि नव कषायों को भी नित्य छोड़ता हूँ तथा धर्म्य-शुक्लध्यान में नित्य स्थिर होता हूँ। क्योंकि निश्चय धर्म्य-शुक्लध्यान ही परम समाधि है और मैं तद्रूप हूँ। मेरा आत्मा परमसमाधि स्वरूप है।

**( छन्द-रोला )**

समतारस का पान, परम समाधि कहावे।
जो करता नित ध्यान, कर्म कलंक नशावे ।।
आर्त रौद्र द्वय त्याग, धर्म्य-शुक्ल धरीजे।
निज शुद्धातम ध्याय, आठों कर्म खपीजे ।।५३।।

**सूत्र—परमस्वास्थ्यस्वरूपोऽहम् ।।५४।।**

**सूत्रार्थ—**मैं परम स्वास्थ्य स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न—**स्वास्थ्य क्या है?

**उत्तर—**"स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो" अविनाशी स्वरूप-

लीनता है यही जीवात्माओं का निजी प्रयोजन है यही वास्तव में स्वास्थ्य है। अथवा स्व-स्थित इति स्वास्थ्य। अपने विशुद्ध आत्मा में स्थिति स्वास्थ्य है।

पथिक ! संसारी जीव जब एक-दूसरे से (लोक-व्यवहार में) मिलते हैं तब आपस में पूछते हैं "स्वास्थ्य ठीक है ?" मोहवश हम शरीर की निरोगता को ही स्वस्थता मान बैठे हैं अतः उत्तर मिलता है—क्या करें स्वास्थ्य ठीक ही नहीं रहता, क्या हुआ है ? बुखार है, पेट में दर्द है, सिर दर्द है आदि-आदि शरीर की कथा चालू हो जाती है।

बन्धु कहा भूल रहे हो ! जिश शरीर की कुशल या स्वस्थता चाहते हो वह तो असम्भव ही है। कारण शरीर रोगों का घर है। एक रोग को दूर करो, दूसरा सामने खड़ा है पापोदय/असातावेदनी के उदय से शरीर में स्थित रोग ऊपर आकर अपना रंग दिखाते हैं और साता का उदय आते ही दब जाते हैं। परन्तु शरीर में सत्ता रूप से ५६८९९५८४ (पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवें हजार पाँच सौ चौरासी) रोग सदा बने ही रहते। जबकि आत्मा के साथ मात्र तीन रोग अनादिकाल से लगे हैं—जन्म-मरण-जरा। यद्यपि निश्चयनय से अमूर्तिक आत्मा का न जन्म है, न जरा है, न बुढ़ापा, किन्तु संसारी जीव मूर्तिक है, उसकी व्यवहार से तीनों अवस्थाएँ हैं।

**प्रश्न**—परम स्वास्थ्य प्राप्त जीव कौन हैं ?

**उत्तर**—अरहंत और सिद्ध परमात्मा जन्म, मरण, जरा तीनों रोगों से अत्यन्त निर्वृत्त हो चुके हैं। इसलिये मात्र वे ही परम नीरोग वा परम-स्वास्थ्य को प्राप्त हैं।

पथिक ! निश्चय से मेरा आत्मा भी जन्म-जरा-मृत्यु से रहित परम स्वास्थ्य स्वरूप है, अतः अब उस परम स्वास्थ्य की व्यक्ति के लिये मैं चिदम्बर पुरुष की आराधना करता हूँ। हे चिदम्बर पुरुष ! परमात्मन् ! सुवर्णकाय योगियों के हृदय में आप जिस प्रकार भरे हुए रहते हैं उसी प्रकार हे गुरु ! मेरे हृदय में भी स्थान पाकर रहिये, यह मेरी याचना है। [भ. वै. पृ० १७०]

सिद्धात्मन् ! आप गात्र में रहते हुए भी गात्रातीत हैं। चित्र संसार का नाश करने वाले हैं। पात्र के समान मुझे भी हे भानुनेत्रे ! सन्मार्ग में चलने की सुबुद्धि दीजिये। [भ. वै. पृ० १७०]

न जन्म न मृत्यु र्न मोहं न चिन्ता,
न क्षुद्रो न भीतो न कार्श्यं न तन्द्रा।
न स्वेदं न खेदं न वर्णं न मुद्रा,
चिदानन्द रूपं नमो वीतरागम् ॥४॥—वी. स्तो.

मैं पथिक ! अब निज शुद्धात्म में लीनता को प्राप्त होता हुआ परम स्वास्थ्य में स्थित होता हूँ।

जड़ शरीर की रक्षा को तुम अपना स्वास्थ्य नहीं समझो।
जन्म-मरण अरु जरा रोग से रहितावस्था निरोग समझो॥
पथिक ! न भटको इधर-उधर अब निज शुद्धातम को ही भजो।
पर द्रव्यन की परिणति में तुम अपनी सुख-दुख दृष्टि तजो ॥५४॥

**सूत्र—परमभेदज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥५५॥**

**सूत्रार्थ**—मैं परमभेदज्ञान स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—भेदज्ञान किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—स्व और पर में भेद करने वाला भेदज्ञान कहलाता है। अर्थात् मैं चैतन्य गुण वाला जीवात्मा हूँ, कर्म पुद्गल है। मै भिन्न हूँ, कर्म भिन्न हैं। मैं भिन्न हूँ, नोकर्म, भावकर्म आदि सब परद्रव्य मुझसे भिन्न हैं ऐसा ज्ञान भेद विज्ञान है।

पथिक ! शुद्ध आत्मोपलब्धि की प्राप्ति आत्मा और कर्म के भेद विज्ञान से ही होती है। अतः अखण्ड प्रवाह रूप से इस भेद ज्ञान की भावना करनी चाहिये। यह भेदज्ञान की भावना तब तक करना चाहिये जब तक ज्ञान परभावों से छूटकर स्वरूप मे स्थिर न हो जाय।

भेदज्ञान के अभ्यास से शुद्ध की प्राप्ति होते ही, राग समूह का विनाश, तथा राग का विनाश होते ही आस्रव रुक जाता है, और ज्ञानस्वरूप में निश्चलता का उदय प्राप्त होता है। भेदज्ञान उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द को धारण करता है। इसका प्रकाश निर्मल है।

आज तक जितने भी पुरुष सिद्धावस्था को प्राप्त हुए, हो रहे है और आगे होंगे वे सब भेदज्ञान से हो सिद्ध हुए और हो रहे है और आगे भी होंगे। कर्मबन्ध का मूल भेदज्ञान का अभाव है; यही संसार का कारण है।

हे मुक्तिराही ! सिद्ध सम मेरा आत्मा है। वे भेद विज्ञान से सिद्ध हुए, मैं भी निश्चयनय से भेदविज्ञान स्वरूप हूँ। मैं उस भेदज्ञान का साक्षात्कार करने की भावना करता हूँ और तब तक करता रहूँगा जब तक चेतन-अचेतनादि मुझसे भिन्न सर्व पर पदार्थों से छूटकर स्वस्वरूप में स्थिर न हो जाऊँ।

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करे शिवमारग में जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्य स्वरूप सदा जिनके प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकंदन।
शान्त दशा तिनकी पहचान करे कर जोड़ बनारसी वन्दन॥

म्यान से तलवार भिन्न रु, वस्त्र देह से भिन्न है,
त्यों ही आतम कर्ममल से, भिन्न ज्योती पिण्ड है।
भेदज्ञानी जानकर सब, कर्ममल को काटता,
स्वरूप निज में लीन हो तब, सिद्धसम सुख पावता ॥५५॥

**सूत्र—परमस्वसंवेदनस्वरूपोऽहम् ॥५६॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा आत्मा परम स्वसंवेदन स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—स्वसंवेदन किसे कहते है ?

**उत्तर**—वेद्यत्वं वेदकत्वं च, यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशः॥—आ० शा०

जहाँ योगी के ज्ञान में ज्ञेयपना व ज्ञायकपना ये दोनों अपने आप में ही हों, ऐसी अनन्य अवस्था का नाम स्वसंवेदन है इसी को आत्मानुभव या स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं। अर्थात् सब परद्रव्यो से अपने आपके द्वारा आपमें ही लीन होने का नाम स्वसंवेदन है। यह योगी के अर्थात् त्रिगुप्तिगुप्त समाधि में निरत मुनि के ही होता है।

[ स० सा० हिन्दी टीका आ० ज्ञानसागरजी पृ० २२२ ]

**शंका**—स्वसंवेदन ज्ञान तो अविरतसम्यग्दृष्टि के भी होता है ?

**समाधान**—अविरतसम्यग्दृष्टि को तो अपनी आत्मा का चेतन लक्षण के द्वारा परोक्षज्ञान होता है जैसा कि धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान कर लिया जाता है। किन्तु योगी को हर्ष-विषादादि रहित अपने शुद्धात्मा का

जैसा मानसिक प्रत्यक्ष होता है वैसा नहीं होता, जिसको कि स्वानुभव कहा जावे।

[ स० सा० आ० ज्ञानसागरजी पृ० २२२ विशेषार्थ ]

शुद्ध आत्मा का परम स्वसंवेदन सिद्ध परमेष्ठी के ही होता है। अतः अरहन्त, सिद्धपरमेष्ठी साक्षात् परम स्वसंवेदन रूप हैं और मेरा आत्मा निश्चय से सिद्ध समशुद्ध है। अतः मैं भी निश्चयनयापेक्षा परमस्वसंवेदन-स्वरूप हूँ।

ध्यान तथा ध्यानी का भी जहँ भेद नहीं रह जाता है।
निज भावों से निज को लखता निज परिणति प्रकटाता है॥
त्रिगुप्ती से गुप्त होय मै, निजानन्द रस पाऊँगा।
कर्म कालिमा दूर हटाकर, शुद्ध दशा प्रकटाऊँगा॥५६॥

**सूत्र—परम समरसिकभावस्वरूपोऽहम् ॥५७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं परम समरसी भाव स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—समरसिक भाव कौन से है?

**उत्तर**—समतारस से भरे हुए भावों को समरसिक भाव कहते हैं।

**प्रश्न**—समता किसे कहते हैं?

**उत्तर**—आचार्य कहते हैं—

जीवियमरणे लाहालाहे संजोगविप्पजोगेय।
बन्धुरिपु सुहदुःक्खादो समता सामाइयं णाम॥

जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, बन्धु-शत्रु, सुख-दुःख में समान बुद्धि होना समता है।

यह समता अमृत है।

संसार में कामज्वाला सर्वत्र जल रही है। प्रतीत होता है कि कोई शक्ति विशेष अपना प्रदर्शन कर तमाशा कर रही है जो खेल-खेल के रूप में कुम्भीपाक समान जीव को भूंज रही है और यह अज्ञानी प्राणी भी उस मोहिनी माया के वशीभूत हो जल रहा है। तो भी समता के प्रसाद से उत्तम साधुजन अमृतमय श्रेष्ठ शान्ति सुख का अनुभव करते हैं। अर्थात् जो यतिवर कामिनियो के संसर्ग का सर्वथा त्याग कर, राग-द्वेष की परिणति का परिहार कर देते हैं, समतारस में डुबकी लगाते हैं, वे

ही अनुपम, निर्मल, शीतल साम्यभावानन्द अमृत सरोवर में अवगाहन करते हैं। अतः समता अमृत है। जो इसका पान करता है, इसी में स्नान करता है, वह दुःख रूप संसार सागर में भी अनुपम आनन्दानुभव करते हैं। [ अमृताशीति २६/यो० दे०/हि० टी० ग० आ० विजयमती जी ]

समता को पुष्ट करने के लिये—मैत्री, दया और प्रमोद भावनाएँ आवश्यक हैं। इनका निवास निर्मल, निर्दोष आकाश के समान, पवित्र विशाल और स्वाधीन मनरूपी महल में होता है। सुन्दर-मनोहर देवांगना समान ये मैत्री, प्रमोद और दया भावनाएँ समता की सहेलियाँ हैं, उनके अनुकूल रहती हैं। [ अमृ०/२७यो० दे०/हि० ग० आ० विजयमती जी ]

पथिक ! परमसमतारसरूपी रस से भरपूर भाव अरहन्त व सिद्धों के होते हैं। मेरी आत्मा निश्चयनय से अरहन्त व सिद्ध सदृश है। अतः मैं भी परम समरसिक भावस्वरूप हूँ।

समता का विपरीत तामस होता है तामस आत्मा का विभाव परिणाम है, स्वभाव नही। अतः तामस परिणाम अलग है, मैं अलग हूँ। मैं विभाव से भिन्न चैतन्य समरसमय अखंड प्रवाह से प्रवाहित अमित निर्झरना हूँ।

समता रस से पूरित जो इक चिदानन्द यह आतमा,
तामस परिणति के अभाव से मिलता है परमातमा।
पथिक उठो अब जागो चेतन तेरा कहीं अब न वासना,
अपने निर्झर समता रस से नष्ट करो दुर्वासना ॥५७॥

**सूत्र—क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपोऽहम् ॥५८॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा यह आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व स्वरूप है।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—क्षायिक सम्यक्त्व क्या है ?

**उत्तर**—खीणे दंसणमोहे, जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई।
तं खाइयसम्मत्तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदू ॥६४६॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर होने वाला निर्मल श्रद्धान क्षायिक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व नित्य ही कर्मों के क्षय का कारण है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर या तो उस ही भव में जीव सिद्ध पद को प्राप्त हो जाता या आयु बन्ध हो जाने पर तीसरे या चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता।

**प्रश्न**—क्षायिक सम्यक्त्व अन्य सम्यक्त्व की तरह छूटता है या नहीं ?

**उत्तर**—क्षायिक सम्यक्त्व अन्य सम्यक्त्व की तरह छूटता नहीं है। सिद्धावस्था में भी यह बना रहता है। क्योंकि यह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव एक बार प्राप्त हो जाय तो फिर उसका कभी नाश नहीं होता। श्री नेमिचन्द्राचार्य लिखते हैं।

वयणेहिं वि हेदूहिं वि, इंदियभयआणएहिं रूवेहिं।
वीभच्छजुगुच्छाहिं य, तेलोक्केण वि ण चालेज्जो ॥६४७॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

श्रद्धान को भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करनेवाले आकारों से, यद्वा ग्लानिकारक पदार्थों को देखकर उत्पन्न होने वाली ग्लानि से, किं बहुना तीन लोक से भी यह क्षायिक सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता।

**प्रश्न**—क्या क्षायिक सम्यक्त्व यहाँ भरतक्षेत्र के जीवों को वर्तमान में हो सकता है ?

**उत्तर**—नहीं। वर्तमान काल में भरतक्षेत्र में केवली-श्रुतकेवली का अभाव है अतः क्षायिक सम्यक्त्व का भी अभाव है। क्यों, यह आगम वचन है कि—दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय होने का जो क्रम है उसका प्रारम्भ केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में हो जाता है फिर भी केवलज्ञान के साथ होने वाला परमावगाढ सम्यक्त्व अरहंत व सिद्ध भगवान् में ही होता है। सिद्धात्मा सदृश मेरा आत्मा है। अतः मैं दर्शनमोहनीय का क्षय होते ही निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व स्वरूप हूँ।

मैं भव्यात्मा अत्र समस्त अविशद सम्यक्त्वों से भिन्न विशद/निर्मल समकित धारी बनने का पुरुषार्थ कर, विभाव परिणति छोड़ता हूँ—

निश्चयनय से मम आतम ही, क्षायिक समकित धारी है,
उपादान मजबूत हुआ तो, निमित्त बिना दुखकारी है।
जागो पथिक अत्र कर्मभूमि में, रत्नत्रय निधि को जोड़ो,
केवलि-श्रुतकेवलि चरणों में, दर्शनमोहनी को छोड़ो ॥५८॥

क्षायिक सम्यक्त्व मेरा स्वभाव है, अन्य सम्यक्त्व कर्मोदयकृत विभाव हैं। मैं निज स्वभाव की आराधना करता हूँ, विभाव का त्याग करता हूँ।

**सूत्र—केवलज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥५९॥**

**सत्रार्थ**—मेरा आत्मा केवलज्ञान स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—केवलज्ञान का स्वरूप क्या है ?

**उत्तर**—आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी लिखते हैं—केवलज्ञान का स्वरूप—

संपुण्णं तु समग्गं, केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं ॥४६०॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

यह केवलज्ञान सम्पूर्ण, समग्र, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत और लोकालोक में अंधकार रहित होता है।

केवलज्ञान समस्त पदार्थों के विषय को करनेवाला है और लोकालोक के विषय में आवरण रहित है। जीवद्रव्य की ज्ञान शक्ति के जितने अंश हैं वे सभी यहाँ पूर्ण व्यक्त हो गये हैं; इसलिये यह **संपुण्ण—सम्पूर्ण** है। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण यह अप्रतिहत शक्ति युक्त और निश्चल है; इसलिये इसको **समग्ग—समग्र** कहते है। इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये **केवल** कहते हैं। चारों घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण वह क्रम, करण और व्यवधान से रहित है, फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों के ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है, इसलिये इसको प्रतिपक्षरहित कहते हैं।

पथिक ! यह केवलज्ञान दिवाकर अरहंत और सिद्ध परमात्मा के आत्मा में सदा प्रकाशमान है। मेरा आत्मा भी सर्व क्षायोपशमिक ज्ञान से रहित हुआ केवलज्ञान स्वरूप है। मैं स्वयं अर्हंत-सिद्ध परमात्मा समान हूँ अतः मैं भी अखंड केवलज्ञानज्योति स्वरूप हूँ। सर्वक्षायोपशमिक ज्ञान विभाव रूप हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। अतः मैं क्षायिक ज्ञान स्वरूप हूँ।

केवलज्ञान ज्योति पुञ्ज मम आतम शुद्ध अनूपम है।
सिद्ध शुद्ध अवस्था मेरी राग-द्वेष विवर्जित है॥
मति-श्रुत अवधि-मनःपर्यय ये सबविभाव परिणाम कहे।
क्षायिक केवलज्ञान हमारा परम विशाल है अमर रहे ॥५९॥

**सूत्र—केवलदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥६०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं केवलदर्शन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—दर्शन किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जो वस्तु के सामान्य अंश को निर्विकल्प रूप से ग्रहण करता है उसको परमागम में दर्शन कहते हैं।

**प्रश्न**—केवलदर्शन किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जो लोक-अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे आत्मा के सामान्य आभासरूप प्रकाश को केवलदर्शन कहते हैं। अर्थात् जिसमें समस्त पदार्थों का प्रतिभास होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं।

पथिक! तीव्र, मंद, मध्यम आदि अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा तथा बिजली, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों की अपेक्षा अनेक प्रकार के प्रकाश जगत् में पाये जाते हैं परन्तु वे सीमित/परिमित क्षेत्र में ही प्रकाश करते हैं, किन्तु केवलदर्शन लोक-अलोक को—सर्व द्रव्य गुण पर्यायों को प्रकाशित करता है।

जीव की यह सर्वदर्शी शक्ति दर्शनावरणी कर्म के आवरण से छिपी हुई है। अरहन्त-सिद्ध परमात्मा ने तप व ध्यानाग्नि के द्वारा उस कर्म का आत्यन्तिक क्षय कर दिया। अतः वे केवलदर्शनरूप अपने आत्मस्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं। मेरा आत्मा भी उन्हीं अर्हंत-सिद्ध समशक्ति का धारक है। दर्शनावरणी कर्म मेरा स्वभाव नहीं है, विभाव है। यह मुझसे भिन्न है। मैं भी निश्चयनय से केवलदर्शन स्वरूप हूँ। अतः अब उसी की व्यक्तता के लिये पुरुषार्थ करता हूँ क्योंकि मैं तद्रूप हूँ—

तिहुँ जग परकाशक यह केवलदर्शन मुझ में आओ,
मेरी शक्ति को प्रकटाकर, अपना रूप दिखाओ।
सर्व चराचर वस्तु जगत में, इसमें देखी जाती,
दर्शनावरणी क्षय करके मैं, होऊँ केवलदर्शी ॥६०॥

**सूत्र—अनन्तवीर्यस्वरूपोऽहम् ॥६१॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्त शक्ति स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

अर्हन्त भगवान् ने अन्तराय कर्म का क्षय करके अपनी अनन्त शक्ति को व्यक्त कर लिया है, मैं भी निश्चय से उसी अनन्त शक्ति स्वरूप हूँ।

हे पथिक ! यदि अनन्त शक्ति को व्यक्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम अन्तराय कर्म के आस्रव के कारणों का त्याग करो। किसी को भी किसी शुभ कार्य में विघ्न करने से अन्तराय कर्म आस्रव होता है। अतः कार्यों में बाधक कभी न बनो। अपनी शक्ति को कभी न छुपाओ। शक्ति अनुसार व्रत-उपवास-यम-नियम आदि को जो करता है वह जीव क्रमशः अन्तराय कर्म का क्षय कर अनन्त शक्ति को प्रकट/प्राप्त होता है।

मेरा आत्मा अन्तराय कर्म रूप विभाव से भिन्न अनन्तवीर्य स्वरूप है अतः मैं उसी के व्यक्त करने का पुरुषार्थ करता हूँ।

> अनन्तवीर्य युक्त होकर भी दर-दर भटक रहा तू क्यों ?
> अन्तराय के चक्कर में फँस, स्व को भूल गया तू क्यों ?
> तेरा बल है अरहंत सम ही, तू भी अरहंत सम हो जा।
> अपने रूप अनूपम को लख, अपने में ही तू खो जा ॥६१॥

**सूत्र—परमसूक्ष्मस्वरूपोऽहम् ॥६२॥**

**सूत्रार्थ**—मैं परमसूक्ष्मत्व गुण स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

नामकर्म के सर्वथा अभाव होने से सिद्धों में सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होता है। मेरी आत्मा भी निश्चयनय से नामकर्म से सर्वथा भिन्न है। अतः मैं भी निश्चय से परमसूक्ष्मस्वरूप हूँ।

**प्रश्न**—नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जिस कर्म के उदय से शरीर, आंगोपांग, स्वर आदि की रचना हो, उसे नामकर्म कहते हैं। यह शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। जैसे चित्रकार विविध प्रकार के चित्रों को बनाता है वैसे ही नामकर्म के द्वारा जीव शुभ-अशुभ गति-जाति आदि को प्राप्त हो, संसार में परिभ्रमण करता है। जब तक कर्म का संयोग है तब तक संसार है। नामकर्म का क्षय होते ही सूक्ष्मत्व गुण को प्राप्त होता है। कर्मोदय से होने वाली जीव की अवस्था विभावपरिणति है तथा कर्म के अभाव से स्वाभाविक गुणों की प्राप्ति जीव का स्वभाव है।

पथिक ! सूक्ष्मत्व गुण को प्राप्ति करना चाहते हो तो वह कहीं बाहर किसी दुकान पर नहीं मिलता, आस्रव रूपी खजाना बन्द कर दीजिये, गुणरूपी खजाना स्वयमेव प्रकट हो जायेगा। सो कैसे ?

उमास्वामि आचार्य लिखते हैं—

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२-६॥
तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३-६॥ —तत्त्वार्थसूत्र

योगों की कुटिलता और विसंवादन—अन्यथा प्रवृत्ति करना इन परिणामों से अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है। इससे विपरीत योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव ये शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

मुक्ति पथिक ! शुभ या अशुभ दोनों ही नामकर्म मेरी आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। अतः मैं मुमुक्षु कुटिल परिणामों व अन्यथा प्रवृत्ति को अपने भीतर से त्यागता हूँ तथा निरन्तर मन-वचन की सरलता को धारण करता हूँ—

जैसे चित्रकार कूँची से नाना चित्र बनाता है,
वैसे ही यह नामकर्म मम नाना रूप बनाता है।
मै चैतन्य चिदातम आतम मेरा इनमे स्थान नही,
मै अखण्ड अविनाशी ज्योती, कर्मों का यहाँ काम नहीं ॥६२॥

**सूत्र—अवगाहनस्वरूपोऽहम् ॥६३॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अवगाहन गुण स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

आयुकर्म के क्षय होने पर अवगाहन गुण प्रकट होता है। मेरी यह आत्मा भी शुद्ध निश्चयनय से आयुकर्म से सर्वथा रहित है, क्योंकि कर्म जड है और मै चेतन हूँ। इसलिये मैं भी अवगाहन गुण स्वरूप हूँ। रत्नत्रय की आराधना व शुक्लध्यानाग्नि के द्वारा अरहंत परमात्मा ने इस अवगाहन गुण को प्राप्त किया। अतः मैं भी उसी रत्नत्रय की आराधना करता हूँ तथा उसी शुक्लध्यानाग्नि को अन्तर मे प्रज्ज्वलित करने का पुरुषार्थ करता हूँ जिससे आयुकर्म क्षय को प्राप्त हो जावे।

मैं मुक्ति पथिक सर्वप्रथम आयु बंध के कारण अर्थात् जिन परिणामों से चारों आयुओं का आस्रव होता है उन परिणामों को अच्छी तरह समझ कर उन्हे अपने भीतर से हटाता हूँ। वे परिणाम कौन से हैं—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५-६॥
माया तैर्यग्योनस्य ॥१६-६॥ —तत्त्वार्थसूत्र

बहुत आरम्भ और परिग्रह का होना नरक आयु के आस्रव का कारण है। माया (छल-कपट) तिर्यंच आयु के आस्रव का हेतु है।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७-६ ॥ स्वभावमार्दवं च ॥ १८-६ ॥
सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २०-६ ॥
सम्यक्त्वं च ॥ २१-६ ॥ —तत्त्वार्थसूत्र

थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह मनुष्यायु के आस्रव का कारण है। स्वभाव से सरलता भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

सरागसंयम, सयमासंयम, अकामनिर्जरा, बाल तप ये देवायु के आस्रव के कारण है। जघन्य परिणामों महित सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है। अर्थात् यद्यपि सम्यग्दर्शन किमी भी कर्म के आस्रव का कारण नही है तथापि सम्यग्दर्शन की अवस्था में जो रागांश पाया जाता है, वही आस्रव व बन्ध का हेतु है।

मुमुक्षु आस्रवों से बचने का पुरुषार्थ करो। जब तक आस्रव का निरोध नहीं, तब तक संवर नही, संवर के अभाव में निर्जरा भी नहीं, निर्जरा के अभाव मुक्त-अवस्था मे प्राप्त होने वाला तुम्हारा अवगाहन-गुण भी तुम्हे प्राप्त नही हो सकेगा। अत: मैं आरम्भ परिग्रह का त्याग कर, मायाचार को छोड़ता हुआ, चारों आयु के आस्रव से बचता हूँ और अपना निजानन्द वैभव अचिन्त्य सिद्धावस्था का आश्रय करता हूँ।

हे पथिक ! यहाँ तू एक-एक इञ्च भूमि के लिये झगड़ रहा है, क्या यह तेरा स्वभाव है। जिस अवगाहनगुण के माध्यम से—

एक सिद्ध मे सिद्ध अनन्त जान।
अपनी-अपनी सत्ता पिछान॥

४५ लाख योजन मात्र सिद्धालय में एक सिद्ध में अनन्त सिद्ध अवगाह कर रहे हैं फिर भी सबकी अपनी सत्ता भिन्न-भिन्न है। एक द्रव्य दूसरे मे प्रवेश नही करता। एक जीव के अनन्तगुण बिखर कर दूसरे मे नहीं मिलते। ऐसे अपने स्वभाव को प्राप्त कर। बाह्य जड़ वस्तुओं के लिये विभाव परिणति में उलझना ज्ञानियों का कर्तव्य नही है।

है तू अखण्ड अविनाशी सुर अमर देवा,
नरकादि चार आयू भवभ्रमण छेवा।
अवगाहना गुण मम प्रीति लावे,
संसार सिन्धु तज सिद्धन संग बिठावे ॥६३॥

**सूत्र—अव्याबाधस्वरूपोऽहम् ॥६४॥**

**सूत्रार्थ**—अव्याबाध गुण स्वरूप मैं हूँ।

**विशेषार्थ**—

वेदनीय कर्म के नष्ट होने से सिद्धों में अव्याबाधगुण प्रकट होता है। निश्चयनय से मेरी यह आत्मा वेदनीय कर्म से सर्वथा रहित है। अतः मैं भी वेदनीय कर्म से रहित अव्याबाध गुण सहित हूँ।

**प्रश्न**—वेदनीय कर्म किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख दुःख का वेदन हो, वह वेदनीय कर्म है।

**प्रश्न**—इस कर्म का आस्रव किन परिणामों से होता है?

**उत्तर**—दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वे-
द्यस्य ॥ ११-६ ॥

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः
शौचमितिसद्वेद्यस्य ॥ १२-६ ॥

—तत्त्वार्थसूत्र

दुख-शोक-तप-आक्रन्दन-वध-परिदेवन रूप विभाव परिणामों से असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है तथा भूत-अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षांति, क्षमा और शौच, सूत्र में इति शब्द अर्हद्‌भक्ति आदि ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

पथिक! चाहे साता हो या असाता हो दोनों ही विभाव परिणतियाँ हैं। एक लकड़ी का बोझ तो, दूसरा चन्दन की लकड़ी का बोझा है। दोनों में वजन की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है वैसे ही साता व असाता में भी निश्चय से मात्र इतना ही भेद है। ज्ञानरूपी शरीर को धारण कर पौद्गलिक कर्मभार से रहित हो, अपने स्वाधीनरूप शरीर में ठहरना ही मुक्त है।

दर्पण पर कीचड़ का लेप करो, चाहे चन्दन का लेपन करो। दोनों प्रकार से दर्पण की स्वच्छता नष्ट होती है। वह प्रतिबिम्ब को दिखाने का कार्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार साता-असाता दोनों के सम्बन्ध से आत्मा की स्वच्छता नष्ट हो जाती है।

जिस प्रकार दर्पण पर लगे कीचड़ या चन्दन को घिसकर निकाल दिया जाता है तो दर्पण स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार साता-असाता दोनों को आत्मयोगरूपी पानी से धोकर निकालने से आत्मा-परम-विशुद्धावस्था ऐसी मुक्ति को प्राप्त होता है।

शंका—असाता के कारणों को तो छोड़ा जा सकता है पर साता के कारणों को भी एकदम छोड़ना क्या न्याय संगत है?

समाधान—नहीं। साता-असाता दोनों के कारणों को एकदम नहीं छोड़ा जा सकता। मुमुक्षु को प्रथमतः पापक्रियाओं का त्याग करना चाहिये तथा पुण्य क्रियाओं में अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये, फिर आत्म-योग की साधना का अभ्यास करना चाहिये। जब आत्मयोग की सिद्धि हो जाय तब साता की कारणभूत पुण्य क्रियाएँ स्वयं छूट जाती हैं, छोड़ना नहीं पड़ती हैं। मंजिल पार हो जाने के पश्चात् सीढ़ियों से कोई प्रयोजन नहीं रहता।

पथिक! केवल असाता व साता के परिणामों को ही लोप करने से कार्य सिद्ध नहीं होगा। अतः पहले पुण्यवासना के द्वारा पापवासना का लोप करो। पश्चात् पुण्यवासना को भी आत्मभावना द्वारा धो डालो, अन्यथा तुम कभी भी अव्याबाध, अक्षय, निराबाध सुख के स्वामी ऐसे सिद्ध परमात्मा नहीं बन सकते।

दर्पण सम उज्ज्वल मम आतम, साता-असाता अशुद्ध करें,
निज प्रतिबिम्ब झलक ना पावे, ऐसा घोर अन्धेर करे।
साता परिणामों के द्वारा, असाता को मैं नशाऊँगा,
चिदानन्द की विमल साधना से, शिवसुख को पाऊँगा ॥६४॥

**सूत्र—अष्टविध कर्मरहितोऽहम् ॥६५॥**

सूत्रार्थ—मैं निश्चयनय से अष्ट प्रकार कर्मों से रहित हूँ।

**विशेषार्थ—**

पथिक! मेरी यह परमशुद्ध आत्मा सिद्धों के समान अष्टविध (ज्ञाना-वरणादि) कर्मों से सर्वथा रहित है।

एक व्यक्ति सोना खरीदने बाजार गया। बाजार में स्वर्ण पाषाण जो किट्टकालिमा सहित था, की कीमत स्वर्ण के समान बताई गई, उसने

लेने से इन्कार कर दिया। पुनः दूसरे दिन दुकानदार ने स्वर्ण खरीदने आने के लिये कहा। इधर स्वर्णकार ने स्वर्णपाषाण को अग्नि में एक दो नहीं चौदह ताव दिये। स्वर्णपाषाण चमक उठा। फिर भी अभी कुछ कमी थी। ग्राहक दूसरे दिन उसी दुकान पर स्वर्ण खरीदने पहुँचा। चौदह ताव वाला सोना उसे दिखाया गया और कीमत वही शुद्ध स्वर्ण की बताई गई। ग्राहक ने पुनः लेने से इन्कार किया। दुकानदार ने कहा पुनः कल पधारिये। इधर सोने पर सोलह ताव चढ़ते ही वह झिलमिलाता स्वर्ण निखर उठा। ग्राहक दूसरे दिन पुनः आया। झिलमिलाता स्वर्ण देखते ही उसे आनन्द हो उठा और उचित मूल्य में उसने स्वर्ण को खरीद लिया।

यही दशा जीव राजा की है। जीव का कर्मों के साथ स्वर्णपाषाणवत् अनादिकालीन सम्बन्ध है। फिर भी जीव अलग है और कर्म अलग। जब जीवात्मा तप और ध्यान की अग्नि मे स्वय को तपाता है। तब क्रमशः अथवा धीरे-धीरे सारे कर्म भागते नजर आते हैं और कर्मों का क्षय होते ही यह जीव शुद्ध सुवर्णवत् सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

जैसे स्वर्णपाषाण मे शुद्ध स्वर्ण पूर्व से है मात्र सोलह ताव की आवश्यकता है वैसे प्रत्येक ससारी आत्मा सिद्धसदृश शुद्ध है अर्थात् प्रत्येक जीवात्मा में वह सिद्धत्व शक्ति है जो कर्मों के आवरण मे छिपी है। ज्ञानावरण कर्म पट की तरह केवलज्ञान को नही होने देता। दर्शनावरणी कर्म पहरेदार के समान आत्मा का दर्शन नही होने देता। वेदनीय कर्म शहद लपेटी तलवार की तरह कभी सुख कभी दुःख का वेदन कराता है। मोहनीय कर्म मद्यवत् हेयोपादेय को भुला देता है। आयु कर्म खोड़ा की तरह चारो आयु मे अटकाये रखता है। नाम कर्म चित्रकार की तरह नाना शरीर मे उत्पन्न करता है। गोत्र कर्म कुम्भकार की तरह ऊँच-नीच गोत्र में ले जाता है और अन्तराय कर्म भण्डारी की तरह दान-लाभ आदि कार्यों मे विघ्न करता है। गोम्मटसार ग्रन्थ मे आचार्यश्री लिखते हैं—

पडपडिहारसिमज्जा हलिचितकुलालभंडयारीण।
जह एदेंसिभावा, तह वि कम्मा मुणेयव्वा॥

हे पथिक! "कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई" कर्म तो जड़ है उनका क्या दोष है? भूल तो स्वयं ने की है, क्या? कर्मोदय को अपना मानकर उसमें हर्ष विषाद कर स्वभाव से च्युत हुआ। भव्यात्मन्! इन कर्मों को अनशनादि बहिरंग और प्रायश्चित्त आदि अन्तरंग तप की अग्नि में भस्मीभूत कर डालो। देखो! तुम्हारा चैतन्यात्मा सिद्धावस्था में द्रव्य-

कर्म, नोकर्म व भावकर्म से रहित झिलमिलाते स्वर्णवत् चमकता हुआ नजर आयेगा।

जड़ कर्मों की शक्ति में फँस, अपना जीवन बर्बाद किया,
अपनी आतम शक्ति न जानी, संसार कूप में डाल लिया।
अब तो चेतो चेतन प्यारे, कर्म बिचारे क्या करते,
भूल अनादिकाल मे अपनी, कर्मों के अनुसार नचे ॥६५॥

## सूत्र—निरञ्जनस्वरूपोऽहम् ॥६६॥

सूत्रार्थ—मैं निरञ्जन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

निश्चयनय से मेरी यह परम शुद्धात्मा राग-द्वेष व अष्ट कर्मों से रहित है। अत: मै स्वभाव से निरञ्जन स्वरूप हूँ।

हे आत्मन् ! कर्म भिन्न है, मै परम शुद्ध आत्मा कर्मों से भिन्न हूँ।

हे आत्मन् ! नोकर्म भिन्न है, मै परम शुद्ध आत्मा नोकर्मों से भिन्न हूँ।

हे आत्मन् ! द्रव्य कर्म-भाव कर्म, राग-द्वेषादि सब भिन्न है, मैं भिन्न हूँ। निरञ्जन हूँ।

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर और ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्म ये कर्म व नोकर्म जड़ है। मै कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष सत्तामात्र ग्राहक जो शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय है उसकी अपेक्षा इन कर्मों से मुक्त, निरञ्जन, निर्विकार हूँ। ऐसे शुद्धात्मा की भावना करो। इसी का ध्यान चिन्तन करो।

हे आत्मन् ! जो कर्म अनादिकालीन से अञ्जनरूप में तुम्हारे पीछे लगे हुए है, इन कर्मरूपी वृक्ष की जड़ को छेदन में तुम स्वयं समर्थ हो, क्योंकि तुम स्वभाव से समभाव रूप हो।

हे आत्मन् ! भव्य जीव का पारिणामिक भाव स्वभाव है जो परम-भाव है व औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक से भिन्न है। इसलिये वह कर्मों के उदय-उपशम-क्षय-उदीरणा, क्षयोपशमरूप विविध विकारो से वर्जित है। यह परमभाव कर्मरूपी विषवृक्ष के मूल को निर्मूलन करने मे समर्थ है, त्रिकाल, निरावरण तथा निरञ्जन है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा मे कर्मों की उपाधि त्रिकाल में भी नहीं है।

अतः मैं मुक्ति पथिक अपने से भिन्न सकल विभाव को छोड़कर निर्दोष एक चिन्मात्र की भावना करता हूँ।

अञ्जन नहीं निरञ्जन हूँ मैं, सब कर्मों से भिन्न अहा,
शुद्ध भाव पारिणामिक की, मैंने अब लीनी शरण महा।
कर्मों की सत्ता नही मुझ में, मैं हूँ शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप,
अपने में अपने को लखता, शुद्ध निरञ्जन नित्य स्वरूप ॥६६॥

**सूत्र—कृतकृत्योऽहम् ॥६७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं कृतकृत्य हूँ।

जिस प्रकार सिद्ध भगवान् मोक्ष पदार्थ को सिद्धकर कृतकृत्य हो गये हैं अर्थात् संसार में जो कुछ करना था, सब कुछ कर लिया है अब कुछ कार्य शेष नही रह गया, अतः वे कृतकृत्य हैं उसी प्रकार यह मेरी परम-शुद्धात्मा भी निश्चय से कृतकृत्य है।

**विशेषार्थ**—

पथिक ! तू संसार में भटक क्यों रहा था ? ऐसा कभी विचार किया ? नहीं। कर्त्ता बुद्धि से तू निरन्तर भटकता रहता। आचार्य श्री कुन्दकुन्द-स्वामी समयसार ग्रन्थ में लिखते हैं—यह आत्मा उपादानरूप से कर्म के परिणाम का और नोकर्म के परिणाम का करने वाला नही है यह तो मात्र ज्ञायक है। अतः जब तू स्वोपार्जित कर्म का भी कर्त्ता नही तब पर द्रव्य, परकर्म, पर के सुख-दुःखादि का कर्त्ता कैसे हो सकता। अतः हे आत्मन् ! यदि आत्मा परद्रव्यों को भी करे तो वह उन परद्रव्यों के साथ तन्मय हो जावे, परन्तु तन्मय तो होता नही, इसलिये आत्मा उनका कर्त्ता नही है।

अतः मुझे व्यवहारापेक्षा जो कुछ देखना था (ससार को) देख चुका। अब नासाग्रदृष्टि लगाये हुए हूँ। दोनों हाथों से जो करना था, कर लिया, अतः हाथ पर हाथ धरकर बैठता हूँ, जितना घूमना था घूम चुका, अब एकान्त में विश्राम करता हूँ। अतः अब कर्त्ताबुद्धि से रहित हुआ मैं भी सिद्ध समशुद्ध कृतकृत्य आत्मा हूँ।

संसार चक्र है गहन सुबन्धु प्यारे।
मैं कर चुका करना था बिन विचारे॥
हूँ योग और उपयोग का मैं जो कर्त्ता।
कृतकृत्य हो शिवालय जा पहुँचता ॥६७॥

सूत्र—अष्टगुणसहितोऽहम् ॥६८॥

सूत्रार्थ—मैं आठ गुणों से सहित हूँ। अर्थात् भगवान् सिद्ध परमात्मा के समान मैं भी आठ गुणों से सहित हूँ।

प्रश्न—भगवान् सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुण कौन से है ?

सम्मत्त णाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥

अनंत सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये सिद्ध परमेष्ठी के आठ गुण हैं।

प्रश्न—किस कर्म के क्षय से कौन-सा गुण प्रकट होता है ?

उत्तर—दर्शनावरण कर्म के क्षय से अनन्तदर्शन।
ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्तज्ञान ( केवलज्ञान )।
मोहनीय कर्म के क्षय से अनन्तसुख ( सम्यक्त्व )।
अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्तवीर्य।
वेदनीय कर्म के क्षय से अव्याबाध।
आयु कर्म के क्षय से अवगाहनत्व।
नाम कर्म के क्षय से सूक्ष्मत्व और
गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघु गुण प्रकट होता है।

प्रश्न—अष्टगुणों के लक्षण बताइये ?

उत्तर—केवलज्ञान के साथ होने वाले दर्शन को अनन्तदर्शन कहते हैं।

त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जो ज्ञान युगपत् जानता है उस ज्ञान को अनन्तज्ञान कहते हैं।

अतीन्द्रिय आत्मीक शाश्वत सुख को जिसके पीछे दुख नहीं है—अनन्तसुख कहते हैं।

आत्मा की अनन्त शक्ति जो अन्तराय कर्म के अभाव में प्रगट होती है उसे अनन्तवीर्य कहते हैं।

साता और असातारूप आकुलता के अभाव को अव्याबाध गुण कहते हैं।

परतन्त्रता के अभाव को अवगाहनत्व गुण कहते है।

उच्चता-नीचता के अभाव को अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

इन्द्रियो के विषयरूप स्थूलता के अभाव को सूक्ष्मत्व गुण कहते है।

हे आत्मन् ! द्रव्यार्थिक नयापेक्षा मेरा आत्मा सिद्ध समान अष्टगुणों का स्वामी है। परन्तु कर्मरूपी बादलों की ओट में छिपा स्व-स्वरूप से च्युत हो रहा है, अत व्यवहारनय से आठ कर्मों से पोडित हो रहा है।

**प्रश्न**—सिद्ध भगवान् क्या अनादि से कर्म रहित व आठ गुण सहित है ?

**उत्तर**—नही। सिद्ध परमेष्ठी भी पूर्व में संसारी प्राणी थे। अष्ट कर्म से युक्त थे। उन्होंने ध्यान व तप की साधना के बल पर मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि की व असली स्वरूप को प्राप्त किया।

हे आत्मन् ! "अकर्मण्य जीव का कभी कल्याण नहीं होता"। प्रमाद तजो। पुरुषार्थी बनो। काललब्धि का इन्तजार कर दैव को दोष देना प्रमादियो का काम है। मुक्ति पथिक ! मोक्ष और मोक्ष के कारणों की ओर उपयोग लगाओ। आर्त्त-रौद्र ध्यान को तजो, धर्म्य-शुक्ल ध्यान को भजो तभी द्वादश तप रूप अग्नि मे तपकर आत्मा कञ्चनसम शुद्ध निरुपलेप शुद्धात्मा अष्टगुणो का स्वामी बन जायेगा। जैसे अनादिकाल मे किट्टकालिमा युक्त स्वर्ण सोलहवानी ताव लगने पर शुद्ध हो जाता है वैसे ही अनादिकालीन कर्मकालिमा से लिप्त भव्यात्मा बारह तप व चार आराधन रूप सोलह ताव लगने पर परमशुद्धावस्था को प्राप्त हुआ, अष्टगुणों का स्वामी बन जाता है। इसी मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि मेरा चरम लक्ष्य है। उसी की प्राप्ति मे मेरा उद्यम है।

> अष्टगुणो का स्वामी मेरा, परमसिद्ध परमातमा,
> लक्ष्य भूलकर भटक रहा यह, होकर के बहिरातमा।
> अपने गुण की राह पकड़कर, आतम-ध्यान को ध्याऊँगा,
> अष्ट गुणों की सिद्धि पाकर, सिद्धलोक बस जाऊँगा ॥६८॥

**सूत्र—लोकाग्रवासीस्वरूपोऽहम् ॥६९॥**

**सूत्रार्थ—मैं लोकशिखर का वासी हूँ।**

**विशेषार्थ—**

जिस प्रकार सिद्ध भगवान् अष्टकर्मों को क्षय करके लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान हैं उसी प्रकार मेरी यह शुद्धात्मा भी सिद्धसम-शुद्ध लोकाग्र निवासी है।

जिस प्रकार एक पुद्गल परमाणु जो—आदि-अन्त व मध्य से रहित है, इन्द्रिय के अग्राह्य है, अविभागी है, वह एक समय तेजी से गमन करता हुआ चौदह राजू जाता है उसी प्रकार शुद्ध जीवात्मा जो द्रव्य-कर्म, नोकर्म और भाव-कर्म से रहित हो जाता है वह एक समय मात्र में लोकाग्र जो उसका शाश्वत स्थान है, पहुँच जाता है। तथा वहाँ से फिर कभी लौट कर नहीं आता।

पथिक ! संसार तुम्हारे लिये धर्मशाला है। यहाँ धर्मशाला में परिश्रम करके किसके लिये सुन्दर-विशाल, बँगले-मकान, महल आदि बना रहे हो। क्या तुम्हारा यह घर है ? नहीं। तुम्हारा घर एक अनोखा है। कैसा है—

न मिट्टी का है, न सोने का है, न रत्नों का है न कंकड़ का। वह तो चिदानन्द की राजधानी एक वर्णनातीत महल है। जिसमें अनन्तगुणों से अलंकृत अनन्तानन्त आत्माओं का प्रकाश देदीप्यमान हो अपनी परम-दीप्ति से सर्व सिद्धलोक को दीप्तिमान कर रहा है। उसी अनन्त गुणों से दीप्तिमान, अखण्डित, अक्षय, अविनाशी घर को अपना निवास समझ, उसी में रहने की तैयारी करो। यहाँ तो सारा तीन लोक धर्मशाला है इसे छोड़ो, अन्यथा कर्मचोर गेंद की तरह इधर-उधर तुम्हें फेंकते रहेंगे। इस धर्मशाला में कमरों का किराया भी भरना होगा, पर तुम्हारा सत्य/शाश्वत घर न किराया माँगता, न गन्दगी साफ करना पड़ती। कुछ नहीं, बस आराम से रहो। आत्मन् उसी में चलो, आनन्द से रहो।

सिद्धालय का वासी होकर, क्यों भव वन में घूमता।
निजगुण की तू छाँह सु तजकर, कर्मवृक्ष क्यों जोतता॥
अतुल अखण्ड चिदातम आतम, कर्मवृक्ष जब तोड़ता।
चिदानन्द की रजधानी श्री, सिद्धलोक में शोभता ॥६८॥

**सूत्र—अनुपमोऽहम् ॥७०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनुपम हूँ।

संसार मे जिस प्रकार अरहंत व सिद्धों की कोई उपमा नहीं है। उसी प्रकार मेरी यह शुद्ध आत्मा भी अरहंत व सिद्ध सदृश होने से उपमातीत है।

**विशेषार्थ**—

हे आत्मन्! संसार मे कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें चिदानन्द चैतन्य की उपमा कर सकूँ। हे आत्मन्! मैं तुम्हें यदि सूर्य की उपमा देता हूँ तो वह भी असत्य है। क्यों? सूर्य उदय और अस्त होता रहता है पर तुम न उदय को प्राप्त होते हो, न अस्त को अर्थात् तुम अनादि निधन, अजर-अमर हो। यदि सूर्य सम मेरा आतम दीप्तिमान है ऐसा कहूँ तो भी ठीक नही। क्योंकि सूर्य की दीप्ति में आग है जो जीवों को जलाती है, तृषा पैदा करती है तथा दाह भी उत्पन्न करती है किन्तु हे आत्मन्! तुम दीप्तिमान होकर भी शीतल हो, शान्त हो, परम समरस/सन्तोष का रसास्वादन कराने वाले हो।

हे आत्मन्! तुम चन्द्र सम हो, यदि ऐसा भी कहूँ तो गलत है, क्यों? चन्द्रमा सूर्य की किरणें प्राप्त होते ही फीका पड़ जाता है, मानो डरकर ही मुरझा जाता है तथा राहु से ग्रस कर काला पड़ जाता है। जब कि त्रिलोकीनाथ मेरा परम शुद्धात्मा किसी भी शक्ति के भय से फीका नही पड़ता तथा किसी के द्वारा ग्रसने के भी अयोग्य है। मेरा आत्मा अमर ज्योति से आह्लादित सदा आनन्द घन है।

हे आत्मन्! तुझे यदि समुद्र की उपमा दूँ तो भी सत्य नही। क्योकि समुद्र गम्भीर होते हुए भी सूर्य के आतप से सूख जाता है जबकि मेरे चिदंवर पुरुष गम्भीर आत्मा तुम हेयोपादेय बुद्धि सहित हो, कभी सूखते नहीं। समुद्र मे अनेकानेक कीड़े-मकोड़े जानवर आदि रहते है जो "जिस वृक्ष पर रहते है उसी को काटते है" अर्थात् जिस समुद्र में रहते है उसी को गँदला करते है जबकि आत्मारूपी गम्भीर चैतन्य मे अनन्तानन्त गुण रहते है वे जैसे-जैसे प्रकाश मे आते है वैसे-वैसे आत्मा शोभा-कीर्ति-वैभव को प्राप्त करता हुआ अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करने की योग्यता को बढ़ाता है।

हे आत्मन्! तुम्हें स्फटिक मणि सम कहूँ, तो वह पाषाण है, जड़ है,

मूर्तिक है जबकि मैं चेतन अनन्तज्ञान का स्वामी व अमूर्तिक हूँ। अतः अधिक क्या कहूँ, मेरा आत्मा त्रिलोक में उपमातीत/अनुपम है।

जिसकी उपमा दे सकूँ, वस्तु न जग में कोय।
अजर-अमर आतम मेरा, जो है सो ही होय ॥७०॥

## सूत्र—अचिन्त्योऽहम् ।७१॥

सूत्रार्थ—मैं अचिन्त्य हूँ।

**विशेषार्थ—**

जिस प्रकार परम विशुद्ध शुद्धात्मा के अनन्त गुणों का चिन्तन कोई नही कर सकता है। उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, क्षायिक दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य, व अतीन्द्रिय आनन्द का स्वामी है। अव्यय है, विभु है, अचिन्त्य है। असंख्य, आद्यस्वरूप, ब्रह्मा है। ईश्वर है, अनन्त है, अनंगकेतु, योगीश्वर विदितयोग है, एक है, अनेक है, ज्ञानस्वरूप है, अमल है, इत्यादि अनन्त गुणों का स्वामी है। इस आत्मा के अनन्त गुणों का चिन्तन किसी ससारी जीव के ज्ञान का विषय नही है अर्थात् मेरी शुद्धात्मा के पूर्ण गुणों को कोई भी चिन्तन नही कर सकता है। अतः मैं अचिन्त्य हूँ।

मैं हूँ शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध रु, चिदानन्द चैतन्य महान्,
गुण अनन्त का हूँ मैं स्वामी, अपने गुण का क्या करूँ बयान।
बृहस्पति भी अपनी शक्ति से, नहीं कर सकता तेरा ध्यान,
मैं अचिन्त्य गुणो का धारी, कह गये त्रिशलानन्द महान् ॥७१॥

## सूत्र—अतर्क्योऽहम् ॥७२॥

**सूत्रार्थ**—मेरी शुद्धात्मा के अनन्त गुणों मे कोई ऊहापोह नहीं कर सकता, क्योंकि मेरा आत्मा अतर्क्य स्वरूप है अर्थात् किसी के तर्क का विषय नही है।

**विशेषार्थ—**

जिस प्रकार सिद्धों के गुणों में "यह गुण है" इस प्रकार तर्क-वितर्क नहीं हो सकता, उसी प्रकार मेरे आत्मा के गुणों में भी तर्क-वितर्क नही हो सकता, क्योंकि मैं सिद्ध समान हूँ।

बौद्ध और वैशेषिक मत वाले मोक्ष का स्वरूप अभावरूप मानते हैं।

उनका कहना है कि जैसे तेल के समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है फिर वह किसी दिशा-विदिशा में नहीं ठहरता, किन्तु सर्वथा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की सन्तान का जब क्लेश वा दुःखादिक नष्ट हो जाता है तब आत्मा का सर्वथा अभाव हो जाता है।

जैनाचार्य कहते हैं—ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अपने नाश का प्रयत्न करे अर्थात् अजर-अमर आत्मा का कभी अभाव नहीं होता। मोक्ष का स्वरूप अभाव रूप नहीं, अपितु शुद्धात्मा के सद्भावरूप है।

इसी प्रकार सक्षेप में—[1]सदाशिव मत मानता है—जीव सदा कर्म से रहित ही है। सांख्य की मान्यता है—बन्ध-मोक्ष-सुख-दुःख प्रकृति को होते हैं, आत्मा को नहीं। नैयायिक मत की मान्यता है—मुक्ति में बुद्धि, सुख की इच्छा आदि गुणों का नाश हो जाता है। ईश्वर मत वाले मुक्त जीवों को सृष्टि का कर्ता मानते हैं तथा मण्डली मत में सिद्धों की पुनरागति मानी गई है।

जैनाचार्यों ने तर्क के अगोचर भगवान् सिद्धों के लिये दिये गये इन कुतर्कों का खण्डन किया है—हे आत्मन् सिद्धावस्था तर्क के गोचर नहीं, अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। वे सिद्ध भगवान् कैसे हैं—

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा निरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥६८॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड

सदाशिव मत के निराकरण के लिये—"अट्ठविहकम्मवियला" सिद्ध अवस्था में जीव कर्म से रहित होता है सदा नहीं। सिद्धावस्था से पूर्व संसार अवस्था मे कर्मों से सहित होता है। सांख्यमत का निराकरण करने के लिये—"सीदी भूदा" विशेषण दिया है अर्थात् सिद्धावस्था में जीव सुख स्वरूप है। मस्करी मत मुक्त जीवों का लौटना मानता है। उसको दूषित करने के लिये कहा है कि "णिरंजणा" सिद्ध निरञ्जन हैं अर्थात् सिद्धावस्था में जीव मिथ्यादर्शन, क्रोध-मानादि भाव कर्मों से रहित है। क्योकि बिना भावकर्म के नवीन कर्म का ग्रहण नहीं हो सकता और

---

१. सदाशिवः सदाऽकर्म सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं।
मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम् ॥१॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यते।
कृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनम् ॥२॥

बिना कर्मबन्धन के जीव निर्हेतुक संसार में लौट नहीं सकता। बौद्धों का मत है कि "सम्पूर्ण पदार्थ क्षणध्वंसी हैं उनके लिये "णिच्चा" विशेषण है अर्थात् आत्मा नित्य है। जो मुक्ति में बुद्धि आदि गुणों का नाश मानते हैं ऐसे नैयायिक तथा वैशेषिक के निराकरणार्थ "अट्ठगुणा" विशेषण दिया है। अर्थात् सिद्ध ज्ञानादिक आठ गुणों से सहित है।

ईश्वर कर्तावादी निराकरणार्थं "किदकिच्चा" विशेषण है। अर्थात् सिद्ध भगवान् सृष्टि के अकर्ता है क्योंकि वे कृतकृत्य हैं। मुक्त हो जाने पर जीव को सृष्टि की रचना का विकल्प नही रहता है। मण्डली मत से निराकरण के लिये "लोयग्गणिवासिणो" विशेषण है अर्थात् मुक्त जीव सदा ऊपर को गमन ही करता जाता, कभी ठहरता नही" ऐसा नही है, "मुक्त जीव लोक अग्रभाग में स्थित हैं।"

इस प्रकार सिद्ध भगवान् के लिये कोई भी अपने आपको बुद्धिमान् मानकर कितने भी तर्क-वितर्क करें, पर वास्तव मे सत्य वस्तु के गुण क्या हैं ? कैसी हैं ? तो जैसी है वैसी है किन्तु आप किसी के तर्क का विषय नही है। हे पथिक ! तुम्हारा आत्मा भी सिद्ध समान होने से तर्क का विषय नही है।

लाख करो तुम तर्क को, सहस करो सुवितर्क।
चिदानन्द मम आत्मा, अविनाशी अवितर्क ॥७२॥

**सूत्र—अप्रमेयस्वरूपोऽहम् ॥७३॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अप्रमेय स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

जिस प्रकार सिद्ध भगवान् को हर कोई नही जान सकता। उसी प्रकार मुझ शुद्ध आत्मा का स्वरूप हर कोई नही जान सकता। इसलिये मैं प्रमेयरूप नहीं हूँ। श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार ग्रन्थ में लिखते है—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगदं ॥२३॥

—प्रवचनसार

आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञान जितना है उतनी आत्मा है। कहा है "समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति" अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायों के समान होता है। इस वचन से वर्तमान मनुष्य भव में यह आत्मा वर्तमान

मनुष्य पर्याय के समान प्रमाण वाला है तैसे ही मनुष्य पर्याय के प्रदेशों में रहने वाला ज्ञान गुण है। जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्याय में ज्ञान गुण के बराबर प्रत्यक्ष मे दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चय से सदा ही अव्याबाध अविनाशी सुख आदि अनन्तगुणों का आधारभूत जो केवलज्ञान गुण है तिस प्रमाण यह आत्मा है। ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा गया है। जैसे ईंधन में स्थित आग ईंधन के बराबर है वैसे ही ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय लोक और अलोक प्रमाण हैं। शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी सर्व तरह से उपादेयभूत ग्रहण करने योग्य परमात्मद्रव्य को आदि लेकर छः द्रव्यमयी यह लोक है। लोक के बाहरी भाग में जो शुद्ध आकाश है सो अलोक है। ये दोनों लोकालोक अपने-अपने अनन्त पर्यायों में परिणमन करते हुए अनित्य हैं तो भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं। ज्ञान लोक अलोक जानता है। इस कारण से ज्ञान सर्वगत है। अर्थात् क्योंकि निश्चयरत्नत्रयमयी शुद्धोपयोग की भावना के बल से पैदा होने वाला केवलज्ञान है वह पत्थर में टाँकी से उकेरे हुए न्याय से पूर्व में कहे गये सर्व ज्ञेयों को जानता है।

[ प्र० सा० ता० वृ० टीका हिन्दी—गा० २३, पृ० ५८/५९ ]

तात्पर्य यह है कि पथिक तुम्हारा यह आत्मा शुद्धात्मा अनन्तानन्त ज्ञान का भण्डार है, इसलिये वह संसारी जीवों के ज्ञान का विषय न होने से "अप्रमेय है" अथवा शुद्धात्मा अनन्तानन्त ज्ञानमय होने से प्रमाण है। प्रमेयरूप नहीं।

लोक अलोक सब ज्ञायक है जो आत्मा,
है जो अनन्त ज्ञानमयी चिदात्मा।
संसारी जीव उसको कब जान पाया,
ज्ञान अनन्त लक्षण अप्रमेय गाया ॥७३॥

**सूत्र—अतिशयस्वरूपोऽहम् ॥७४॥**

**सूत्रार्थ**—मै अतिशय स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—अतिशय किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—सामान्य जीवों/मानव में नहीं पाई जाने वाली तथा तीर्थंकर, केवली वा सिद्ध भगवान् में पाई जाने वाली गुणों की उत्कृष्टता/गुणों की प्रकर्षता या श्रेष्ठता को अतिशय कहते हैं।

**प्रश्न**—ये अतिशय किन जीवों में पाये जाते हैं ?

**उत्तर**—तीर्थंकर भगवान् के जन्म से अतिशयों का शुभारम्भ हो जाता है। सामान्य केवली भगवान् के केवलज्ञान के उत्पत्ति के बाद अतिशय होते हैं अतः अर्हन्त सिद्ध भगवान् में अतिशयो की महानता पाई जाती है।

सामान्य से तीर्थंकर भगवान् जन्म के १० अतिशय—१. स्वेद रहितता २. निर्मल शरीरता, ३. दूध के समान खून और मांस, [ क्षीरगौररुधिर-मांसत्वं [ बो. प्रा. ३२/टीका ] का होना, ४. समचतुरस्रसंस्थान का होना ५. वज्रवृषभनाराचसंहनन, ६. सुन्दर रूप का होना, ७. सुगन्धित शरीर का होना, ८. उत्तम एक हजार आठ लक्षणों का होना, ९. अनन्त बल होना और १०. प्रिय तथा हितकर वचन बोलना। ये १० अतिशय तीर्थंकर भगवान् के शरीर में जन्म से ही होते हैं।

केवलज्ञान-सम्बन्धी दस अतिशय—१. चार सौ गव्यूति पर्यन्त सुभिक्ष का होना, २. आकाश में गमन होना, ३. प्राणी का वध नहीं होना (दया का होना) ४. कवलाहार का न होना, ५. उपसर्ग नही होना, ६. चारों दिशाओं में मुख दिखना, ७. सब विद्याओं का ईश्वरपना, ८. छाया का अभाव, ९. नेत्रों के पलक नहीं झपकना और १०. नख-केशों की वृद्धि नहीं होना। ये दस अतिशय अरहन्त भगवान् को घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होते हैं।

देवकृत चौदह अतिशय—१. सर्वार्धमागधी भाषा, २. सब जनता में मंत्री भाव होना, ३. सब ऋतु के फल-फूल फलना, ४. दर्पण तल सम मनोहर भूमि का होना, ५. मन्द-सुगन्ध हवा बहना, ६. सर्व लोक में आनन्द होना, ७. भूमि तृण-कंटक-कीड़े-कंकड़ व पत्थरो से रहित होना, ८. स्तनित देवों द्वारा गन्धोदक की वर्षा, ९. भगवान् के चरणों के तले आगे-पीछे सात सात पद्मराग मणिमय केशर से युक्त आधा योजन विस्तार वाले कमलों की रचना का होना, १०. भूमि का सर्व प्रकार के अनाजों की उत्पत्ति सहित होना, ११. आकाश का निर्मल होना, १२. दिशाओं का निर्मल होना, १३. आगे-आगे आकाश मे हजार आरों से युक्त, रत्नमय तथा सूर्य के तेज को तिरस्कृत करने वाला धर्मचक्र निराधार चलना तथा १४. छत्र-ध्वजा-दर्पण-कलश-चामर-झारी-तालपत्र और ठौना इन आठ मंगल द्रव्यों का होना। ये १४ अतिशय अरहन्त भगवान् के देवोपनीत होते हैं।

अर्हन्त भगवान् की ये सब तो बाह्य उत्कृष्टताएं हैं परन्तु केवलज्ञान-दर्शन-क्षायिक-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य आदि लब्धि व आत्मा में प्रकाशमान अनन्तगुणों की अपेक्षा अरहन्त सिद्ध-परमेष्ठी अनन्त अतिशयों से युक्त हो शोभायमान हैं।

"यः परमात्मा स एवाहं"

जो अरहन्त-सिद्ध परमात्मा हैं वही निश्चयनय से में हूं। अतः मैं भी निश्चयनयापेक्षा उन्ही के समान अतिशय का धारक अनन्तगुणों का पुञ्ज हूँ।

साक्षात् अरहन्त-सिद्धावस्था व अतिशय सम्पन्नता—सातिशय पुण्य-प्राणी मात्र के कल्याण की भावना, सर्व जोवों में मैत्री भाव आदि सद्-विचार तथा रत्नत्रय की आराधना का फल है। मैं मुक्ति पथिक तद्रूप अतिशय सम्पन्न अर्हद् सिद्धावस्था की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता हुआ—सद्विचार, सदाचार तथा रत्नत्रय की सतत आराधना करता हूँ।

अतिशय श्री अरहंत सिद्ध में जैसे, शोभत हैं सुखकार,
मेरा आतम भी तिन ही सम, सदा अतिशय सुख भण्डार।
सिद्ध समान सदा सुखकारी, गुण मम आतम में बसते,
उनही जिन गुण प्राप्ति हेतु हम, शुद्ध निजातम निज भजते ॥७४॥

**सूत्र—अक्षयस्वरूपोऽहम् ॥७५॥**

**सूत्रार्थ**—मै अक्षय स्वरूप हूँ अर्थात् मैं क्षय/नाश रहित अविनाशी हूं। जैसे सिद्ध भगवान् अक्षय स्वरूप है उनका कभी नाश नहीं होता, उसी तरह मेरी शुद्धात्मा का भी कभी नाश नहीं होता।

**विशेषार्थ**—

जो सत् रूप है वह द्रव्य कहलाता है। सत्—उत्पाद व्यय-ध्रौव्य गुण युक्त है। द्रव्य—गुण-पर्याय वाला होता है। अर्थात् द्रव्य में पर्याय की अपेक्षा उत्पाद-व्यय होता है जबकि गुणापेक्षा द्रव्य ध्रौव्य है।

जीव भी एक चेतन द्रव्य है। जीव के साथ अनादिकालीन कर्मों का संयोग है। संसारावस्था में कर्मों के निमित्त से यह एक पर्याय से दूसरी पर्याय मे उत्पाद-व्यय को प्राप्त होता है। किन्तु ध्रौव्य गुण का भी अभाव नहीं होता है। दस प्राणों का संयोग जन्म और वियोग मरण कह-

जाता है तदनुसार ही नाना पर्यायों को प्राप्त होते हुए भी जीवात्मा अक्षय है।

नरक आदि पर्याय का व्यय मनुष्य आदि पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी जीवात्मा अपने चैतन्य-अमूर्तिक-असंख्यातप्रदेशी-दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि गुणों की अपेक्षा ध्रौव्य अर्थात् अक्षय स्वरूप है।

कर्म रहित शुद्धात्मा भी स्वभाव पर्यायों में परिणमन करता हुआ उत्पादव्यय सहित है फिर भी स्वगुणों की अपेक्षा अक्षय, अविनाशी, ध्रौव्य ही है।

हे पथिक ! संसार में किसी भी जीव के जन्म-मरण (उत्पाद-व्यय) को देखकर दुःख-सुख न करो, समभाव धारण करो, क्योंकि कर्मक्षय के अभाव में जीव शरीर और क्षेत्र को शरीर से शरीरान्तर बदलकर, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर मात्र होता है, उसका तीन लोक में कहीं न कहीं अस्तित्व रहता ही है, अभाव कभी नहीं होता। अतः शोकादि विकारी भावों का त्याग करो।

हे आत्मन् ! अपने अस्तित्व गुण का सदा स्मरण रखो। तुम परमात्मा, अक्षय, अविनाशी, शाश्वत हो, सदा अजर-अमर हो। अतः निर्भय हो, अपने शुद्ध चिदात्मा में विहार करो।

गुण पर्याय युक्त चिदातम, व्यय उत्पाद ध्रौव्य युत जान,
पर्यायों में व्यय उत्पाद रु, ध्रौव्य कराता गुण पहिचान।
शुद्धातम की अक्षय शक्ति, ध्रुवता गुण की अनुपम खान,
उस ही गुण का सुमिरन करता, अजर-अमर मैं महिमावान् ॥७५॥

**सूत्र—शाश्वतोऽहम् ॥७६॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शाश्वत हूँ।

**विशेषार्थ—**

मेरा अकेला आतमा परिवर्तनों से हीन है,
अतिशय विनिर्मल है सदा सद्ज्ञान में ही लीन है।
जो अन्य सब हैं वस्तुएँ वे ऊपरी ही हैं सभी,
निज कर्म से उत्पन्न हैं, अविनाशिता क्यों हो कभी ॥२६॥

—सा. पा.

"मे सासदो अप्पा" [नि. सा. १०२]

मेरा आत्मा सम्पूर्ण क्रियाकांड के आडंबर रूप विविध विकल्पों के कोलाहल से रहित सहजशुद्धचेतन को अतीन्द्रियरूप से अनुभव करता हुआ, शाश्वत अविनाशीरूप होकर मेरे लिये उपादेयरूप से विद्यमान है। अर्थात् यह आत्मा निश्चयनय से सदा ही सहज शुद्ध ज्ञानचेतना का अनुभव कर रहा है, इसलिये शाश्वत है।

हे आत्मन्! निश्चयनय से मेरा यह शुद्धात्मा विभावपरिणति से कभी परिणत न हुआ, न हो रहा है और न होगा अर्थात् त्रिकाल में मेरा चैतन्यात्मा परद्रव्य के व्यर्थ कोलाहल से रहित हुआ शुद्ध चिदातम की सहज ज्ञान चेतना का ही अनुभव करता हुआ, शाश्वत है।

मैं मुमुक्षु स्वाभाविक, अतीन्द्रिय, सहजज्ञान चेतना का ही आश्रय करता हुआ विभावपरिणति रूप, एन्द्रियरूप परिणति को छोड़ता हूँ। शुद्ध अजर-अमर-निजात्मा में अनन्तकाल के लिये निवास करता हूँ।

पर द्रव्यन की परिणति हीन, सहज सदा आतम रस लीन।
अत: सदा शाश्वत निजधाम, अपने में अपनी पहिचान ॥७६॥

**सूत्र—शुद्धस्वरूपोऽहम् ॥७७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—संसारी आत्मा होते हुए भी शुद्ध कैसे?

**उत्तर**—मैं निश्चयनय की अपेक्षा न संसारी हूँ, न मुक्त। मैं तो परम शुद्ध सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध परमात्मा हूँ। श्री नेमिचन्द्राचार्य लिखते हैं—

> मग्गणगुणठाणेहिं चउदसहिं हवंति असुद्धणया।
> विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

—द्रव्यसंग्रह

अशुद्ध नयापेक्षा संसारी जीव के चौदह मार्गणा, गुणस्थान, जीव-समास है। शुद्धनयापेक्षा सभी जीव शुद्ध हैं।

अत: मैं मुमुक्षु शुद्धस्वरूप हूँ।

संसारी जीव के व्यवहारनय से बहुत आरम्भ व परिग्रह होता है अतएव उस संसारी जीव के नरक आयु के लिये कारणभूत सम्पूर्ण मोह, राग और द्वेष विद्यमान हैं किन्तु बहुत आरम्भ व परिग्रह के अभाव से मैं

नारकपर्यायरूप नहीं होता हूँ। अतः शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवास्तिकाय स्वरूप मेरे में वह नहीं हैं। तिर्यञ्चपर्याय की कारणभूत माया से मिश्रित अशुभकर्म के अभाव से मैं तिर्यञ्च पर्याय के कर्तृत्व से रहित हूँ। मनुष्य-नामकर्म के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म के अभाव से शुद्धनिश्चयनय से मुझ में मनुष्य पर्याय नहीं है। देवगति नामकर्म के योग्य सुरस-सुगन्धित स्वभाव वाले पुद्गलद्रव्य के सम्बन्ध का अभाव होने से मुझ में देव पर्याय भी नहीं है।

शुद्धनिश्चयनय से मैं परम स्वभाव वाला जीवद्रव्य हूँ अतः चौदहभेद सहित मार्गणास्थान, जीवसमास और चौदहगुणस्थान मुझ में नहीं है।

मैं शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सुख-सत्ता-परमचैतन्य और ज्ञान की अनुभूति में लीन, विशिष्ट आत्मतत्त्व को ग्रहण करने वाला हूँ। अतः शुद्धद्रव्यार्थिक-नय से सकल मोह, राग-द्वेष मुझ में नहीं हैं।

सहजनिश्चयनय से सदा निरावरणरूप, शुद्धज्ञानस्वरूप, सहजचैतन्य-शक्तिमय, सहजदर्शन के स्फुरायमान से परिपूर्ण मूर्तिस्वरूप और स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज यथाख्यातचारित्र का धारक मैं हूँ, ऐसे मुझ परम विशुद्धात्मा में संसार के दुःखों की वृद्धि के कारणभूत ऐसे क्रोध-मान-माया और लोभ नहीं हैं।

मैं सभी विभाव पर्यायों का निश्चयनय से न करने वाला हूँ, न कराने-वाला हूँ और न करने वाले पुद्गल कर्मों का मैं अनुमोदक हूँ।

मैं नरक पर्याय को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासरूप स्वात्मा का ही सम्यक्प्रकारेण अनुभव करता हूँ। मैं तिर्यञ्च, मनुष्य, देवादि पर्यायों को भी नहीं करता हूँ, मात्र सहज चैतन्य के विलासरूप सहजा-नन्दमयी निजात्मा का ही सम्यक्प्रकारेण अनुभव करता हूँ।

मैं गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा आदि के भेदों को नहीं करता हुआ मात्र सहज चैतन्य के विलासरूप निजानन्द रस का सम्यक् प्रकार से आस्वादन करता हूँ।

मैं शरीर में होने वाली बाल-युवा-वृद्धावस्थाओं के भेद को नहीं करता हूँ तथा रागादि भावकर्म व क्रोध-मान-माया लोभ आदि कषायों को भी नहीं करता हुआ, मात्र सहजानन्द चैतन्यविलास से उत्पन्न निजानन्दरस का ही सम्यक् प्रकार से अनुभव करता हूँ।

हे मुक्ति पथिक ! यद्यपि संसारी जीवों के संसार अवस्था में नर-नारकादि विभावपर्यायें, जीवस्थान, मार्गणा, रागादि विभावपरिणाम आदि विद्यमान हैं फिर भी शुद्ध निश्चयनय से ये कुछ भी जीव में नहीं हैं। अतः प्रतिक्षण यह चिन्तन करो कि "शुद्धनिश्चयनय से मैं राग-द्वेष, नर-नारकादि पर्यायों के विभाव भाव आदि का न कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न अनुमोदक ही हूँ। फिर कौन हूँ ?—मैं तो केवल चिच्चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा का ही अनुभव करने वाला हूँ। परमशुद्ध स्वरूप हूँ।

**प्रश्न**—परमशुद्ध स्वरूप की भावना भाने का फल क्या है ?

**उत्तर**—परमशुद्ध स्वरूप की भावना करते हुए एक दिन ऐसा पावन आयेगा कि उस शुद्धस्वरूप में पूर्णतन्मयता हो जावेगी तथा तभी मोहनीय कर्म का नाश होकर स्वात्मा में ज्ञानसूर्य प्रकट हो जावेगा। अतः जब तक आत्मस्वरूप में पूर्ण स्थिरता नहीं आती तब तक परमशुद्ध आत्मस्वरूप की भावना करते रहना चाहिये।

परमशुद्धनय से मम आतम, विभाव भाव से शून्य है,
चित् चैतन्य विलास भाव के आस्वादन में लीन है।
पर परिणति का कर्त्ता नहीं मैं, कारित अरु अनुमोदक नहि जान,
सहज शुद्ध चेतन विलास का, भोक्ता हूँ यह निश्चय मान ।।७७।।

## सूत्र—सिद्धस्वरूपोऽहम् ।।७८।।

**सूत्रार्थ**—मैं सिद्ध स्वरूप हूँ। जिस प्रकार सिद्ध भगवान् समस्त कर्मों को नष्ट कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं, उसी प्रकार मेरी यह शुद्धात्मा भी समस्त कर्मों से रहित सिद्धस्वरूप ही है।

**विशेषार्थ**—

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीवतारिसा होंति।
जरमरणचम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ।।४७।।

—नियमसार

जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसे भव को प्राप्त संसारी जीव होते हैं। जिससे वे जन्म-मरण और जरा से रहित हैं तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं। अर्थात् जिस नय से व सिद्ध सदृश हैं उसी नय से वे जन्मादि से रहित और अष्टगुणों से सहित हैं।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से संसारी जीवों में और मुक्तजीवों में कुछ अन्तर नहीं है। अतः मैं सिद्ध स्वरूप हूँ। शुद्ध निश्चयनय से मैं सिद्ध जीवों के सदृश शुद्ध ही हूँ। कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं हूँ।

निश्चयनय की अपेक्षा से जैसे सिद्धात्मा अशरीरी हैं वैसे मैं भी निश्चयनय अपेक्षा अशरीरी हूँ। जैसे सिद्धात्मा नरक-नारक आदि पर्यायों के छोड़ने-ग्रहण करने का अभाव होने से अविनाशी हैं वैसे मैं भी स्वभाव से अविनाशी हूँ। जैसे सिद्धात्मा विभाव स्वभावों के अभाव से निर्मल हैं वैसे मैं भी निर्मल हूँ तथा सिद्धसम द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म से रहित मैं विशुद्धात्मा हूँ।

परमशुद्धनयापेक्षा मैं सिद्धस्वरूप हूँ न कि व्यक्त गुणपर्यायों की अपेक्षा। अतः अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा रखता हुआ मैं विशुद्ध सिद्ध-पर्याय की साक्षात् अभिव्यक्ति का पुरुषार्थ करता हूँ। "मुमुक्ष" मैं सिद्ध-स्वरूप हूँ इस प्रकार की भावना निरन्तर करते रहो, क्योंकि लक्ष्य प्राप्ति के लिये यह भी एक साधन है।

यथा लोक के अग्रभाग में, सिद्ध प्रभूजी राजते,
तथा देह के देवालय में, आतम सिद्ध विराजते।
धरूँ ध्यान मैं प्रतिपल तेरा, कोटि कर्म तब भागते,
अनुभव रस का पान करत हम, आनन्दामृत पावते ॥७८॥

## सूत्र—सोऽहम् ॥७९॥

सूत्रार्थ– मैं वही हूँ, कौन ? "यः परमात्मा स एवाहं—जो परमात्मा हैं वही मैं हूँ। जिस प्रकार सिद्ध परमात्मा की परम शुद्ध आत्मा शुद्ध, निरञ्जन है, वैसा ही मैं हूँ।

**विशेषार्थ—**

शंका—संसारी जीव का "सोऽहम्" मैं वही हूँ जो परमात्मा हैं क्या ऐसा चिंतन करना उचित है ? क्योंकि कहाँ कर्मरहित सिद्ध भगवान् और कहाँ कर्म सहित संसारी मैं ?

समाधान—संसारी जीव भी किसी नय अपेक्षा सिद्ध सम है अतः उसका सोऽहम् रूप चिन्तन उसकी उन्नति का द्योतक है। वह कैसे ? अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप का ही अनुभव करने वाला परमात्मा है और

सांसारिक विषय भोगों में भटकने वाला, व्याकुल बना हुआ संसारी, दुःखी बहिरात्मा है। यदि बाहरी दृष्टि को छोड़कर संसारी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में निमग्न होकर अपने कर्म मैल को बिल्कुल अपने आत्म-ध्यान द्वारा धो डालता है तो वही संसारी दुःखी-व्याकुल आत्मा परम शुद्ध, अनन्त, अक्षय सुखी परमात्मा बन जाता है। इसलिये मुमुक्षु संसारी जीव का जो मैं हूँ सो परमात्मा और जो परमात्मा हैं सो मैं हूँ चिंतन उचित ही है।

हे मुमुक्षु पथिक! "चिंतय सोऽहम् वा सोऽहम् इति निरन्तरं" [सु. ध्या. पृ० ३२] "मैं वही परमात्मा हूँ, वही परमात्मा हूँ" ऐसा निरन्तर चिंतन कर। तथा स्वस्थ मन से स्वयं इसके चिन्तन का अभ्यास करो। इस प्रकार चिन्तन करने से बुद्धि परमात्मा में लग जाती है और यह मन अपने आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा में स्थिर हो जाता है।

सोऽहम् का चिन्तन करने वाला आत्मा अपने स्वात्मा मे ही स्थिर हो जाता है और उत्तम सम्यग्दर्शन को धारण कर चिदानन्द अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसी सोऽहम् का चिंतक अपने भावश्रुत ज्ञान से शरीर में रहने वाले अपने आत्मा को समझ लेता है और फिर अपने आत्मा मे ही स्थिर हो जाता है तथा शुद्धोपयोग का धारक शुद्ध हो जाता है। वही आत्मा अपने अन्तरंग से अपने ही आत्मा में स्वयं अपने आत्मा का आराधन करता हुआ कभी नाश न होने वाले परमात्मपद को बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा मैं हूँ वही, जो हूँ वही परमात्म।<br>
कर्मों का हो खातमा, मैं वह एक समान ॥७९॥

**सूत्र—घातिचतुष्टयरहितोऽहम् ॥८०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं चार घातिया कर्मों से रहित हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—कर्म किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं।

**प्रश्न**—घाति चतुष्टय किसे कहते हैं?

उत्तर—चार घातिया कर्मों को घाति चतुष्टय कहते हैं—ज्ञानावरण दर्शनावरण-मोहनीय और अन्तराय।

प्रश्न—घातिया कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो जीव के दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि अनुजीवी गुणों का घात करें, वे घातिया कर्म कहलाते हैं।

ज्ञानावरण कर्म–जीव के केवलज्ञान रूप अनन्त ज्ञान गुण का घात करता है। दर्शनावरण कर्म–जीव के क्षायिक दर्शन/केवलदर्शन रूप अनन्त-दर्शन गुण का घात करता है। मोहनीय कर्म-जीव के स्वाभाविक अनन्त सुख का घात करता है तथा अन्तराय कर्म–अनन्त वीर्य गुण का घात करता है।

अरि हननात् अरिहन्त = घातिया कर्मरूपी शत्रु का हनन जिस आत्मा के द्वारा हो चुका है ऐसे आत्मा अरिहन्त परमात्मा कहलाते हैं। जैसे अरिहन्त परमात्मा का स्वरूप चारों घातिया कर्मों से पूर्ण रहित हैं वैसे ही मेरी आत्मा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा परम शुद्ध घाति-चतुष्टय से रहित है। मेरा शुद्ध आत्मा द्रव्यार्थिक नयापेक्षा पूर्व में भी कर्म से रहित था, वर्तमान में भी स्वभाव से घातिया कर्मों से रहित है। मैं उसी स्वाभाविक शुद्ध दशा की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता हुआ घातिया कर्मों से रहित अरिहन्त समान सहजानन्दी आत्मा का बार-बार चिन्तन करता हूँ।

घाति-चतुष्टय रहित निजातम, निशदिन चिंतन कर रे कर,
जड़ कर्मों को पर ही समझकर, निज में प्रीति कर रे कर।
तू चेतन अरु कर्म अचेतन, क्या कर लेंगे, कर रे कर,
निज आतम में परमातम का, ध्यान निरन्तर कर रे कर ॥८०॥

सूत्र—अष्टादशदोषरहितोऽहम् ॥८१॥

सूत्रार्थ—मैं अठारह दोषों से रहित हूँ। अर्थात् अरहंत भगवान् जैसे अठारह दोषों से रहित हैं वैसे ही मेरी यह शुद्धात्मा भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अठारह दोषों से रहित है।

विशेषार्थ—

प्रश्न—दोष किसे कहते हैं ? वे कितने हैं ?

उत्तर—स्वभाव से विपरीत परिणति ही दोष है। अर्थात् विभाव परिणाम ही दोष कहलाते हैं। ऐसे दोष सामान्यतः अनेक हैं फिर भी मुख्यरूप से अठारह कहे गये हैं। कुन्दकुन्द आचार्य के अनुसार—

छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजामिच्चू।
सेदं खेदं मदो रइ, बिम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥
—नियमसार

**क्षुधा**—असाता वेदनीय कर्म के निमित्त तीव्र मन्द क्लेश को उत्पन्न करने वाली क्षुधा है।

**तृषा**—असातावेदनीय के तीव्र, तीव्रतर अथवा मंद, मंदतर उदय से तृषा उत्पन्न होती है।

**भय**—नोकषाय के उदय से भय होता है यह इहलोक भय, परलोकभय, अरक्षाभय, अगुप्ति भय, मरण भय, वेदना भय और आकस्मिक भय के भेद से सात प्रकार का है।

**रोष**—क्रोध रूप तीव्र कषाय परिणाम को रोष कहते हैं।

**राग**—दान-शील-उपवास-वैय्यावृत्ति आदि में होने वाला राग प्रशस्त है और स्त्रीकथा, राजकथा, चौरकथा आदि के कहने सुनने रूप कौतूहल अप्रशस्त राग है।

**मोह**—दर्शनचारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेक रूप परिणाम मोह है।

**चिंता**—आर्त्तरौद्र ध्यान सम्बन्धी चिन्तन चिन्ता है।

**जरा**—आयु के निमित्त से होने वाले मनुष्य व तिर्यंचों के शारीरिक विकार को जरा कहते हैं।

**रुजा**—वात-पित्त-कफ की विषमता उत्पन्न शारीरिक पीड़ा रुजा है।

**मृत्यु**—पाँच इन्द्रिय-तीन बल-आयु और श्वासोच्छ्वास का विनाश मृत्यु है।

**पसीना**—अशुभ कर्मोदय से होने वाले शारीरिक श्रम से उत्पन्न होने वाली दुर्गन्ध से सम्बन्धित वासना से वासित जल-बिन्दुओं के समूह को पसीना कहते हैं।

**खेद**—अनिष्ट के संयोग से होने वाला परिणाम खेद है।

**मद**—आत्मा में अहंकार को उत्पन्न करने वाला मद कहलाता है।

**रति**—रुचिकर वस्तुओं में परमप्रीति होना रति है।

**विस्मय**—पूर्व काल में नहीं देखी वस्तु को अचानक देखने पर होने वाला परिणाम विस्मय है।

जन्म—शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से देव-मनुष्य-नरक-तिर्यञ्च आयु में जन्म लेना जन्म है।

निद्रा—दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान ज्योति का अस्त हो जाना निद्रा है।

उद्वेग—इष्ट वियोग में होने वाले परिणाम उद्वेग है।

यद्यपि इन महादोषों से तीन लोक व्याप्त हो रहा है फिर भी निश्चय-नयापेक्षा प्रत्येक जीवात्मा कर्मों से रहित निर्दोष है। मैं भी सर्वकर्मों से मुक्त, सर्वदोषों से रहित निर्दोष परमात्मा हूँ। विभाव परिणाम मेरा स्वभाव नहीं। अतः मैं विभाव परिणामों से मुक्त अरहन्त परमेष्ठो के समान अष्टादश दोषों से रहित, निर्दोष परम शुद्धात्मा हूँ।

घाति कर्म चकचूर किये जिन, दोष अठारह रहित हुए,
अपने रूप तेज पुञ्ज से, निजानन्द भरपूर हुए।
मेरा शुद्धातम भी उन सम, निर्दोषी अविकारी है,
निशदिन धरूँ ध्यान में निजका, अमल अदोष सुखकारी है ॥८१॥

क्षुधा तृषादिक दोष न तुझ में, इनसे नाता तज रे तज,
निर्दोषी आतम को लखकर, पर से नाता तज रे तज।
पुद्गल की पुष्टि करने को, कर फैलाना तज रे तज,
निज गुण की अमृत प्याली भर, आतम गुण को भज रे भज ॥८१॥

## सूत्र—पञ्चकल्याणकांकितोऽहम् ॥८२॥

सूत्रार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मैं पञ्चकल्याणक वैभव से सहित हूँ। जिस प्रकार श्री तीर्थंकर परमदेव गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान व मोक्ष कल्याणकों के स्वामी होते हैं वैसे ही मेरा चिदानन्दात्मा भी स्व-पर कल्याणकारक कल्याणक से विभूषित है।

विशेषार्थ—

प्रश्न—कल्याणक किसे कहते हैं ?

उत्तर—"कल्याणं करोति इति कल्याणक" पूज्य महापुरुषों के जीवन के पाँच अवसर ( गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान व मोक्ष ) जो जगत् के प्राणी मात्र के लिये कल्याण व मंगलकारी होते हैं उन्हें कल्याणक कहते हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

जिस जीव के भीतर प्राणी मात्र के कल्याण या हित की भावना

रहती है वह जीव अनुकम्पा परिणाम व अपाय-विचय धर्म्यध्यान के बल से सोलहकारणभावनाओं को भाने वाला तीर्थंकर प्रकृति (सातिशय पुण्य प्रकृति) का बन्धक हो पञ्चकल्याणक विभूति का स्वामी होता है।

जो पुण्यात्मा जीव गर्भ में ही तीर्थंकर प्रकृति लेकर आते हैं वे पञ्च-कल्याणक के स्वामी बनते हैं परन्तु जिनने चरम भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया है वे यथासम्भव तीन व दो कल्याणक के भी स्वामी होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति रूप सातिशय पुण्य के बिना अन्य सामान्य जीवों के कल्याणक नहीं होते हैं।

**गर्भकल्याणक**—भगवान् के गर्भ में आने से छह मास पूर्व से लेकर जन्म पर्यन्त १५ मास तक उनके जन्म स्थान में कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार ३॥ करोड़ रत्नों की वर्षा होती रहती है। दिक्कुमारी देवियाँ माता की परिचर्या व गर्भ शोधना करती हैं। गर्भवाले दिन से पूर्व रात्रि को माता को १६ उत्तम स्वप्न दिखाई देते हैं, जिन पर भगवान् का गर्भावतरण निश्चय कर माता-पिता प्रसन्न होते हैं।

**जन्मकल्याणक**—भगवान् का जन्म होने पर देवभवनों व स्वर्गों आदि मे स्वयं घण्टे आदि बजने लगते हैं और इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं जिससे उन्हें भगवान् के जन्म का निश्चय हो जाता है। सभी इन्द्र व देव भगवान् का जन्मोत्सव मनाने को बड़ी धूमधाम से पृथ्वी पर आते हैं। अहमिन्द्र जन अपने-अपने स्थान पर ही सात पग आगे आकर भगवान् को परोक्ष नमस्कार करते हैं। दिक्कुमारी देवियाँ भगवान् के जातकर्म करती हैं। कुबेर नगर की अद्भुत शोभा करता है। इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूतिगृह में जाती है, माता को माया निद्रा से सुलाकर उसके पास एक मायामयी पुतला लिटा देती है और बालक भगवान् को लाकर इन्द्र की गोद में दे देती है। इन्द्र उनका सौन्दर्य देखने के लिये १००० नेत्र बनाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। ऐरावत हाथी पर भगवान् को लेकर इन्द्र सुमेरु पर्वत की ओर चलता है। वहाँ पहुँचकर पाण्डुक शिलापर भगवान् का क्षीरसागर से देवों के द्वारा लाये गये जल के १००८ विशाल कलशों के द्वारा इन्द्राणी सहित अभिषेक करता है। तदनन्तर बालक को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर नगर में देवों सहित महान् उत्सव के साथ प्रवेश करता है। बालक के अँगूठे में अमृत भरता है, और ताण्डव नृत्य आदि अनेकों मायामयी आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रकट कर स्वर्गलोक को लौट जाता है। दिक्कुमारी देवियाँ भी अपने-अपने स्थानों पर चली जाती हैं। (ह० पु०)

**तपकल्याणक**—कुछ काल तक राज्य विभूति का भोग करने के पश्चात् किसी एक दिन कोई कारण पाकर भगवान् को वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय ब्रह्म स्वर्ग से लौकान्तिक देव भी आकर, उन्हें वैराग्य, वर्द्धक सम्बोधन देकर, वैराग्य की अनुमोदना करते हैं। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हें वस्त्राभूषण से अलंकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकी में भगवान् स्वयं बैठ जाते हैं। इस पालकी को पहले तो मनुष्य कन्धों पर लेकर कुछ दूर पृथिवी पर चलते हैं और देव लोग लेकर आकाश मार्ग से चलते हैं। तपोवन में पहुँचकर भगवान् सिद्ध साक्षीपूर्वक वस्त्रालंकार का त्याग कर, केशों का लुञ्चन कर देते हैं। और दिगम्बर मुद्रा धारण करते हैं। इन्द्र उन केशों को एक मणिमय पिटारे में रखकर क्षीरसागर में क्षेपण करता है। दीक्षा स्थान तीर्थ स्थान बन जाता है। भगवान् बेला-तेला आदि के नियमपूर्वक "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" कहकर स्वयं दीक्षा ले लेते हैं क्योंकि वे स्वयं जगद्गुरु हैं। नियम पूरा होने पर आहारार्थ नगर में आते हैं और यथाविधि आहार ग्रहण करते हैं। दातार के घर पञ्चाश्चर्य प्रगट होते हैं। [ ह० पु० ]

**ज्ञानकल्याणक**—यथाक्रम ध्यान की श्रेणियों पर आरूढ़ होते हुए चार घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर भगवान् को केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्य लक्ष्मी प्राप्त होती है। तभी आठ प्रातिहार्य प्रकट होते हैं। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवशरण रचता है जिसकी रचना से जगत् चकित होता है। १२ सभाओं में यथास्थान देव-मनुष्य-तिर्यञ्च-मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका आदि सभी बैठकर भगवान् के उपदेशामृत का पान कर जीवन सफल करते हैं।

भगवान् का विहार बड़ी धूम-धाम से होता है। याचकों को किमिच्छक दान दिया जाता है। भगवान् के चरणों के नीचे देव लोग सहस्रदल स्वर्ण कमलों की रचना करते हैं और भगवान् इनको भी स्पर्श न करके अधर आकाश में ही चलते हैं। आगे-आगे धर्मचक्र (सहस्रों आरा वाला) चलता है। बाजे नगाड़े बजते हैं। पृथिवी, ईति, भीति रहित हो जाती है। इन्द्र राजाओं के साथ आगे-आगे जय-जयकार करते चलते हैं। मार्ग में सुन्दर क्रीडा स्थान बनाये जाते हैं। मार्ग अष्टमंगल द्रव्यों से शोभित रहता है। भामण्डल, छत्र, चमर स्वतः साथ-साथ चलते हैं। ऋषिगण पीछे-पीछे चलते हैं। इन्द्र प्रतिहार बनता है। अनेकों निधियाँ साथ-साथ चलती हैं। विरोधी जीव वैर विरोध भूल जाते हैं। अन्धे-बहरों को भी दिखने सुनने लग जाता है।

**निर्वाणकल्याणक**—अन्तिम समय आने पर भगवान् योग निरोध द्वारा ध्यान में निश्चलता कर चार अघातियाँ कर्मों का भी नाश कर देते हैं और निर्वाण धाम को प्राप्त होते हैं। देव लोग निर्वाण कल्याणक की पूजा करते हैं। भगवान् का शरीर काफूर की भाँति उड़ जाता है। इन्द्र उस स्थान पर भगवान् के लक्षणों से युक्त सिद्धशिला का निर्माण करता है।

चार घातिया कर्मों से रहित अरहन्त भगवान् ऐसी पंचकल्याणक विभूति से शोभायमान होते हैं वैसे ही मेरा परमशुद्धात्मा भी अरहन्त भगवान् के समान पञ्चकल्याणक का स्वामी है। बस! कर्मों के आवरण से लिपटा अपनी निधि को व्यक्त करने में असमर्थ रहा। मैं आज अपनी निधि की पहचान करता हुआ निजानन्द वैभव को साक्षात् प्राप्त करने के लिये परम पुरुषार्थ प्रारम्भ करता हूँ। चार आराधनाओं का सम्बल साथ ले मुक्ति पथ में अग्रसर होता हूँ।

> कर कर तू अनुकम्पा आतम,
> सर्वं प्राणी में समता भावं।
> कुरु कुरु निजकार्यं निप्रमादं,
> भव भव कल्याणक निधिभाजं ॥८२॥

**सूत्र—अष्टमहाप्रातिहार्यविशिष्टोऽहम् ॥८३॥**

**सूत्रार्थ**—शुद्ध निश्चयनय से मेरा शुद्धात्मा आठ महाप्रातिहार्यों से सहित है अर्थात् जिस प्रकार अरहन्त भगवान् छत्रादि आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित होते हैं। उसी प्रकार मेरे देह देवालय में स्थित शुद्ध परमात्मा भी अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त हैं, क्योंकि "सोऽहम्" में वही हूँ जो अरहन्त परमात्मा हैं।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—प्रातिहार्य किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जो भव्यात्माओं के मन हरण करते हैं वे प्रातिहार्य कहलाते हैं। अष्ट प्रातिहार्य—

> तरु अशोक के निकट में सिंहासन छविदार,
> तीनछत्र सिर पै लसे भामण्डल पिछवार।
> दिव्यध्वनि मुखतें खिरे, पुष्पवृष्टि सुर होय,
> ढोरे चौंसठ चँवर जख, बाजे दुन्दुभि जोय॥

१. अशोक वृक्ष २. सिंहासन ३. तीन छत्र ४. भामण्डल ५. दिव्यध्वनि ६. पुष्पवृष्टि ७. चौसठ चँवर ढुरना और ८. दुन्दुभिनाद।

हे पथिक ! संयोगजन्य घातिया कर्म रूप विभावपरिणति का अभाव होते ही देह देवालय में स्थित परम प्रभु परमात्या प्रगट/साक्षात् प्राप्त हो जाता है। तभी सातिशय पुण्यात्मा अरहंत परमेष्ठी आठ प्रातिहार्य रूप बाह्य लक्ष्मी से शोभायमान होते हैं। मेरा चिदानन्दात्मा अर्हन्त स्वरूप आत्मरूप की प्राप्ति होते ही स्वयं अरहंत समान आठ प्रातिहार्य का स्वामी है; क्योंकि वह वही है जो अरहंत परमात्मा हैं।

**प्रश्न**—इन अष्टप्रातिहार्यों की प्राप्ति कौन भव्यात्मा करता है ?

**उत्तर**—जिसने पूर्व में उद्यान में वृक्ष आदि की छाया का त्याग कर तपश्चरण किया था उसे अरहत अवस्था में महा अशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है। जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदों का त्याग करके दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ़ होकर तीर्थ को प्रसिद्ध करने वाला अर्थात् तीर्थंकर होता है। जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रहों का त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नों से युक्त तीन छत्रों से सुशोभित होता है। जो मुनि अपने मणि और तेल के दीपक आदि का तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह प्रभामण्डल से उज्ज्वल हो उठता है। चूँकि यह मुनि वचन गुप्ति को धारण अथवा हित-मित वचन रूप भाषा समिति का पालन कर तपश्चरण में स्थित हुआ था इसलिये ही इसे इस समस्त सभा को सन्तुष्ट करने वाली दिव्यध्वनि प्राप्त हुई है। अनेक प्रकार के पंखाओं के त्याग से जिसने तपश्चरण की विधि का पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्र पर्याय में चौसठ चमरों से वीजित होता है अर्थात् उस पर चौंसठ चमर ढुलाये जाते हैं। जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजय का उदय स्वर्ग दुन्दुभियों के गम्भीर शब्दों से घोषित किया जाता है।

[ बोध पा० गा० ५९ हिन्दी अनुवाद, पृ० २३८-४० ]

जो भव्यात्मा जिनेन्द्र चरणों में सुगन्धित पुष्पों का अर्पण करता है तथा पुष्पवृष्टि करता है, कामदेव को जीतता है वह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य को प्राप्त करता है।

संक्षेप में इतना समझ लेना चाहिये कि मुनि संकल्प-रहित होकर जिस-जिस वस्तु का परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही

वही वस्तु उत्पन्न कर देता है। [ बोध पा० ]

हे पथिक ! बाहर में निजसम्पत्ति को खोजना ठीक नहीं। दिगम्बरत्व अवस्था धारण कर संकल्प रहित निर्दोष तपश्चरण का आश्रय करो, सहज अरहंत अवस्था स्वयमेव तुम्हें शीघ्र प्राप्त होगी। भेद विज्ञान खिड़की से अन्दर झाँककर, विभावरूप/विकारी संयोगजन्य अवस्थाओं का त्याग होते ही तुम स्वयं अष्टमहाप्रातिहार्यों से युक्त परम प्रभु परमात्मा अर्हंत परमेष्ठी हो—

प्रातिहार्य जो अष्ट शोभते, मम आतम की बलिहारी,
वे तो जड़ हैं मैं चेतन हूँ, लक्ष्मी पुण्य की है दासी।
कहाँ भटकता पर पदार्थ में, ज्योतिपुञ्ज ओ ज्ञानमयी,
अरहत सम अर्हंत ही तेज पुञ्ज से, मम आतम की बलिहारी ॥८३॥

**सूत्र—चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतोऽहम् ॥८४॥**

**सूत्रार्थ**—भगवान् श्रीअरहन्त के समान मेरा यह शुद्ध आत्मा भी निश्चय से चौंतीस अतिशयों से सुशोभित है।

**विशेषार्थ**—

तीर्थंकर अरहन्त जन्म से ही दस अतिशयों से शोभायमान रहते हैं—

**जन्म के १० अतिशय**—१-स्वेद रहितता, २-निर्मल शरीरता, ३-दूध के समान धवल रुधिर, ४-वज्रवृषभनाराचसंहनन, ५-समचतुरस्रसंस्थान, ६-अनुपमरूप, ७-नृपचम्पक के समान उत्तम गन्ध को धारण करना, ८-१००८ उत्तम लक्षणों का धारण, ९-अनन्त बल, १०-हितमित एवं मधुर भाषण, ये स्वाभाविक अतिशय के १० भेद हैं जो तीर्थंकरों के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

**केवलज्ञान के ११ अतिशय**—१-अपने पास से चारों दिशाओं में एक-सौ योजन तक सुभिक्षता, २-आकाशगमन, ३-हिंसा का अभाव, ४-भोजन का अभाव, ५-उपसर्ग का अभाव, ६-सबकी ओर मुख करके स्थित होना, ७-छाया रहितता, ८-निर्निमेष दृष्टि, ९-विद्याओं की ईशता, १०-सजीव होते हुए भी नख और रोमों का समान रहना, ११-अठारह महाभाषा तथा सात सौ क्षुद्रभाषा युक्त दिव्यध्वनि। इस प्रकार घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए ये महान् आश्चर्यजनक ११ अतिशय तीर्थंकरों के केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रकट होते हैं।

**देवकृत १३ अतिशय**—१-तीर्थंकरों के माहात्म्य में संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्रफूल और फलों की वृद्धि से संयुक्त हो जाता है,

२-कंटक और रेती आदि को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है, ३-जीव पूर्व वैर को छोड़कर मैत्रीभाव से रहने लगते हैं, ४-उतनी भूमि दर्पणतल के सदृश स्वच्छ और रत्नमय हो जाती है, ५-सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करते हैं, ६-देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूतशालि जो आदि सस्य रचते हैं, ७-सब जीवों को नित्य आनंद उत्पन्न होता है, ८-वायुकुमारदेव विक्रिया से शीतल पवन चलाता है, ९-कूप और तालाब आदिक निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं, १०-आकाश धुआं और उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है, ११-सम्पूर्ण जीवों को रोगादि की बाधाएँ नहीं होती हैं, १२-यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित और किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों के देखकर जनों को आश्चर्य होता है, १३-तीर्थंकरों के चारों दिशाओं में ( व विदिशाओं में ) छप्पन सुवर्ण कमल, एक पादपीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजन द्रव्य होते हैं। [ ति० प० ८९६-९१४ ]

**केवल भावार्थ**

हे आत्मन् ! अर्हन्त अवस्था मेरी परमशुद्धात्मा का निज स्वभाव है। घातिया कर्म मेरी विभाव परिणति है, इनका मेरे साथ संयोग संबंध मात्र है। नीति है—"जहाँ संयोग है वहाँ वियोग अवश्य है"। कर्मों के संयोग का अभाव होते ही, घातिया कर्मों से रहित हुआ मैं भी चौंतीस अतिशयों से सम्पन्न परम वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी हूँ।

हे पथिक ! अरहंत अवस्था की शक्ति मुझ में त्रिकाल विद्यमान है परन्तु मात्र शक्ति से पूज्यपना या सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस परमावस्था की शक्ति तो निगोदिया जीव में भी है पर क्या उन्हें अर्हन्त सम सुख है, नहीं। अतः हे आत्मन् ! इस अनन्त शक्तियुक्त परमात्मा को साक्षात् करने का पुरुषार्थ करो।

उस पुरुषार्थ की प्रथम सीढ़ी परम-पद में स्थित जिनों की त्रिकाल भक्तिपूर्वक वन्दना करो, उनके गुणों में प्रीति करो तथा उन्हीं सम देह-देवालय में स्थित निज परमात्मा की स्तुति, वन्दना, भक्ति कर अपने स्वरूप में रमण कर जाओ; बस ! तुम्हारा चौंतीस अतिशय युक्त परमात्मा तुम्हारे ही भीतर प्रकट हो जायेगा।

कितना सुन्दर तेरा प्रभुवर, चौंतिस अतिशय युक्त अहो,
मोती-माणिक-हीरा पन्ना, का भी वैभव तुच्छ गहो।
उसी वैभव को झांक, झरोखा भेदविज्ञान का खरा अहो,
तेरा अरहंत कितना सुन्दर, तुझ में विराजे लखत रहो ॥८४॥

**सूत्र—शतेन्द्रवृन्दवंद्यपादारविन्दवन्सोऽहम् ॥८५॥**

**सूत्रार्थ**—मुझ शुद्धात्मा के चरणकमल सौ इन्द्रों से वन्दनीय हैं अर्थात् जिस प्रकार भगवान् अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी के पावन चरण-कमल सौ इन्द्रों द्वारा वन्दनीय होते है वैसे ही मेरे भी चरण-कमल सौ इन्द्रों से वन्दनीय हैं, क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से मै भी अरहन्त परमेष्ठी-सिद्धपरमेष्ठी के समान हूँ। "सोऽहम्"।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—सौ इन्द्र कौन से है ?

**उत्तर**—भवणालयचालीसा वितरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामरचउवीसा चन्दो सुरो णरो तिरियो॥

—द्रव्यसंग्रह से क्षेपक

भवनवासी देवों के ४०, व्यन्तरों के ३२, कल्पवासी देवों के २४, ज्योतिषी देवो के चन्द्र-सूर्य, मनुष्य का चक्रवर्ती और तिर्यञ्चों का अष्टापद ऐसे ४०+३२+२४+२+१+१=१०० इन्द्र हैं; जिनसे परमात्मा वन्दनीय होते हैं।

हे पथिक! तीन लोक का नाथपना तेरा अपना स्वभाव है। जब पर के संयोग का अभाव कर तीन लोक का राज्य तू प्राप्त कर लेगा तो तू अर्हंत पद स्व पद को प्राप्त होगा और सैकड़ों इन्द्र देव के द्वारा तू वन्दनीय होगा। अपनी सम्पत्ति जो भूल गये हो, स्मरण करो।

सौ इन्द्रों से वन्दित आतम, जगत् भिखारी बना हुआ,
डोल रहा क्यो इस दुनिया मे, हाथ फैलाकर रँगा हुआ।
अपना वैभव निज में पाओ, देखो महिमा भरा हुआ,
तीन लोक की सम्पत् पाकर, लोक अग्र में रचा हुआ॥८५॥

हे आत्मन्! जो एक बार भी अरहंत-सिद्ध परमात्मा को भाव-भक्ति पूर्वक वन्दना करता है वह निज वैभव की खोज कर उसे पाता है और स्वयं त्रिलोक वन्दनीय हो जाता है। इसलिये प्रथमावस्था में त्रिलोक बन्दनीय की वन्दना, आराधना में मन लगाओ। फिर सोऽहं तत्त्व के द्वारा निजशक्ति का अनुभव करो, यही क्रम है।

जो सब प्रकार की इच्छाओं का त्याग कर अपने गुणों की प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दा में समभाव रखता है, वह तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब

लोग उसकी स्तुति करते हैं। चूँकि इस मुनि ने वन्दना करने योग्य अरहन्त देव की वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिये यह वन्दना करने के योग्य पूज्य पुरुषों के द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणों का भण्डार हुआ है। [ बो० पा० पृ० २३९ ]

**सूत्र—विशिष्टानन्तचतुष्टयसमवशरणादिविभूतिरूपान्तरंगबहिरंगश्रीसमेतोऽहम् ॥८६॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार भगवान् अरहंतदेव अनन्तचतुष्टय रूप अन्तरंग-विभूति और समवशरण रूप बहिरंगविभूति से सुशोभित हैं। उसी प्रकार मेरी यह शुद्धात्मा भी अनन्त-चतुष्टयरूप अन्तरंगविभूति और समवशरण-रूप बहिरंग-विभूति से सुशोभित है।

**विशेषार्थ**—

हे आत्मन्! परिग्रह का त्याग करने का उपदेश देने वाले अरहंतदेव स्वयं अक्षुण्ण लक्ष्मी से शोभायमान हो रहे हैं कैसा आश्चर्य है। सच है जो लक्ष्मी का त्याग करता जाता है, लक्ष्मी उसके पीछे दौड़ती है और जो लक्ष्मी के पीछे दौड़ता है लक्ष्मी उससे दूर भागती है।

**प्रश्न**—अरहन्त भगवान् की अन्तरंग लक्ष्मी/श्री कौन-सी है?

**उत्तर**—अरहन्त भगवान् की चार घातिया कर्मों के क्षय से प्राप्त अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्तचतुष्टय रूप अन्तरंग लक्ष्मी है।

**प्रश्न**—बहिरंग लक्ष्मी कौन-सी है?

**उत्तर**—समवशरणादि बहिरंग लक्ष्मी हैं।

अरहन्त भगवान् दोनों लक्ष्मी से शोभायमान रहते है। समवशरण लक्ष्मी मानों चारों ओर पंख फैलाकर अरहंत प्रभु को फँसाने का प्रयत्न करती है, पर सुमेरु पर्वत सम अडिग वे कमल से भी चार अंगुल अधर आकाश में विराजमान रहते हैं। नश्वर पुण्य की चेरी उसकी ओर मुँह मोड़कर भी नहीं देखते हैं, स्पर्श तो बहुत दूर। धन्य है। वीतरागी पुरुष में राग की कणिका भी प्रवेश नहीं कर सकती।

**प्रश्न**—समवशरण क्या वस्तु है?

**उत्तर**—सम् + अव + शरण = सम याने समता रस को अवगम याने प्राप्त महापुरुष की शरण = समवशरण अथवा समवसरण-उत्तम समता रस के फल का प्रतीक अथवा अहिंसा का प्रतीक समवशरण।

सूखक तालाब भरे जल से, फल फूल छहों ऋतु के फल लावें,
नाहरनि दूध पिलावत गोसुत, नाहरनी के सुत गाय सुवावे।
मूषक न्यौला, भुजंग बिलाव, परस्पर प्रीति अतिसु बढ़ावें,
राग विरोध विवर्जित साधु, जहाँ निवसे तहँ आनंद आवे॥

—भव्य प्रमोद

अर्हन्त भगवान् के उपदेश देने की सभा का नाम समवशरण है, जहाँ बैठकर तिर्यञ्च मनुष्य व देव-पुरुष व स्त्रियाँ सभी उनकी दिव्यवाणी/अमृतवाणी से कर्ण तृप्त करते हैं। इस समवशरण की सामान्य भूमि, सोपान, विन्यास, वीथी, धूलिशाल (प्रथमकोट) चैत्यप्रासादभूमियाँ, नृत्य-शाला, मानस्तम्भ, वेदी, खातिकाभूमि वेदी, लताभूमि, साल (द्वि० को०) उपवनभूमि, नृत्यशाला, वेदी, ध्वजभूमि, साल (तृ० को०), कल्पभूमि, नृत्यशाला, वेदी, भवनभूमि, स्तूप साल (चतु० को०) श्रीमंडप, ऋषि आदि गण, वेदी, पीठ द्वि० पीठ, तृ० पीठ और गन्धकुटी इस प्रकार रचना है। समवशरण की सामान्यभूमि गोल होती है। उसकी प्रत्येक दिशा में आकाश में स्थित बीस-बीस हजार सोपान सीढ़ियाँ हैं। इसमें चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र अन्तर भाग में तीन-तीन पीठ होते हैं।

अन्तिम श्रीमण्डपभूमि में बारह सभा लगती हैं। बारह-कोठों में क्रम से गणधर, आदि मुनि, कल्पवासी देवियाँ, आर्यिकाएँ व श्राविकाएँ, ज्योतिषी देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च बैठते हैं। तीसरी पीठ के ऊपर एक गन्धकुटी होती है जो अनेक ध्वजाओं से शोभायमान रहती है उस पर भगवान् चार अंगुल के अन्तराल में आकाश में स्थित रहते है।

हे मुक्ति पथिक ! बाह्य लक्ष्मी में मोह का त्याग कर। सुबह से शाम तक तू क्षणिक लक्ष्मी जो स्व-पर दुःखदायी है, के पीछे पड़ा अपनी सुध-बुध भी भूल जाता है। तू एक क्षण के लिये भेदविज्ञान खिड़की से भीतर में झाँक, तू स्वयं शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से उसी अनन्तचतुष्टय रूप अन्तरंग व बहिरंग समवशरणादि विभूति से युक्त है।

तू उसे साक्षात् प्राप्त करना चाहता है तो उसी में पुनः-पुनः व्यापार कर, उसी का लक्ष्य कर, उसी में रम जा।

विरम-विरम-बाह्यादि पदार्थे,
रम-रम मोक्षपथे च हितार्थे।
कुरु-कुरु निजकार्यं च वितन्द्र,
भव-भव समवशरणपति योगीन्द्र ॥

—वी० म०

बाह्य क्षणिक लक्ष्मी-घर-मकान, पैसा आदि से विश्राम ले। मुक्ति-पथ जो हितकारी है में रम जा। समवशरण से शोभायमान अरहन्त को बार-बार हृदय मन्दिर में चिन्तन कर, निरालसी होकर स्व समवशरण में स्वात्मा को विराजमान कर, मैं स्वयं तद्रूप हूँ, मैं स्वयं अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी से सहित हूँ। पुनः-पुनः चिन्तन से तू लक्ष्य को प्राप्त कर उस अपनी शाश्वत निधि का स्वामी बन जायेगा। क्योंकि यह मुझ आत्मा का स्वभाव ही है। जब भैंसे का चिन्तन करने वाला भैंसा हो सकता है, तो क्या मैं समवशरणस्थित अर्हन्त के चिन्तन से स्वयं समवशरण का स्वामी नहीं हो सकता ? अवश्य होऊँगा।

अनन्त चतुष्टय अरु समवशरण की लक्ष्मी मुझ को मोहती,
मनमोहन यह आतम मेरी अपनी निधि से सोहती।
ज्ञानावरण चतुष्क घातकर, अपने में देखो प्यारे,
अन्तरंग-बहिरंग की लक्ष्मी, निज में ढूँढो तुम प्यारे ॥८६॥

**सूत्र—परमकारुण्यरसोपेतसर्वभाषात्मकदिव्यध्वनिस्वरूपोऽहम्॥८७**

**सूत्रार्थ**—परम करुणारूपी रस से भरपूर और समस्तभाषारूप दिव्यध्वनि स्वरूप मैं हूँ। अर्थात् जिस प्रकार अरहंत भगवान् परमकरुणा-रूपी रस से भरपूर और सर्वभाषात्मक दिव्यध्वनि स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरी भी यह शुद्ध आत्मा परम करुणारूपी रस से भरपूर और समस्त-भाषारूप दिव्यध्वनि स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—दिव्यध्वनि किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी परमात्मा को आप्त कहते हैं और—

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥८॥

—नियमसार

उन आप्त के मुखारविन्द से निकले, पूर्वापर दोष से रहित वचन दिव्यध्वनि कहलाते हैं।

वह दिव्यध्वनि भव्यों के द्वारा कर्णरूपी अञ्जुलिपुट से पीने योग्य अमृत है। मुक्ति सुन्दरी के मुख को देखने के लिये दर्पण है। संसाररूपी महासमुद्र के महाभँवर में फँसे हुए सम्पूर्ण भव्य जीवों को हाथ का अवलम्बन देने वाली है। सहज स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर की दिव्यमणि है तथा मुक्ति महल को पहुँचने के लिये प्रथम सीढ़ी है।

"दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं।"

उन अरहन्त भगवान् की दिव्यध्वनि से सभी भव्यात्माओं के कानों में अमृत झरने जैसा सुख उत्पन्न होता है।

वह दिव्यध्वनि परमकरुणारसोपेत है—

आ० श्री कुन्दकुन्दस्वामी दर्शनप्राभृत में लिखते हैं—

जिणवयणमोहसहमिण विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥ १७॥

—दर्शन-प्राभृत

यह जिनवचनरूपी औषधि विषयसुख को दूर करने वाली है, अमृतरूप है, जरा और मरण की व्याधि को हरने वाली है, तथा सब दुःखों का क्षय करने वाली है।

जिस प्रकार उत्तम औषधि शरीर के भीतर विद्यमान मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है तथा मनुष्य के असामयिक मरण को दूर कर उसके सब दुःखों का क्षय कर देती है उसी प्रकार निमित्त-नैमितिक भाव से सहित दिव्य-ध्वनि रूपी औषधि आत्मा में विद्यमान पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत स्पर्शादि से होने वाले विषयसुख का विरेचन करने वाली है। पीयूष/अमृत तुल्य है। बुढ़ापा और मरणरूपी रोग को हरने वाली है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखों का क्षय करनेवाली है अर्थात् सर्व दुःखो को जड़ से उखाड़ने वाली है।

इन्हीं सब कारणों से दिव्यध्वनि को करुणारसोपेत अर्थात् करुणा रस से युक्त कहा गया है।

"तुम धुनि व्है सुनि विभ्रम नशाय"

दिव्यध्वनि से करुणा रस ओतप्रोत भरा है, जो भव्यात्मा इसे सुनता है उसके विभ्रम नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

**दिव्यध्वनि सर्वभाषात्मक है।** —बो० पा., गा. ३२/सं. टी.

"अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं" भगवान् की भाषा में (दिव्यध्वनि में) आधा भाग भगवान् की भाषा का होता है जो कि मगध देश की भाषा रूप होता है और आधा भाग सर्वभाषा रूप होता है।

**शंका**—दिव्यध्वनि तो ओंकार रूप होती है फिर उसमें सर्वभाषात्मकपना कैसे बनता है?

देव-शास्त्र-गुरु की हिन्दी पूजा में पढ़ते भी हैं—

"जिनकी धुनि है ओंकार रूप, निर् अक्षरमय महिमा अनूप"

**समाधान**—जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि यद्यपि ओंकाररूप ही निकलती है फिर भी वह सर्वभाषात्मक है क्योंकि दिव्यध्वनि भव्यश्रोताओं के कर्ण पर पहुँचते ही अपनी-अपनी भाषा में परिवर्तन हो जाती है अर्थात् ओंकार ध्वनि को तिर्यञ्च, देव व विभिन्न देशों के मनुष्य अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। यह सब वीतरागता अथवा करुणारसोपेत दिव्यात्मा की सर्वजनमैत्री परिणामों की विशुद्धता का ही अतिशय जानना चाहिये।

हे आत्मन्! शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से उसी दिव्यध्वनि स्वरूप मेरा आत्मा है। अरहंत प्रभु के सर्व आत्मिक गुणों की व्यक्ति हो गई है। व्यवहारनय से मेरे साथ कर्मों का झंझट लगा है। बाह्य-अभ्यन्तर तप व शुद्धात्मा की भावना के बल से मैं उस क्षयोपशमजन्य विभावपरिणति को हटाने का परम पुरुषार्थ करता हुआ, दिव्यध्वनि स्वरूप स्व-स्वभाव को प्राप्त करता हुआ, अरहन्त अवस्था की प्राप्ति में निजात्मा को लगाता हूँ। मैं मुमुक्षु पथिक अब क्या करूँगा—

मैं छोड़ जगत् के वैभव को अब, शुद्ध अवस्था ध्याऊँगा,
घाति कर्म की धूल उड़ाकर, अरहंत पद को पाऊँगा।
नन्त चतुष्टय पूर्ण प्रकटकर, नव लब्धि पा जाऊँगा,
निश्चित जिन परमातम सम मैं, दिव्यध्वनि प्रकटाऊँगा ॥८७॥

**सूत्र—कोट्यादित्यप्रभासंकाशपरमौदारिकदिव्यशरीरोऽहम् ॥८८॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार अरहंतदेव का शरीर करोड़ों सूर्यों की प्रभा समान दैदीप्यमान परमौदारिक परमदिव्य है उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी करोड़ों सूर्य की प्रभा समान अत्यन्त दैदीप्यमान परमौदारिक दिव्यशरीर युत है।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—शरीर किसे कहते हैं ? ये कितने होते हैं ?

**उत्तर**—पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्मोदय से प्राप्त अवस्था विशेष को काय कहते हैं। काय का अर्थ शरीर है। शरीर पाँच होते हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण।

मनुष्य और तिर्यञ्चों का स्थूल शरीर औदारिक कहा जाता है। अणिमा आदि ऋद्धियों से सहित देवों का तथा नारकियों का शरीर वैक्रियिक कहा जाता है। षष्ठमगुणस्थानवर्ती मुनि के तत्त्व में शंका उत्पन्न होने पर अथवा जिनालयों की वंदनार्थ जो मस्तक से एक हाथ का पुतला निकलता है, वह आहारक शरीर है, औदारिक आदि शरीर को तैजस शरीर कहते हैं तथा ज्ञानावरणादि अष्टकर्मसमूह रूप कार्मण होता है, जो संसारी सर्वजीवों के होता है।

**प्रश्न**—सूत्र में आये परमौदारिक शरीर का अर्थ क्या है ?

**उत्तर**—घाति कर्मों के क्षय होने से, जिस औदारिक शरीर के आश्रित रहने वाले असंख्यात निगोदिया जीवों का अभाव होकर जो वह शरीर स्फटिक मणिसम निर्मलता को प्राप्त हुआ है, ऐसा वह औदारिक शरीर ही परमौदारिक कहा जाता है। यह परमौदारिक शरीर अरहंत भगवान् को होता है।

यह परमौदारिक शरीर सप्त धातुओं से रहित, निगोदिया जीवों के आश्रय से रहित तथा करोड़ों सूर्य की कांतिसम देदीप्यमान होता है।

**प्रश्न**—परमौदारिक शरीर का क्रम क्या है ?

**उत्तर**—क्षीणकषाय गुणस्थान में पहुँचने के प्रथम समय में अनन्त बादर निगोद जीव मरते हैं और दूसरे समय में उससे अधिक जीव मरते हैं यह क्रम क्षीणकषाय के प्रथम समय से लेकर आवली पृथक्त्व तक चालू रहता है इसके आगे के समयों में असंख्यातगुणे जीव मरते हैं। [ध. पु. ८.]

हे आत्मन् ! अब मैं मलीन ऐसे सप्तधातु युक्त औदारिक शरीर में राग-स्नेह संस्कार आदि का त्याग कर परमौदारिक शरीर की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता हूँ, क्योंकि मैं परमौदारिक शरीर में निवास करने वाला हूँ।

सप्तधातु से रहित जो, परमौदारिक देह।<br>
उसको भजता भाव से, बनता है निर्देह ॥८८॥

सूत्र—परमपवित्रोऽहम् ॥८९॥

सूत्रार्थ—मैं परम पवित्र हूँ।

विशेषार्थ—

प्रश्न—पवित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो मल रहित होने से स्वयं पवित्र हो तथा जिसका आश्रय करने वाले अन्य जीव भी पावन/पवित्र हो जाते वह पवित्र कहलाता है।

अथवा

सागर, नदी, तालाब के जल से सैकड़ों बार धोने पर भी जो शुद्ध न हो वह अपवित्र है तथा जो स्वभाव से ही निर्मल है किसी पर द्रव्य का मल जिस पर चढ़ता ही नहीं, वह पवित्र है।

हे पथिक ! तू चेतन असंख्यातप्रदेशी ज्ञान-दर्शन का पिटारा सप्त धातुओं से रहित, नवमलद्वारों से रहित, द्रव्य-भाव मल से रहित परम-पवित्र शुद्धात्मा है। आत्मा तो रत्न समान पवित्र है और देह विष्ठा सम अपवित्र है—

"देह अपावन" शरीर अपवित्र है, तू पवित्र है—

"केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी।
देह फरसतैं होय अपावन निशदिन मल जारी॥

जो इस अपावन देह का शृंगार करता है वह अज्ञानी दुःखों को प्राप्त होता है, क्यों ?" मल का पिटारा सागर प्रमाण जल से धोने पर भी पवित्र नहीं होता। वैसे ही शरीर सप्त धातु व नवमल द्वारों का पिटारा कभी पवित्र नहीं होता; परन्तु जो पवित्र शुद्धात्मा का आश्रय करता है, उसी में रम्भायमान हुआ, उसी के अनन्तगुणों के खजाने में निरन्तर विहार करता है वह परम पवित्र शुद्ध चैतन्यात्मा की साक्षात् प्राप्ति करता है। इसलिये हे आत्मन् ! जिस तरह अरहंत-सिद्ध परमात्मा परम पवित्र है, शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टि से मैं भी परम-पवित्र हूँ। बाह्य में जितनी अपवित्रता है संयोगजन्य है। अतः मैं अपावन शरीर का, द्रव्य-भाव मल का त्याग कर "परम-पवित्र" शुद्धात्मा को ध्येय कर, उसी का ध्यान कर उसी की प्राप्ति में तन्मयता को प्राप्त करता हूँ।

सप्तधातु के मल से वर्जित इसीलिये ये पावन है,
द्रव्यभाव मल से भी वर्जित परम पुनीत कहावत है।
शारीरिक मल से भी वर्जित परम शुद्ध सुपावन है,
अरहंतसम यह घाति कर्म से रहित पवित्र कहावत है॥८९॥

**सूत्र—परममंगलोऽहम् ।।९०।।**

**सूत्रार्थ**—मैं परम मंगल स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

जैसे लोक में अरहन्त मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं और जिनधर्म परम मंगल है वैसे ही मेरा शुद्धात्मा भी परम मंगल है क्योंकि चार घातिया कर्मों से रहित मैं स्वयं अर्हन्त स्वरूप हूँ, अष्टकर्मों से रहित हुआ मैं स्वयं सिद्ध हूँ तथा वीतराग परिणति से परिणत मैं स्वयं जिन-धर्म स्वरूप हूँ। जो जिनधर्म है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही जिनधर्म है। अतः मैं परम मंगलरूप हूँ।

मैं शुद्धात्मा, चिदात्मा, परमात्मा, सहजानन्दमयी, नित्यानन्दी परमो-ज्ज्वलकीर्ति से सहित, एक अखंड, निर्द्वन्द, निर्मद, निर्मोह, निर्मम आत्मा हूँ। ऐसे मुझ शुद्धात्मा की वार्ता को एक बार भी प्रीतिपूर्वक जो सुनता है वह निकट भव्य भाविकाल में निर्वाण का भाजन बनता है—

तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्य भावि निर्वाण भाजनं ।।

हे पथिक ! मंगलमयी आत्मा की आराधना "मं गालयतीति" पापों का गालन करती है, इसलिये मैं परम मंगलरूप हूँ।

मंगलमयी मम आतमा, परम शुद्धरस लीन।
करता नित आराधना, करे कर्म वह क्षीण ।।९०।।

**सूत्र—त्रिजगद्गुरुस्वरूपोऽहम् ।।९१।।**

**सूत्रार्थ**—मैं तीनों जगत् के गुरु स्वरूप हूँ। अर्थात् अरहन्तदेव तीनों जगत् के गुरु हैं उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी तीनों जगत् का गुरु है क्योंकि मैं अरहन्त स्वरूप हूँ, इसलिये त्रिजगद्गुरु स्वरूप भी मैं ही हूँ।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक ! तीन लोक का गुरु तू स्वयं है। बाहर में किसे गुरु मानता है। बृहस्पति, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण इन्हें तू बड़ा तीन लोक का गुरु मान व्यर्थ मे ही संसार परिभ्रमण कर रहा है। "आत्मा का गुरु आत्मा ही है" व्यवहार में अर्हन्त-सिद्ध परमेष्ठी तेरी आत्मा के गुरु हैं तथा त्रिजगद्गुरु तो है ही। परन्तु निश्चय से तू स्वयं तेरी शुद्धात्मा का गुरु और तू स्वयं ही तीन लोक का गुरु है।

**प्रश्न**—तीन लोक का गुरुपना कब प्राप्त होता है ?

उक्तं—तं देवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥

—प्रवचनसार

जो मनुष्य सौ इन्द्रों से वन्दनीय, यतिवरवृषभ अरहन्तदेव को जो तीन लोक के गुरु हैं, नमस्कार करता है वह मनुष्य स्वयं तीन लोक का गुरु बनकर अक्षय सुख को प्राप्त करता है। आगे रयणसार ग्रन्थ में कुन्दकुन्ददेव लिखते हैं—

पूयफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

जो शुद्ध मन से (सच्चे देव की) पूजा करता है तथा दान देता है वह जिनपूजा रूपी पुण्य के फल से तीनलोक से तथा देवों से पूजा जाता है अर्थात् त्रिजगद्गुरु अरहन्त होता है और दानरूप पुण्य से तीन लोक का सार अर्थात् मोक्षसुख प्राप्त करता है।

तात्पर्य, हे आत्मन् ! अपने तीन लोक के नाथ के साक्षात् दर्शन की प्राप्ति करना चाहते हो तो जब तक उनका साक्षात्कार न हो, तब तक त्रिजगद् के गुरुपने से सुशोभित जिनेन्द्रदेव की पूजा व उत्तमोत्तम दान की क्रिया निर्दोष करते रहो। यही मुक्ति का साधन है।

जिन चरणों की पूजा जो भवि भक्तिभाव से करता है,
पूजा फल से पूज्य बने वह इसमें जरा न शंका है।
मुक्ति पथिक तू सम्हल आ जा जिनचरणों में चित्त लगा,
जिनभक्ति के ही प्रसाद से कर्मकालिमा शीघ्र भगा ॥९१॥

**सूत्र—स्वयंभूरहम् ॥९२॥**

**सूत्रार्थ**—मैं स्वयंभू हूँ। जिस प्रकार अरहन्त भगवान् अपने कर्मों को नष्ट कर आप स्वयंभू हुए हैं, उसी प्रकार कर्मों से रहित मेरा शुद्धात्मा भी स्वयंभू है।

**विशेषार्थ**—

शुद्ध उपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों के नष्ट हो जाने से प्राप्त किया है शुद्ध अनन्त शक्तिवान् चैतन्य स्वभाव जिसने ऐसा यह आत्मा वास्तव मे (१) शुद्ध अनन्तशक्ति (युक्त) ज्ञायक स्वभाव के द्वारा स्वतन्त्र होने के कारण से ग्रहण किया है कर्तापने के अधिकार को जिसने, ऐसा (होता हुआ) (२) अनन्त शक्ति (युक्त) ज्ञान रूप से परिणत

स्वभाव के द्वारा ( स्वयं ही ) प्राप्य होने के कारण से ( स्वयं ही प्राप्त होता होने से ) "कर्मपने" को अनुभव करता हुआ, (३) शुद्ध अनन्त शक्ति ( युक्त ) ज्ञान रूप से परिणत स्वभाव के द्वारा ( स्वयं ही ) साधकतम ( उत्कृष्ट साधन ) होने के कारण से करणपने को धारण करता हुआ, (४) शुद्ध अनन्तशक्ति ( युक्त ) ज्ञानरूप से परिणमित स्वभाव द्वारा ( स्वयं ही ) कर्म द्वारा समाश्रित होने के कारण ( अर्थात् कर्म स्वयं को ही देने मे आता होने से ) सम्प्रदानपने को धारण करता हुआ (५) शुद्ध अनन्तशक्ति ( मय ) ज्ञानरूप से परिणत होने के समय में पूर्व में प्रवर्तमान विकलज्ञान स्वभाव का नाश होने पर भी सहजज्ञान स्वभाव द्वारा (स्वय ही) ध्रुवता को अवलम्बन करने से "अपादानपने" को धारण करता हुआ और (६) शुद्ध अनन्तशक्ति ( युक्त ) ज्ञानरूप से परिणमित स्वभाव का स्वयं ही आधार होने के कारण से "अधिकरण-पने" को आत्मसात् करता हुआ (इस प्रकार) स्वयमेव छः कारक रूप से उत्पन्न होता हुआ (स्वयंभू) इस नाम से कहा है, अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा से, द्रव्य-भाव भेद रूप घाति कर्मों को दूर करके, स्वयमेव आविर्भूत होने के कारण से, "स्वयंभू" इस नाम से कहा जाता है।

[ प्र. सा. गा. १६ अ. कृ. टीका सं० का हिन्दी अ० ]

भावार्थ—अभेद षट्कारक रूप से स्वतः ही परिणमता हुआ, यह आत्मा परमात्म स्वभाव होने से स्वयंभू है क्योंकि केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय में वह भिन्न कारक की अपेक्षा नही रखता, इस कारण से स्वयंभू है।

हे मुमुक्षु ! जिन कारणों से घातिया कर्मों के अभाव से अरहंत परमात्मा स्वयभू है, उन्ही सर्व कारणों को अपेक्षा मेरा शुद्धात्मा भी स्वयंभू है, जो क्योंकि अरहंत का स्वरूप है, वही, मैं हूँ—

स्वयं ने स्वयं को स्वयं के ही द्वारा,<br>
स्वयं के लिये जो स्वयं से अधारा।<br>
स्वयं में स्वयं का परिणय जो होता,<br>
अतः यह ममात्मा स्वयंभू कहाता ॥९२॥

**सूत्र—शाश्वतोऽहम् ॥९३॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शाश्वत अर्थात् कभी नाश नहीं होने वाला हूँ। जिस प्रकार सिद्ध परमात्मा सदाकाल रहने वाले हैं, उसी प्रकार मेरा चिदा-न्दात्मा भी सदाकाल रहने वाला है।

**विशेषार्थ—**

"मे सासदो अप्पा" [ नि० सा० १०२ ]

सं० टी०/हिन्दी—सम्पूर्ण बाह्य क्रियाकाण्ड के आडम्बर रूप विविध विकल्पों के कोलाहल से रहित सहजशुद्धज्ञानचेतना को अतीन्द्रिय रूप से अनुभव करता हुआ मैं शाश्वत हूँ, अविनाशी हूँ।

मेरा परम शुद्धात्मा पूर्व में था, वर्तमान में है और भविष्य में अनन्त-काल तक रहेगा। पर्यायें बदली हैं, जीवत्व ध्रौव्य है।

हे पथिक ! तुम्हारा शुद्धात्मा अस्तित्व गुण से रहित है—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश न हो, वह अस्तित्व गुण कहलाता है।

मैंने जीव द्रव्य की ध्रौव्यता को नहीं पहिचाना और क्या किया—

"तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान"

शरीर की उत्पत्ति अपनी उत्पति मानकर हर्ष मनाया और शरीर के नाश को अपना नाश माना। इतना ही नहीं, मनुष्य के शरीर में स्थित स्वात्मा को मनुष्य, तिर्यञ्च के शरीर में स्थित स्वात्मा को तिर्यञ्च, नारकी के शरीर में स्थित स्वात्मा को नारकी तथा देव के शरीर में स्थित स्वात्मा को ही देव मानकर भ्रमित रहा। वास्तव में त्रैकालिक शाश्वत अवस्था से विद्यमान आत्मा अजर-अमर है।

**प्रश्न**—फिर मरण किसका होता है ?

**उत्तर**—मरण पर्याय का होता है। एक पर्याय का त्याग, दूसरी पर्याय का ग्रहण ही मरण-जन्म है, नवीन द्रव्य/आत्मा कभी उत्पन्न होता नहीं। स्वकृत कर्मों का फल भोग जीव स्वकर्मानुसार क्षेत्र से क्षेत्रान्तर में पहुँचता है। जिन दस प्राणों के निमित्त से एक पर्याय थोड़े या लम्बे समय तक बना रहता है। उन्हीं दस प्राणों का वियोग मरण कहा जाता है।

हे पथिक ! तुम्हारा चिदानन्दात्मा सदानन्द, शाश्वत, अविनाशी है। पर्याय के नाश से उत्पन्न शोक का त्याग कर, अपनी शाश्वत चैतन्य सत्ता की ओर ध्यान दो और अविनाशी सिद्ध अवस्था की प्राप्ति का पुरुषार्थ करो।

शुद्ध चेतना का रसपान, करता है मम अतीन्द्रिय ज्ञान।
अतः नित्य अविनाशी रूप, मैं भजता हूँ सिद्ध स्वरूप ।।९३।।

**सूत्र—जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसकलपदार्थयुगपदावलोकनसमर्थ-सकलविमलकेवलज्ञानस्वरूपोऽहम् ।।९४।।**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार अरहन्त देव तीनों लोकों के (ऊर्ध्व, मध्य, अधो

लोक ) भूत-वर्तमान-भावी समस्त पदार्थों को एक साथ जानने देखने की सामर्थ्य रखने वाले पूर्ण निर्मल केवलज्ञान स्वरूप है। उसी प्रकार मेरा यह परम शुद्धात्मा भी त्रिजगत् के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ देखने जानने की सामर्थ्य रखने वाले केवलज्ञान स्वरूप है।

**विशेषार्थ—**

हे पथिक ! अनादिकाल से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा इष्ट-अनिष्ट पदार्थों को देखते हुए भी तुम्हें आज तक तृप्ति नहीं हुई। कभी सिनेमा देखते हो, कभी टी० वी० के सामने आँखें गाड़े प्यासे नयन उन चित्रों को जो अश्लील हैं, या सही भी हैं, देखते ही रहते हैं। हर दिल-दिमाग में एक तमन्ना लगी है कि दुनिया के सारे पदार्थ अथवा सारी दुनिया को एक साथ देख लूँ। पर क्या यह सपना चर्म रूप चक्षु इन्द्रिय से साकार हो सकेगा, कभी नही।

हे आत्मन् ! चिदानन्द चैतन्यात्मा केवलज्ञान का पिण्ड है। उस पर लगा केवलज्ञानावरण कर्म का पर्दा उस गुण को व्यक्त नहीं होने दे रहा है। इस केवलज्ञानावरण कर्म रूप पर्दे को मोहनीय कर्म व ज्ञानावरणी कर्म को पूर्ण क्षय से दूर हटाओ। पर्दा दूर होते ही तुम देखोगे त्रिकाल-वर्ती सर्व पदार्थ तुम्हारे केवलज्ञान कुञ्ज में युगपत् दिखाई देने लगेंगे। अभी तो एक-दो सिनेमा देखकर अथवा दो-चार मनोहर रूप देखकर अथवा दो-चार मनोहर वस्तु या क्षेत्र देखकर थक जाते हो, किन्तु केवलज्ञान में सतत तीन लोक का स्पष्ट चित्र झलकेगा, तुम देखते ही रहना, कभी अनन्तकाल बीतने पर भी आत्मा मे उस अतीन्द्रियज्ञान के सुख को भोगते हुए थकान आने वाली ही नही है।

अतः हे आत्मन् ! तीन काल-तीन जगत् के सर्व पदार्थों का युगपत् जानने मे समर्थ पूर्ण निर्मल केवलज्ञान को प्रगट करने का निरन्तर पुरुषार्थ करो।

**प्रश्न**—केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रथम क्या करें ?

**उत्तर**—ज्ञानावरण कर्म के आस्रवो से बचना ही प्रथम पुरुषार्थ है। केवलज्ञान प्राप्ति के लिये। हे आत्मन् ! किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा मे ईर्ष्या, मात्सर्य द्वेष का त्याग करो। किसी भी कारण से ज्ञान-प्रदाता गुरु अथवा ज्ञान को नही छिपाना चाहिए। वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी पण्डित हो जायेगा, ऐसा विचार कर मात्सर्य से किसी को नही पढ़ाना; इस भावना का त्याग करो। किसी के ज्ञाना-

भ्यास में कभी विघ्न न डालो। दूसरों के द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञान का रोकना नहीं। सच्चे ज्ञान में कभी दोष मत लगाओ।

इस प्रकार हे पथिक! निर्मल केवलज्ञानस्वरूप निजात्म वैभव की प्राप्ति के लिये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात रूप विचारों का त्याग करो। जब तक ये अशुभ विचार बने रहेंगे तब तक ज्ञानावरण का आस्रव रुक नहीं सकता। आस्रव नहीं रुकने तक संवर व निर्जरा भी नहीं होगी। अशुभ की निर्जरा के अभाव में केवलज्ञानसंपत्ति निज स्वभाव की भी प्राप्ति नहीं होगी।

ज्ञानावरण कर्म क्षय के लिये अष्ट अंग—ज्ञानाचार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, प्रश्रयाचार, अनिह्नवाचार, उपधानाचार और बहुमानाचार पूर्वक जिनागम का श्रवण-पठन आदि करें।

ज्ञान के साधन जिनागम का—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेश आदि के द्वारा पञ्च प्रकार स्वाध्याय करें। इत्यादि अनेकों कारणों को ध्यान में रखते हुए ज्ञानावरण कर्म के क्षय का पुरुषार्थ कर, निज सम्पत्ति को पहिचान कर निजशुद्धात्मा में रुचि, प्रतीति, श्रद्धा करो।

तीन लोक यह दर्पण सम, मम ज्ञान किरण में विलसता है,
अज्ञानी बन आवरण करता, इससे ज्ञान झुलसता है।
मेरा लक्ष्य है केवलज्ञानी, अपना रूप लखाऊँगा,
निज गुण दर्शन ज्ञान सौख्य से, मुक्तिधाम पा जाऊँगा ॥९३॥

हे पथिक! अपने शरीर-मन्दिर में विराजमान परम शोभा-सम्पन्न सिद्ध भगवान् का चिन्तवन करो, शरीर में स्थित ज्ञानस्वरूप आत्मा का चिन्तन करो, कर्ममल से रहित शुद्ध आत्मा का चिन्तन करो, शरीर में पाये जाने वाले परम विशुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तन करो और अन्त में जगत्त्रयवर्ती, कालत्रयवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् देखने में समर्थ विमल केवलज्ञान के स्वामी हो जाओ।

**सूत्र—विशदाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयसकलविमलकेवलदर्शन-स्वरूपोऽहम् ॥९५॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार अरहन्त भगवान् अत्यन्त निर्मल तथा अखण्ड-रूप समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रतिभासित करने वाला पूर्ण निर्मल केवल-दर्शनस्वरूप हैं, उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी पूर्ण निर्मल केवल-दर्शनमय है।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न—**कर्मों से जकड़ा संसारी होकर भी केवलदर्शनमय कैसे है ?

**उत्तर—**शुद्ध द्रव्यार्थिक नयापेक्षा जो अरहन्त-सिद्ध भगवान् हैं वही मेरा आत्मा भी है। अतः शक्ति अपेक्षा संसारी आत्मा भी केवलदर्शन-रूप है, इसे स्वीकार करने में कोई शंका नहीं रखें।

**प्रश्न—**केवलदर्शन की शक्ति मात्र से पूज्यपना हो सकता है क्या ?

**उत्तर—**नहीं। केवलदर्शन की शक्ति तो निगोदिया जीवों में भी है अतः शक्ति मात्र से यदि पूज्यपना बनता है तो फिर उनके भी पूज्यता होगी, पर ऐसा है नहीं !

हे पथिक ! केवलदर्शन शक्ति को प्रकट करने के लिये केवलदर्शना-वरण कर्म को क्षय करने का पुरुषार्थ करो। प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन तथा उपघात आदि अशुभ परिणामों से बचने का प्रयत्न करो, जिन्हें पूर्व सूत्र में लिखा जा चुका है। "आस्रवों से बचोगे तो बंध से छूटोगे।" अतः कारण का अभाव करो, यही मोक्षमार्ग का रहस्य है।

> केवलदर्शन गुणगरिमा को, प्रकटित करने आया हूँ,
> अपने गुण की महिमा लखने, चरणों शीश झुकाया हूँ।
> हे नाथ ! शरण मुझको दीजे, मैं शरण तिहारी आया हूँ,
> तव सम आतम शुद्ध बनाने, शुद्धातम को ध्याया हूँ ॥९५॥

## सूत्र—अतिशयातिशयमूर्तानन्तसुखस्वरूपोऽहम् ॥९६॥

**सूत्रार्थ—**जिस प्रकार अरहंत भगवान् अनन्त अतिशयों की मूर्तिरूप अनन्तसुख स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी अनन्त अति-शयों की मूर्तिस्वरूप अनन्तसुख स्वरूप है।

**विशेषार्थ—**

अनन्तगुण व शक्तियों से अच्छी तरह परिपूर्ण होने पर भी जो ज्ञान-मात्रमयी भाव को नहीं छोड़ता, वह चैतन्य आत्मा द्रव्यपर्यायमयी अति-शयातिशयज्ञानमूर्ति मैं हूँ।

मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ। देखो ! चक्रवर्तियों के सुख से भोगभूमियाँ जीवों का सुख अनन्तगुणा अधिक होता है, इनसे धरणेन्द्र का सुख अनंत-गुणा है, इनसे देवेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है, देवेन्द्र से भी अहमिन्द्र का सुख अनन्तगुणा है। इन सभी के अनन्तानन्त गुणित अतीत काल, भविष्य-

काल, वर्तमान काल सम्बन्धी सभी सुखों को भी एकत्रित कर लीजिये और सबको मिला दीजिये। तीन लोक से भी अधिक ढेर के समान इन संपूर्ण सुखों की अपेक्षा भी अनन्तानन्त गुण अधिक सुख अरहंत व सिद्ध भगवान् को एक क्षण में प्राप्त होता है। मेरा शुद्धात्मा भी अर्हन्त-सिद्ध स्वरूप है। अतः कर्मों के संयोग से रहित, मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ।

**शंका**—अरहन्तावस्था व सिद्धावस्था में जीव के साथ पञ्चेन्द्रिय विषय-भोग, पत्नी, पुत्र, खाना-पीना तथा रेडियो, टी० वी०, पंखा, कूलर, फ्रीज आदि ऐशोआराम की कोई वस्तु तो है नहीं, फिर वहाँ अनन्त सुख कैसा ?

**समाधान**—सुख कहते किसे हैं ? यत् "यत् सुखं तत्र न असुखं" सुख वही सच्चा है जिसके पीछे दुख न हो। संसार में जितने इन्द्रिय सुख हैं वे क्षणिक हैं तथा उनके पीछे असाध्य अनन्त दुख है; जबकि अरहंत-सिद्धावस्था में एक बार प्राप्त सुख फिर क्षय को प्राप्त नहीं होता, फिर उनके पीछे दुख की तो चर्चा ही नहीं। फिर भी अरहंत सिद्ध अवस्था में कैसा सुख है ? आचार्य कहते हैं—संसार में जो महादुःख-जन्म-जरा और मृत्यु के है वे महादुःख वहाँ नहीं है, शेष तो वर्णनातीत है।

अतिशयातीशय ज्ञानमूर्ति मम, आतम जग में सुख भंडार,
रमता नितप्रति शुद्ध ज्ञान में, पाता है वह सिद्धि अपार।
निज आतम को अपने तन में, नितप्रति मैं तो ध्याऊँगा,
चिदानन्द की रजधानी श्री मुक्तिपुरी को पाऊँगा॥ ९६॥

## सूत्र—अवार्यवीर्यानन्तबलस्वरूपोऽहम्॥ ९७॥

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार भगवान् अरहन्तदेव जो किसी से भी निवारण न हो सके, ऐसे अनन्तबल के स्वामी हैं। उसी प्रकार मेरा यह शुद्ध आत्मा भी शुद्ध नयापेक्षा अनन्तबल का धारक है। क्योंकि मैं अरहंत स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

हे पथिक ! राजा के पास—राज्यबल, मंत्रीबल, सैन्यबल, कोषबल, बुद्धिबल होते हुए भी यदि आत्मबल नहीं है तो वह राजा युद्धक्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः सिद्ध है कि सबसे बड़ा "आत्मबल" है। अथवा मन-बल, वचन-बल और काय-बल तीन प्रकार के बल आगम में प्रसिद्ध हैं किन्तु यदि आत्मबल नहीं है तो तीनों बल व्यर्थ हैं। अतः आत्मबल संसार

रूपी युद्धक्षेत्र में अवार्य बल है। जिसने अपने एक अनन्त बल को जाना, उसने सब कुछ जाना, सब कुछ पाया और अंतराय कर्मरूप बैरी को पछाड़ दिया तथा जिसने सबको जाना एक स्वात्मबल को नहीं जाना उसने कुछ नही जाना, वह कर्मबैरी को पछाड़कर अरहंतपद नहीं प्राप्त कर सकता।

हे पथिक ! अनन्तवीर्य शक्ति को पहिचानो। थको नहीं, बढ़ते चलो, आगे कदम बढ़ाये चलो, रात और दिन स्वात्मा में श्रम करना, उसी में जागृत रहना, फिर भी कभी नही थकना यह तुम्हारा स्वभाव है, उसी अनन्तवीर्य स्वभाव को जो निराबाध है, स्वात्मा में प्रकट करो—

मंत्री, सैन्य, कोष आदि के बल से एक निराला,
निज आतम का, अवार्य वीर्य जो है दुनियाँ से आला।
मैं उसकी नित पहिचान करता, तीनों सन्ध्या काला,
मैं हूँ अनन्तवीर्य का धारक, आतमराम विशाला ॥ ९७ ॥

**संसार में किन जीवों के कितनी ताकत है**—१२ मनुष्य बराबर एक बैल में, १२ बैल बराबर एक घोड़ा मे, १२ घोड़ा बराबर १ पाड़ा (भैंसा में), १०५ भैंसा बराबर १ हाथी में, १०० हाथी बराबर १ सिंह में, १०५ सिंह बराबर १ बलभद्र में, २ बलभद्र बराबर १ नारायण में, ८ नारायण बराबर १ चक्रवर्ती मे, १ करोड़ चक्रवर्ती बराकर एक भवनवासी देव में, एक करोड़ भवनवासी देव बराबर एक इन्द्र में, और इन्द्र से अपार-शक्ति अनन्तवीर्य तीर्थंकर मे है। यही तीर्थंकर सम अनन्तबल मेरा शुद्धात्मा का स्वरूप है। ॐ चिदानन्दाय नमः

**सूत्र—अतीन्द्रियातिशयामूर्तिकस्वरूपोऽहम् ॥९८॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार भगवान् अरहंतदेव अतीन्द्रिय, अनेक अतिशयों से सुशोभित होते हुए अमूर्तस्वरूप है, उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी अतीन्द्रिय व अनेक अतिशयों से सुशोभित होता हुआ अमूर्तस्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—एकेन्द्रियादि भेद शुद्धात्मा मे क्यों माने गये हैं ?

**उत्तर**—शुद्ध जीव तो वास्तव में न एकेन्द्रिय है, न द्वीन्द्रिय, न तीन इंद्रिय, न चउरिन्द्रिय और न पंचेन्द्रिय। यह सब जीव के साथ अनादिकाल से लगी कर्म कालिमा के संयोग की परिणति अर्थात् नामकर्म के उदय का फल है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति नामकर्म के उदय से जीवात्मा उपचार से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि कहलाता है। ध्यानाग्नि अथवा

शुद्धात्मा की भावना के द्वारा नामकर्म के संयोग का अभाव होते ही मेरा शुद्धात्मा इन्द्रियातीत/अतीन्द्रिय है।

अतः हे पथिक ! पञ्चेन्द्रिय विषयों की लम्पटता का त्याग कर। जो भी जीवात्मा अपने शुद्ध चिदानन्द अमृत का रसास्वादन छोड़कर जिस-जिस इन्द्रिय विषय में आसक्त होकर विभावपरिणति करता है, वह उन्हीं-उन्हीं पर्यायों में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि में जन्म-मरण करता हुआ संसार परिभ्रमण करता है। पञ्चेन्द्रिय विषय से प्राप्त सुख, सुख नहीं, सुखाभास है, क्षणिक है, नष्ट होने वाला है अतः अतीन्द्रिय आनन्द/सुख की ओर दौड़ लगाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

अथवा इन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति में होड़ लगाकर अपने आपको महाज्ञानी मत मानो। पथिक ! इन्द्रिय ज्ञान पराधीन है, क्षायोपशमिक है, सीमित है तथा नियत है जबकि आत्मज्ञान स्वाधीन है, आत्मोत्थ है, क्षायिक है, असीमित व अनियत है।

अतः हे आत्मन् ! विचार करो, कहाँ इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञान और कहाँ त्रिकालवर्ती, त्रिलोकवर्ती सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को विषय करने वाला तुम्हारा अतीन्द्रिय स्वरूप। बस, कथमपि मर पचकर एक बार भेदविज्ञान खिड़की से अन्दर झाँककर इन्द्रियातीत शुद्धात्मा का दर्शन करो।

मेरा यह आत्मा अनन्त, अपूर्व गुणरूप अतिशयों से सहित है। अतिशय कहते हैं—आश्चर्यकारक पदार्थ को, मेरा आत्मा संसारी जीवों को आश्चर्य पैदा करने वाले अनन्तगुण रूप अतिशयों से शोभायमान है। हे आत्मन् ! अपूर्व-अपूर्व गुणों की ओर एक बार झाँक ले। देख, एक बार अन्दर प्रवेश कर। सच, तू ऐसा रञ्जायमान हो आयेगा कि प्राप्त होने पर कभी उन अतिशयों को कभी छोड़ेगा ही नही। जिन अतिशय गुणों की प्राप्ति होते ही—क्षुधादि दोष विलीन हो जाते हैं, ८४ लाख उत्तर गुणातिशय प्रकट हो जाते हैं तथा अतिशयों से शोभायमान मुक्ति अवस्था प्राप्त हो जाती है। उन्हीं अतिशयों से शक्तिरूप में वर्तमान में लबालब भरा मैं हूँ। अब उन्हीं अतिशयों को व्यक्त करता हूँ।

मैं अमूर्तिक हूँ—अहम् सदारूवी [स० आ० ३८]।

निश्चयनय की अपेक्षा मैं सदाकाल अरूपी हूँ। क्यों ? निश्चयनयेन रूपरसगन्धस्पर्शाभावात् सदाप्यमूर्त्तः [स० टी० ज० आ०]।

निश्चयनय से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा अमूर्तिक हूँ।

१५. परिणम्य परिणामकत्व शक्ति—स्व पर का ज्ञाता-ज्ञेय होना स्वभाववाला [ मैं हूँ ]

१६. त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति—हीनाधिकता से रहित नियतत्व रूप रहने वाला [ मैं हूँ ]

१७. अगुरुलघुत्व शक्ति—षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि रूप से परिणमित स्वरूप प्रतिष्ठत्व का कारणरूप [ मैं हूँ ]

१८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति—क्रमवर्तीरूप और अक्रमवर्तीरूप वर्तन करने वाला [ मैं हूँ ]

१९. परिणाम शक्ति—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से आलिंगित अस्तित्व मात्र [ मैं हूँ ]

२०. अमूर्त्तत्व शक्ति—कर्मबंध के अभाव से व्यक्त किये गये सहज स्पर्शादि रहित आत्म प्रदेशवाला [ मैं हूँ ]

२१. अकर्तृत्व शक्ति—ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न समस्त परिणामों के अकर्तारूप [ मैं हूँ ]

२२. अभोक्तृत्व शक्ति—ज्ञातृत्व मात्र से भिन्न समस्त परिणामों के अभोक्तारूप [ मैं हूँ ]

२३. निष्क्रियत्व शक्ति—कर्मभाव से आत्मप्रदेशों के कंपन के अभाव वाला [ मैं हूँ ]

२४. नियतप्रदेशत्व शक्ति—प्रत्येक अवस्था में लोकाकाश प्रमाण असंख्य प्रदेशमय [ मैं हूँ ]

२५. सर्वधर्मव्यापकत्व शक्ति—सर्वधर्मों में व्यापक, सर्वशरीरों में एक स्वरूप [ मैं हूँ ]

२६. साधारण असाधारण शक्ति—स्व-पर के समान असमान तथा समानासमान धर्म वाला [ मैं हूँ ]

२७. अनन्त धर्मत्व शक्ति—विलक्षण अनन्तस्वभावों से भावित एक भाव वाला [ मैं हूँ ]

२८. विरुद्धधर्मत्व शक्ति—तद्रूपमयता और अतद्रूपमय लक्षण है जिसका ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्तिवाला [ मैं हूँ ]

२९. तत्त्व शक्ति —तत्त्वस्वरूप होने रूप लक्षणवाला [ चेतन अचेतन से रहित हूँ ) [ मैं हूँ ]

३०. अतत्त्व शक्ति—अतत्त्वरूप, भवनरूप ( चेतन अचेतन रूप कभी नहीं होता ) [ मैं हूँ ]

**३१. एकत्व शक्ति**—अनेक पर्यायों में व्यापक ऐसे एक द्रव्यमय [ मैं हूँ ]

**३२. अनेकत्व शक्ति**—एक द्रव्य में व्यापने योग्य अनेक पर्यायमय स्वरूप [ मैं हूँ ]

**३३. भाव शक्ति**—विद्यमान परिणामों से अवस्थित स्वरूप [ मैं हूँ ]

**३४. अभाव शक्ति**—जिस परिणाम का अभाव है उसके शून्यत्व से अवस्थित स्वरूप [ मैं हूँ ]

**३५. भावाभाव शक्ति**—वर्तमान में होने वाली पर्याय के व्यय होने पर भावाभाव रूप [ मैं हूँ ]

**३६. अभावभाव शक्ति**—वर्तमान न होने वाले पर्याय के उदय होने रूप अभाव-भावरूप [ मैं हूँ ]

**३७. भावभाव शक्ति**—वर्तमान पर्याय के होने रूप भाव-भावरूप [ मैं हूँ ]

**३८. अभाव-अभाव शक्ति**—अप्रवर्तमान पर्याय के अभाव रूप अर्थात् न होने वाले पर्याय के नहीं होने रूप [ अभाव-अभावरूप मैं हूँ ]

**३९. भाव शक्ति**—कर्ता कर्म आदि कारकों में अनुगत क्रिया से रहित होने मात्रमय मैं भावशक्ति हूँ।

**४०. क्रिया शक्ति**—कारक के अनुसार होने रूप भावमयी [ मैं हूँ ]

**४१. कर्म शक्ति**—प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव है वह [ मैं हूँ ]

**४२. कर्तृत्व शक्ति**—होने रूप जो सिद्ध स्वभाव उसके होने वाले पनामयी [ मैं हूँ ]

**४३. करणशक्ति**—होते हुए भाव के होने में अतिशयवान् साधकपने-मयी [ मैं हूँ ]

**४४. सम्प्रदान शक्ति**—अपने ही से देने मे आता जो भाव उसके प्राप्त होने योग्यपना पाने योग्यमय [ मैं हूँ ]

**४५. अपादान शक्ति**—उत्पाद-व्यय से स्पर्शित जो भाव उसके अपाय के होने से नष्ट न होता ऐसे ध्रुवपना उसमय [ मैं हूँ ]

**४६. अधिकरण शक्ति**—भावने में आता जो भाव उसके आधारपना-मय [ मैं हूँ ]

**४७. सम्बन्ध शक्ति**—अपने भावमात्र स्वस्वामिपनेमय सम्बन्धरूप [ मैं हूँ ]

अपने भावों का स्वामी आप है यह सम्बन्ध है।

इन सैंतालीस गुणों को आदि लेकर मेरा चिदात्मा अचिन्त्य अनन्त-गुण स्वरूप है।

गुण अनन्त अचिन्त्य तुझ में, बढ़कर एक से एक हैं,
क्यों भटकता बाहरी दुनियाँ में, सर को चलता टेक है।
स्व चैतन्य में आजा मानव, सिद्ध सम परिशुद्ध है,
कर्म की जो राह पकड़ी, उससे भिन्न विशुद्ध है ॥९९॥

**सूत्र—निर्दोषपरमात्मस्वरूपोऽहम् ॥१००॥**

**सूत्रार्थ**—मै निर्दोष परमात्म स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

जिस प्रकार अरहंत भगवान् दृष्टि मुक्त, मोहमुक्त, जीवन्मुक्त व कर्ममुक्त होने से निर्दोष हैं उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी निर्दोष है क्योंकि वह अरहंत स्वरूप है।

अरहंत भगवान् चर्म चक्षु से देखने की क्रिया से मुक्त हो गये हैं क्योंकि चर्म चक्षु से देखी गयी प्रत्यक्ष वस्तु भी दूषित या असत्य हो सकती है जैसे—पीलिया के रोगी को सब पदार्थ पीले दिखाई देते हैं परन्तु ज्ञान चक्षु सदा निर्दोष ही है। अतः चर्म चक्षु के दोष से मुक्त अरहंत दृष्टि मुक्त हैं। अथवा—

प्रमाण दृष्टि, नय दृष्टि, उपशम, क्षयोपशम दृष्टि, निक्षेप दृष्टि आदि सर्व वैभाविक दृष्टि से मुक्त क्षायिकदृष्टि से सहित अरहंत दृष्टि मुक्त हैं।

हे आत्मन्! तुम्हारा स्वभाव भी वैभाविक दृष्टि से रहित, क्षायिक दृष्टि से सहित दृष्टि-मुक्त है। उस स्वभाव को मैं प्रकट करता हूँ।

राग आत्मा का महादोष है उसकी उत्पत्ति दर्शनमोह-चारित्रमोह के उदय से होती है, अरहंत देव वीतराग अवस्था को प्राप्त हो मोह मुक्त हैं। मेरा शुद्धात्मा वीतराग स्वभावी, रागादि दोष रहित है। अतः मैं निर्दोषी परमात्मा मोहमुक्त हूँ।

जन्म-मरण रूप पञ्चपरावर्तन संसार से रहित, जन्मादि दोष रहित अर्हन्त जीवन्मुक्त है अथवा अर्हंत अवस्था में जितना भी आस्रव होता है वह स्थिति व अनुभाव से रहित है। अतः वे अर्हन् जीवन्मुक्त हैं; इसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी जन्म-मरण रहित जीवन्मुक्त निर्दोषी परमात्मा है। मैं अजर-अमर हूँ।

घातिया कर्म पाप रूप है उनके सर्वथा क्षय होने से अघातिया कर्मों का अनुभाग जली जेवरी सम निष्फल हो जाता है; अतः अर्हत् कर्ममुक्त हैं तथा सिद्ध भगवान् सर्व कर्मों से रहित कर्ममुक्त हैं,, उसी प्रकार संयोग-जन्य सर्व विभावपरिणामों से रहित मैं अष्टकर्मरूप महादोषों से रहित निर्दोषी आत्मा कर्ममुक्त हूँ।

हे आत्मन् ! तुम सर्वदोषों से मुक्त, परंज्योति से युक्त परम प्रभु परमात्मा हो, अपने निजगुणों की पहिचान कर निजानंद का पान करो—

मिथ्यादर्शन रहित हूँ, इसीलिये मैं दृष्टिमुक्त,
वीतरागता प्रकटाने से, अब मैं हुआ मोह से मुक्त।
जन्म-मरण संसार चक्र से, रहित हुआ मैं जीवन्मुक्त,
कर्मजाल जब छूट जाय तब, तब समझो मुझे कर्म से मुक्त ॥१००॥

सभी दोष मुझमें नहीं, फिर भी दोषी होय,
संसार चक्र में मैं फँसा, रहा निजानन्द खोय ॥१००॥

इत्याविसविकल्पनिश्चयभक्तिरूपम् ध्यानम्

इस प्रकार विकल्परूप तथा निश्चय भक्तिरूप निश्चय
ध्यान में प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ।

●

# द्वितीय अधिकार

## निश्चयरूप सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान का कथन

**सूत्र—ज्ञानावरणादिमूलोत्तररूपसकलकर्मविनिर्मुक्तोऽहम् ॥१॥**

**सूत्रार्थ**—सिद्ध भगवान् के समान मेरा यह शुद्धात्मा ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृति और एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृति रूप समस्त कर्मों से सर्वथा रहित है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—कर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—आत्मा के योग परिणामों के द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते है। यह आत्मा को परतन्त्र बनाने वाला मूल कारण है।

**प्रश्न**—कर्म के कितने भेद हैं ?

**उत्तर**—कर्म मूल में एक ही प्रकार का है। द्रव्यकर्म व भावकर्म अपेक्षा दो प्रकार का है। द्रव्यकर्म मूल मे ८ प्रकृति रूप है—१. ज्ञानावरणी, २. दर्शनावरणी, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय। आठ मूल प्रकृतियों के उत्तर भेद १४८ हैं।

रत्नत्रय से पूर्ण अखंड सिद्धात्मा जैसे कर्मों के अनन्त क्षय से सकल-कर्ममुक्त हैं। मैं भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अखंड, रत्नत्रय ज्योतिसम्पन्न आत्मा ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियों व १४८ उत्तर प्रकृतियों से मुक्त सिद्धसम शुद्ध अविनाशी आत्मा हूँ।

हे मुक्ति पथिक ! अपने शुद्ध स्वरूप का प्रतिदिन चिंतन करो—मैं ज्ञानावरण कर्म रहित हूँ। मैं दर्शनावरण कर्म रहित हूँ। मै वेदनीय कर्म रहित हूँ। मैं मोहनीय कर्म रहित हूँ। मैं आयु कर्म रहित हूँ। मैं नाम-कर्म रहित हूँ। मैं गोत्र कर्म रहित हूँ। मै अन्तराय कर्म रहित हूँ। इस प्रकार मैं सर्व मूल कर्मप्रकृति से रहित "णिक्कम्मा" निष्कर्म हूँ।

मैं अष्ट कर्मों की उत्तर प्रकृतियों से भी रहित हूँ—

ज्ञानावरणो कर्म की ५ प्रकृतियाँ हैं। मैं उनसे रहित अनन्त ज्ञानरूप हूँ—

१–मति ज्ञानावरण कर्म रहितोऽहम्। २–श्रुतज्ञानावरण कर्मरहितो-ऽहम्। ३–अवधिज्ञानावरण कर्मरहितोऽहम्। ४–मन:पर्ययज्ञानावरण कर्म-रहितोऽम्। ५–केवलज्ञानावरण कर्मरहितोऽहम्।

दर्शनावरण कर्म के ९ उत्तर भेदों से रहित मेरा शुद्धात्मा अनन्तदर्शन स्वरूप है—

१—चक्षुदर्शनावरण कर्म रहितोऽहम्।
२—अचक्षुदर्शनावरणकर्म रहितोऽहम्।
३—अवधिदर्शनावरणकर्मरहितोऽहम्।
४—केवलदर्शनावरणकर्मरहितोऽहम्।
५—निद्रा कर्मरहितोऽहम्।
६—निद्रा-निद्रा कर्म रहितोऽहम्।
७—प्रचला कर्मरहितोऽहम्।
८—प्रचला-प्रचला कर्म रहितोऽहम्।
९—स्त्यानगृद्धि कर्म रहितोऽहम्।

वेदनीय कर्म के २ उत्तर भेदों के वेदन से रहित मेरा शुद्धात्मा अव्याबाध गुणस्वरूप है—

१—सातावेदनीय कर्म रहितोऽहम्। २—असातावेदनीय कर्म रहितोऽहम्।

मोहनीय कर्म २ व २८ उत्तरभेदों से रहित मैं निर्मोह चैतन्य-शुद्धात्मा अनन्त सुख स्वरूप हूँ—

१—दर्शनमोहनीय कर्म रहितोऽहम्। २—चारित्रमोहनीय कर्म रहितोऽहम्।

दर्शनमोह के तीन भेदों से भी मैं रहित हूँ—

१—मिथ्यात्वप्रकृति रहितोऽहम्। २—सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतिरहितोऽहम्। ३—सम्यक् प्रकृति रहितोऽहम्।

चारित्रमोह के २ भेदों से मैं रहित हूँ—

१—कषाय रहितोऽहम्। २—नोकषाय रहितोऽहम्।

कषाय के १६ भेदों से मैं रहित हूँ—

१—अनन्तानुबंधी क्रोध रहितोऽहम्।
२—अनन्तानुबंधी मान रहितोऽहम्।
३—अनन्तानुबंधी माया रहितोऽहम्।
४—अनन्तानुबंधी लोभ रहितोऽहम्।
५—अप्रत्याख्यान क्रोध रहितोऽहम्।
६—अप्रत्याख्यान मान रहितोऽहम्।
७—अप्रत्याख्यान माया रहितोऽहम्।
८—अप्रत्याख्यान लोभ रहितोऽहम्।
९—प्रत्याख्यान क्रोध रहितोऽहम्।
१०—प्रत्याख्यान मान रहितोऽहम्।
११—प्रत्याख्यान माया रहितोऽहम्।
१२—प्रत्याख्यान लोभ रहितोऽहम्।
१३—संज्वलन क्रोध रहितोऽहम्।
१४—संज्वलन मान रहितोऽहम्।
१५—संज्वलन माया रहितोऽहम्।
१६—संज्वलन लोभ रहितोऽहम्।

नोकषाय के नव भेदों से रहित मै सहजानन्दो सिद्ध परमात्मा हूँ—

१—हास्य कर्म रहितोऽहम्।
२—रति कर्म रहितोऽहम्।
३—अरति कर्म रहितोऽहम्।
४—शोक कर्म रहितोऽहम्।
५—भय कर्म रहितोऽहम्।
६—जुगुप्सा कर्म रहितोऽहम्।
७—स्त्रीवेद कर्म रहितोऽहम्।
८—नपुंसक वेद कर्म रहितोऽहम्।
९—पुरुष वेद कर्म रहितोऽहम्।

मूल आयु कर्म के ४ उत्तर भेदों से रहित मेरा आत्मा आवगाहन गुण से सहित है—

१. नरकायु कर्म रहितोऽहम् २. तिर्यञ्चायु कर्मरहितोऽहम्, ३. मनुष्यायु कर्म रहितोऽहम् ४. देवायु कर्म रहितोऽहम् ।

नाम कर्म की ९३ प्रकृतियों से रहित मेरा शुद्धात्मा सूक्ष्मत्व गुण सहित है—

१–नरकगति नाम कर्म रहितोऽहम् ।
२–तिर्यंगगति नामकर्म रहितोऽहम् ।
३–मनुष्यगति नामकर्म रहितोऽहम् ।
४–देवगति नामकर्म रहितोऽहम् ।
५–एकेन्द्रिय जाति नामकर्म रहितोऽहम् ।
६–द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म रहितोऽहम् ।
७–तीन्द्रिय जाति नामकर्म रहितोऽहम् ।
८–चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म रहितोऽहम् ।
९–पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्म रहितोऽहम् ।
१०–औदारिकशरीर नामकर्म रहितोऽहम् ।
११–वैक्रियिकशरीर नामकर्म रहितोऽहम् ।
१२–आहारक शरीर नामकर्म रहितोऽहम् ।
१३–तैजस शरीर नामकर्म रहितोऽहम्
१४–कार्मण शरीरनामकर्म रहितोऽहम् ।
१५–औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग रहितोऽहम् ।
१६–वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग रहितोऽहम् ।
१७–आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग रहितोऽहम् ।
१८–निर्माण नामकर्म रहितोऽहम् ।
१९–औदारिक बन्धन रहितोऽहम् ।
२०–वैक्रियक बन्धन रहितोऽहम् ।
२१–आहारक बन्धन कर्म रहितोऽहम्।
२२–तैजस बन्धन रहितोऽहम् ।
२३–कार्मण बन्धन नामकर्म रहितोऽहम् ।
२४–औदारिक संघात रहितोऽहम् ।
२५–वैक्रियिक संघात रहितोऽहम् ।
२६–आहारक संघात रहितोऽहम् ।
२७–तैजस संघात रहितोऽहम् ।
२८–कार्मण संघात नामकर्म रहितोऽहम् ।
२९–समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म रहितोऽहम् ।
३०–न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान रहितोऽहम् ।
३१–स्वातिसस्थान रहितोऽहम् ।
३२–कुब्जक संस्थान रहितोऽहम् ।
३३–वामन सस्थान रहितोऽहम् ।
३४–हुण्डक संस्थान रहितोऽहम् ।
३५–वज्रवृषभनाराचसंहनन रहितोऽहम् ।
३६–वज्रनाराच संहनन रहितोऽहम् ।

३७–नाराचसंहनन रहितोऽहम् ।
३८–अर्द्धनाराचसंहनन रहितोऽहम् ।
३९–कीलक संहनन रहितोऽहम् ।
४०–असंप्राप्तसृपाटिका संहनन रहितोऽहम् ।
४१–कोमल स्पर्श नामकर्म रहितोऽहम् ।
४२–कठोर स्पर्श रहितोऽहम् ।
४३–गुरु स्पर्श रहितोऽहम् ।
४४–लघु स्पर्श रहितोऽहम् ।
४५–शीत स्पर्श रहितोऽहम् ।
४६–उष्ण स्पर्श रहितोऽहम् ।
४७–स्निग्ध स्पर्श रहितोऽहम् ।
४८–रूक्ष स्पर्श रहितोऽहम् ।
४९–तिक्त रस नामकर्म रहितोऽहम् ।
५०–कटु रस कर्म रहितोऽहम् ।
५१–कषायला नामकर्म रहितोऽहम् ।
५२–आम्ल/खट्टा नामकर्म रहितोऽहम् ।
५३–मधुर नामकर्म रहितोऽहम् ।
५४–सुगन्ध नामकर्म रहितोऽहम् ।
५५–दुर्गन्ध कर्म रहितोऽहम् ।
५६–शुक्लवर्ण नामकर्म रहितोऽहम् ।
५७–कृष्णवर्ण कर्म रहितोऽहम् ।
५८–नीलवर्ण कर्म रहितोऽहम् ।
५९–रक्तवर्ण कर्म रहितोऽहम् ।
६०–पीतवर्ण कर्म रहितोऽहम् ।
६१–नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म रहितोऽहम् ।
६२–तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी कर्म रहितोऽहम् ।
६३–मनुष्यगत्यानुपूर्वी कर्म रहितोऽहम् ।
६४–देवगत्यानुपूर्वी कर्म रहितोऽहम् ।
६५–अगुरुलघु नामकर्म रहितोऽहम् ।
६६–उपघात नामकर्म रहितोऽहम् ।
६७–परघात नामकर्म रहितोऽहम् ।
६८–आतप नामकर्म रहितोऽहम् ।
६९–उद्योत नामकर्म रहितोऽहम् ।
७०–उच्छ्वास नामकर्म रहितोऽहम् ।
७१–प्रशस्त विहायोगति कर्म रहितोऽहम् ।
७२–अप्रशस्त विहायोगति कर्म रहितोऽहम् ।
७३–प्रत्येक शरीर नामकर्म रहितोऽहम् ।
७४–साधारण शरीर नामकर्म रहितोऽहम् ।
७५–त्रस नामकर्म रहितोऽहम् ।
७६–स्थावर नामकर्म रहितोऽहम् ।
७७–सुभग नामकर्म रहितोऽहम् ।
७८–दुर्भग नामकर्म रहितोऽहम् ।
७९–सुस्वर नामकर्म रहितोऽहम् ।
८०–दुस्वर नामकर्म रहितोऽहम् ।
८१–शुभ नामकर्म रहितोऽहम् ।
८२–अशुभ नामकर्म रहितोऽहम् ।
८३–सूक्ष्म नामकर्म रहितोऽहम् ।
८४–बादर नामकर्म रहितोऽहम् ।
८५–पर्याप्ति नामकर्म रहितोऽहम् ।
८६–अपर्याप्ति नामकर्म रहितोऽहम् ।
८७–स्थिर नामकर्म रहितोऽहम् ।
८८–अस्थिर नामकर्म रहितोऽहम् ।
८९–आदेय कर्म रहितोऽहम् ।
९०–अनादेय कर्म रहितोऽहम् ।
९१–यशःकीर्ति नामकर्म रहितोऽहम् ।
९२–अयशःकीर्ति कर्म रहितोऽहम् ।
९३–तीर्थंकरत्व नामकर्म रहितोऽहम् ।

गोत्र कर्म के २ उत्तर भेदों से रहित मेरा शुद्धात्मा है—

१–उच्चगोत्र कर्म रहितोऽहम् ।

२–नीचगोत्र कर्म रहितोऽहम् [ मैं अगुरुलघुगुण सहित हूँ ]

५ भेद सहित अन्तराय कर्म रहित मैं अनन्त वीर्यस्वरूप हूँ—

१–दानान्तराय कर्म रहितोऽहम् ।

२–लाभान्तराय कर्म रहितोऽहम् ।

३–भोगान्तराय कर्म रहितोऽहम् ।

४–उपभोगान्तराय कर्म रहितोऽहम् ।

५–वीर्यान्तराय कर्म रहितोऽहम् ।

मूलप्रकृति ८, उत्तर प्रकृतियाँ ५ + ९ + २ + २८ + ४ + ९३ + २ + ५ = १४८

प्रकृतियों से रहित मेरा आत्मा है ।

हे चेतन तू कर्मों से भिन्न, निजशुद्धातम जान ले,
जड़का चेतन से क्या नाता, इसको तू पहिचान ले ।
आतम को परतन्त्र करे यह, इसका क्रूर स्वभाव रे,
सहज सरल माधुर्य भरा यह, मेरा आतम राम रे ॥१॥

—ॐ परमहंसाय नमः

## सूत्र—सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणसमेतोऽहम् ॥२॥

**सूत्रार्थ**—सिद्ध भगवान् के समान मेरा यह शुद्धात्मा ·अत्यन्त निर्मल ऐसे केवलज्ञानादि समस्त गुणों से सहित है ।

**विशेषार्थ—**

जैनदर्शन में गुण शब्द सहभावी विशेषताओं का वाचक है । प्रत्येक द्रव्य मे अनेकों गुण होते है—कुछ साधारण, कुछ असाधारण, कुछ स्वाभाविक और कुछ वैभाविक । परिणमनशील होने के कारण गुणों की अखंड शक्तियों-व्यक्तियों मे नित्य हानि-वृद्धि दृष्टिगत होती है, जिसे मापने के लिये उसमे अविभागी प्रतिच्छेदों या गुणांशों की कल्पना की जाती है । एक गुण में आगे पीछे अनेको पर्यायें देखी जा सकती हैं, परन्तु एक गुण मे कभी भी अन्य गुण नही देखे जा सकते है ।

[जै० को० पृ० २३९]

**गुण का लक्षण**

१–द्रव्य मे भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं [स० सि० ५

२—जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त कर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं उन्हें गुण कहते हैं। [न्या० दी० ३]

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" [ तत्त्वार्थसूत्र ५/४१ ] जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और अन्य गुण रहित हैं, वे गुण हैं।

**गुणभेद**

गुण तीन प्रकार के हैं—कुछ साधारण हैं, कुछ असाधारण और कुछ साधारणासाधारण।

मैं जीव द्रव्य हूँ—मुझ में स्वभाव से केवलज्ञानादि असाधारण स्वभाव गुण हैं। और अगुरुलघु उसका असाधारण स्वभाव गुण है तथा उसी जीव के मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं।

**मैं सामान्य गुण सहित हूँ**—अस्तित्वगुण सहितोऽहं। वस्तुत्वगुण सहितोऽहं। द्रव्यत्वगुण सहितोऽहम्। प्रमेयत्वगुण सहितोऽहं। अगुरुलघुत्वगुण सहितोऽहं। प्रदेशत्वगुण सहितोऽहं। चेतनत्व गुण सहितोऽहं। अमूर्तत्वगुण सहितोऽहम्।

**मैं विशेष गुणों सहित हूँ**—केवलज्ञान स्वरूपोऽहम्। केवलदर्शनस्वरूपोऽहम्। अनन्तसुख स्वरूपोऽहम्। अनन्त वीर्य स्वरूपोऽहम्। अमूर्तोऽहम्। चेतनत्व रूपोऽहम्। सम्यक्त्व सहितोऽहम्। चारित्र गुणरूपोऽहम्। चेतना गुण सहितोऽहम्।

हे पथिक ! सिद्ध सदृक शुद्धात्मा होने से तुम्हारा निज आत्मा भी स्वयं निश्चयापेक्षा सिद्ध है। उस देह-देवालय में स्थित सिद्ध प्रभु के गुणों की प्रतिदिन भावना करना चाहिये—

विरागोऽहम् = मैं राग रहित हूँ।
दंभ रहितोऽहम् = मैं अहंकार से रहित हूँ।
सनातनोऽहम् = मैं अनादि अनन्त हूँ।
वितृष्णोऽहम् = मैं तृष्णा रहित हूँ।
शान्तोऽहम् = मैं परम शान्त हूँ।
विदोषोऽहम् = मैं सर्वदोष रहित हूँ।
निरंशोऽहम् = मैं अखंड हूँ।
विनिद्रोऽहम् = मैं निद्रा रहित हूँ।
निरामयोऽहम् = मैं रोग रहित हूँ।
रजरहितोऽहं = ज्ञानावरण दर्शनावरण से मैं रहित हूँ।
निरोगोऽहम् = मैं निरोगी हूँ।
शरीररहितोऽहं = मैं शरीर से रहित हूँ।
निर्भयोऽहम् = मैं भय रहित हूँ।
निर्मलोऽहम् = मैं पवित्र हूँ।
जिनोऽहम्। जिनवरोऽहं। सिद्धोऽहं परब्रह्मोऽहं। महाब्रह्मोऽहं। अनन्ता-

निर्मोहोऽहम् – मैं मोह रहित हूँ। नंत गुण सहितोऽहं। इत्यादि क्रम से स्वगुणों की भावना करना चाहिये।

मैं जिन, सिद्ध, जिनेश्वर हूँ, अरु निराकार चैतन्य प्रभो,
दर्शन ज्ञान चारित्र रु बल से, पूर्ण लबालब एक अहो।
परमानन्दी सहजानन्दी, रागद्वेष से दूर अहो,
सकल गुणों का एक पिटारा, रत्न बटोरो सुक्ख लहो ॥२॥

**सूत्र—निष्क्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपोऽहम् ॥३॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी समस्त क्रियाओं से रहित टंकोत्कीर्ण अर्थात् टाँकी से उकेरे हुए पुरुषाकार के समान समस्त पदार्थों को जानने वाले ज्ञायक स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी समस्त क्रियाओं से रहित टंकोत्कीर्ण के समान समस्त पदार्थों को जानने वाला ज्ञायकस्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—क्रिया किसे कहते हैं?

**उत्तर**—प्रदेशान्तरप्राप्ति का हेतु ऐसी जो परिस्पन्दरूप पर्याय, वह क्रिया है। [पं० ९८]

**सक्रिय**—क्रिया सहित को सक्रिय कहते हैं। [ बहिरंग साधन के साथ रहने वाले जीव सक्रिय हैं ]

**निष्क्रिय**—क्रिया रहित को निष्क्रिय कहते हैं।

जो जीव शुद्धात्मानुभव की भावना के बल से कर्मों का क्षय कर तथा सर्व द्रव्यकर्म, नोकर्म पुद्गलों का अभाव करके सिद्धपद को पा जाते हैं, वे निष्क्रिय कहलाते है। अतः सिद्ध परमेष्ठी निष्क्रिय है।

हे पथिक! उस निष्क्रिय अवस्था की कारणभूत शुद्ध अवस्था का बार-बार चिन्तन करो। तुम्हारा शुद्धात्मा स्वयं कर्म से रहित हुआ "निष्क्रिय" है।

**प्रश्न**—टंकोत्कीर्ण किसे कहते हैं?

**उत्तर**—टाँकी से उकेरा हुआ, जो कभी नाश नहीं होता, वह टंकोत्कीर्ण है।

अथवा

समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्याय से अवस्थित (अपने में स्थित) होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है वह है टंकोत्कीर्ण।

[प्र०/५१ ता०]

प्रश्न—ज्ञायक एक भाव का अर्थ क्या है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि विरागी जीव ऐसा जानता है कि राग नाम का पौद्गलिक कर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव में प्रतीति रूप से आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है "मैं तो निश्चय से एक ज्ञायक स्वभाव हूँ, इसमें सन्देह नहीं है [स० सा०/२०७]

हे आत्मन् ! कर्म के उदय के रस से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं वे मेरा स्वभाव नहीं हैं। मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव हूँ।

हे पथिक ! अब क्या करो ?""सब जानने के वाद""

सामान्य तथा विशेष सब परभावों से भिन्न होकर टंकोत्कोर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्मतत्त्व को भलीभाँति जानो। आत्मस्वभाव को अच्छी तरह जानकर स्वभाव का ग्रहण और परभाव का त्याग करो। क्योंकि जब जीव अपने को ज्ञायक स्वभावरूप सुखमय जानता है और कर्मोदय से प्राप्त भावों को आकुलतारूप-दुःखमय जानता है तब ही परभावों का त्याग कर ज्ञानरूप स्वभाव में रह सकता है। यही सम्यग्दृष्टि का चिह्न है।

परभाव मैं नहीं हूँ—राग मेरा स्वभाव नहीं है। द्वेष मेरा स्वभाव नही है। मोह मेरा स्वभाव नही है। क्रोध मेरा स्वभाव नही है। मान मेरा स्वभाव नही है। माया मेरा स्वभाव नहीं है। लोभ मेरा स्वभाव नहीं है। कर्म, नोकर्म, मन, वचन काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ये मेरा स्वभाव नही है, फिर मैं कौन हूँ—"मै निष्क्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकभाव स्वरूप शुद्धात्मा हूँ"।

पर भावों को सब तजो, जो आकुलता देय।
निज स्वभाव को नित भजो, परमातम पद देय ॥३॥

**सूत्र—किञ्चिन्न्यूनोऽत्तमचरमशरीर प्रमाणोऽहम् ॥४॥**

सूत्रार्थ—मैं शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से चरम-उत्तम शरीर के प्रमाण से कुछ कम आकार वाला हूँ।

**विशेषार्थ—**

सूत्र में तीन शब्द हैं—किञ्चित् न्यून। उत्तम शरीर। चरम शरीर तथा चरमोत्तम शरीर।

किञ्चित् न्यून = कुछ कम।
उत्तम शरीर = सभी महापुरुष १६९ हैं उनका शरीर उत्तम है।
चरम शरीर = तद्भव मोक्षगामी का चरम शरीर है।
चरमोत्तम शरीर = तीर्थंकर भगवान् का होता है।

जिस प्रकार सिद्धालय मे विराजमान सिद्ध भगवान् चरमोत्तम देह से कुछ कम आकार प्रमाण वाले हैं उसी प्रकार का आकार वाला मेरे देह-देवालय में स्थित शुद्धात्मा है।

**प्रश्न**—"कुछ कम" का प्रमाण क्या लेना चाहिये ?

**उत्तर**—अन्तिम भव मे जिसका जैसा आकार, बाहल्य और दीर्घता हो उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धो की अवगाहना होती है।

[ति० ९०/९।१०]

"किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा" [द्र० १४] वे सिद्ध चरम शरीर से किञ्चित् ऊन होते हैं और वह किंचित् ऊनता शरीर व अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों की पोलाहट के कारण से है।

[द्र० सं० टीका]

हे आत्मन् ! अनादिकाल से यह शुद्धात्मा छोटे-बड़े शरीरों मे संकोच विस्तार करता रहा। यह सब नामकर्म की लीला थी। अब तू सिद्धसम किंचित् न्यून स्वस्वभाव की प्राप्ति मे बाधक योगों/मन-वचन-काय की कुटिलता का त्याग कर, विसम्वाद का त्याग कर तथा अन्यथा प्रवृत्ति को भी छोड़, क्योंकि ये सब विभाव परिणाम नामकर्म के आस्रव मे कारण हैं तथा स्वस्वभाव की हानि करने वाले हैं। अब मैं विसंवाद, योगों की कुटिलता को छोड़ता हूँ, सरलता को प्राप्त होता हूँ—

छोटे बड़े शरीर मे, मेरा नही निवास,
मैं हूँ सिद्धों के समा, किञ्चित् ऊन प्रमाण।
भाव कुटिलता का तजूं, भजता सरल स्वभाव,
समताधर निज को भजूं, करता निज में वास ॥४॥

**सूत्र—"अमूर्तोऽहम्" ॥५॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्धद्रव्यार्थिक नय से अमूर्त हूँ।

**विशेषार्थ**—

जिस प्रकार सिद्ध परमात्मा स्पर्श-रस-गंध-वर्ण सहित मूर्तिमान पुद्गल कर्मों के संयोग से रहित अमूर्तिक हैं, वैसे ही संसारावस्था में कर्म सहित

मूर्तिक होने पर भी मैं स्वभाव से अमूर्तिक हूँ। क्योंकि मैं सिद्ध समान हूँ।

हे आत्मन्! मूर्तिक कर्मों के आस्रव में कारणभूत सभी विभावपरिणामों का त्याग करो। तथा जिस अमूर्त आत्मा की प्राप्ति के अभाव से इस जीव ने अनादि संसार में परिभ्रमण किया है, उसी अमूर्त शुद्धस्वरूप आत्मा को मूर्त पञ्चेन्द्रिय विषयों का त्याग कर ध्याओ।

क्या हुआ मम आतमा यदि कर्मयुक्त हो मूर्त है,
कर्म बन्धन मुक्त हो तब, सिद्ध समान अमूर्त है।
मूर्त इन्द्रिय विषय त्यागूँ, कर्म आस्रव बन्द हों,
निज में निज ही को मैं ध्याऊँ, कर्म सब चकचूर हों ॥५॥

## सूत्र—अखण्डशुद्धचिन्मूर्तिरहम् ॥६॥

सूत्रार्थ—मैं शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अखण्ड-शुद्ध-चैतन्यमूर्ति हूँ।

**विशेषार्थ—**

नय-प्रमाण की अपेक्षा से रहित सिद्ध भगवान् अखण्ड हैं, शुद्ध, चैतन्य मूर्ति है वैसे ही मैं भी खण्ड रहित, शुद्ध-चिन्मूर्ति हूँ।

हे पथिक! परमानन्दमय आत्मा अनेक प्रकार की शक्तियों का समुदाय है। नयों की अपेक्षा भेद रूप किया हुआ तत्काल खण्ड-खण्ड रूप होकर नाश को प्राप्त होता है। इसलिये मैं अपने आत्मा को ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र तेजपुञ्ज हूँ। जिसमें खण्ड दूर नहीं किये गये हैं तो भी खण्ड (भेद) रहित अखण्ड हूँ, एक हूँ। द्रव्यकर्म, भावकर्म से रहित हुआ शुद्ध हूँ अर्थात् कर्मों के द्वारा चलायमान किया जाने पर भी चलायमान होने वाला नहीं हूँ। नयों के विरोध को मेट चिन्मूर्ति/चैतन्य-मूर्ति हूँ जो अनेक शक्तिसमूह रूप सामान्य विशेष रूप, सर्वशक्तिमय एक ज्ञानमात्र का अनुभव करता हूँ।

मैं राग रहित हो, अखण्ड आत्मा का अनुभव करता हूँ—

मैं ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं अपने शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से खण्डित करता हूँ। मैं अत्यन्त विशुद्ध निर्मल ज्ञानमय भाव हूँ।

हे आत्मन्! अभेद शुद्धनय की दृष्टि से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में कुछ भी भेद/खण्ड नहीं दिखाई देता, अतः शुद्धात्मा की अखण्डता की मैं नित्य भावना करता हूँ।

अनेक शक्तियों का है पिटारा, आतमराम हमारा,
एक-एक शक्ति ग्रहण जो करता, नय समाज है प्यारा।
नयविरोध जब दूर होंय तो, अखण्ड-शुद्ध-चित्तधारा,
खण्ड-खण्ड में भी अखण्ड है, अतिशय सब से न्यारा ॥६॥

**सूत्र—निर्व्यग्रसहजानन्दसुखमयोऽहम् ॥७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं आकुलतारहित सहजानन्द सुखमय हूँ।

**विशेषार्थ—**

हे पथिक ! सिद्ध परमेष्ठी जिस प्रकार सर्व आकुलता से रहित शुद्धात्मा से उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक आनन्दमय सुखस्वरूप हैं, उसी प्रकार मैं भी आकुलतारहित स्वाभाविक, आत्मजन्य सुखमय हूँ।

हे आत्मन् ! उस निराकुल सहजानन्द सुख में बाधक पञ्चेन्द्रिय विषयों में उत्पन्न होने वाली आकुलता, लम्पटता, राग-द्वेषादि विभाव परिणतियों का त्याग करो। अपने स्वरूप का निरन्तर चिंतन कर अपने आपसे पूछो—

"आकुल रहित होय इमि निशदिन, कीजे शुद्ध विचारा हो।
को मैं, कहा रूप है मेरो, बन्धन कौन प्रकारा हो" ॥

—अ० पद सं०

आकुलता रहित, एकान्त स्थान में शान्तचित्त बैठकर चिंतन करो—शुद्ध विचार करो—मैं कौन हूँ ? जड़ या चेतन ? जीव या अजीव ? सिद्ध हूँ या संसारी इत्यादि। मेरा रूप क्या ? मैं काला हूँ या गोरा हूँ। स्त्री हूँ, पुरुष या नपुसक। गृहस्थ हूँ या साधु ? देव हूँ या नारकी इत्यादि। मेरे को किस कारण से बन्ध हो रहा है ? वे कौन-कौन परिणाम हैं जो बन्धन कर रहे हैं इत्यादि।

"चैतन्य तू जगत् मे सबसे निराला,
सिद्ध समान तव रूप, न श्वेत काला।
है चित्त व्यग्र तव बंधन का निशाना,
त्यागो इसे सहज प्राप्त हो सिद्धशाला" ॥७॥

**सूत्र—शुद्धजीवघनाकारोऽहम् ॥८॥**

**सूत्रार्थ**—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से मेरा शुद्धात्मा शुद्ध जीवघनाकार रूप है। जैसे सिद्ध भगवान् नानाकार रूप हैं वैसे उन ही के समान ही मेरा यह शुद्धात्मा भी घनाकार रूप है।

**विशेषार्थ—**

किसी भी वस्तु का घनफल या घनाकर लाने के लिये लं० × चौ० × ऊँ० अर्थात् लम्बाई-चौडाई-ऊँचाई का परस्पर में गुणाकार कर दिया जाता है और घनाकार या घनफल निकल आता है। इसी प्रकार कर्म रहित अथवा दोषों से रहित शुद्ध जीवात्मा भी गुण रूप चौड़ाई × गुण रूप लम्बाई × गुण रूप ऊँचाई से गुणित किया जाने पर, निर्दोषी आत्मा में गुणों ही गुणों का परस्पर गुणा होने से घनाकार रह जाता है, वह शुद्धजीवघनाकार ही मैं हूँ। "निर्दोषी शुद्धात्मा जीव घनाकार रूप है, वही मैं हूँ। क्योंकि मैं सिद्ध स्वरूप हूँ।"

शुद्ध घनाकार रूप की बाधक राग-द्वेष-क्षुधा, पिपासा आदि अ त्याग करो। "हे चैतन्य प्रभु! आज तक मैंने जो [ शुद्ध भाव ] शुद्ध भाव को ग्रहण नहीं किया उसे ग्रहण करता हूँ, तथा जिन शुद्ध भावों का ग्रहण नहीं किया, उनको कभी भी छोड़ता नहीं हूँ। मै कौन हूँ—

गुण का गुण से गुणा किया, रह गया गुण ही गुण।
शुद्ध चिदम्बर पुरुष में, घनाकार चिद्रूप॥ ८॥

## सूत्र—नित्योऽहम् ॥९॥

**सूत्रार्थ**—मैं नित्य हूँ अर्थात् सिद्ध भगवान् का आत्मा जैसे नित्य अविनाशी है वैसे ही मेरा शुद्धात्मा भी नित्य अविनाशी है।

**विशेषार्थ—**

मै जीव द्रव्य हूँ। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय हूँ। पर्यायों मे परिवर्तन उत्पाद-व्ययकी अपेक्षा होनेपर भी मैं गुण अपेक्षा अथवा द्रव्यापेक्षा ध्रौव्य हूँ, अविनाशी हूँ। मेरा कभी नाश न हुआ, न हो रहा है और न होगा।

हे आत्मन्! पर्याय बुद्धि का त्याग करो, द्रव्यदृष्टि की ओर चित्त लगाओ। पर्यायदृष्टि ही तेरे स्वभाव की नाशक है, अनादिकाल से स्व-स्वरूप से विचलित कर रही है। मैं त्रैकालिक ध्रौव्य गुण सहित चिदानन्द आत्मा अपने नित्य, अविनाशी रूप में तल्लीन होता हूँ।

परजय दृष्टि रूप बदलती है, अनित्य यह सोच विचार,
मूढ़ हुआ मैं भ्रमित बुद्धि से, घूम रहा सारा संसार।
अब तो आ जा चेतन अपने में, द्रव्यदृष्टि से रूप निहार,
अपना वैभव निज में पाले, नित्य अचल जो है अविकार॥९॥

**सूत्र—निष्कलंकोऽहम् ॥१०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं कलंक से रहित निष्कलंक हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—कलंक क्या हैं ?

**उत्तर**—राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, याचना, अज्ञान, प्रमाद, इन्द्रिय लोलुपता, पिशुनता, मन की चंचलता, वचन की कठोरता तथा काय की दुष्प्रवृत्ति इत्यादि विभाव परिणतियाँ शुद्धात्मा पर कलंक है।

हे आत्मन् ! सिद्ध समान कलंक रहित होकर, निष्कलंक शुद्धात्मा को विभाव परिणतियों से कलंकित मत कर। तू स्वभाव से निष्कलंक रूप है। तेरा आत्मा विभाव परिणतियों से कलंकित हो रहा है, जैसे स्फटिक मणि पर लगा कागज उसके स्वरूप को कलंकित कर देता है वैसे ही इन विकारी भावों ने तेरी शुद्धात्मा को कलंकित किया है। हे भव्यात्मन् ! इनका त्याग कर। मैं स्वभाव से निष्कलंक हूँ क्योंकि सिद्ध समान हूँ। अतः सब विकारों को छोड़ता हूँ।

निष्कलंक मम आतमा, सब विकार से दूर।
मैं खोजूं इसको अतः, अपने मे भरपूर ॥ १० ॥

**सूत्र—उर्ध्वगतिस्वभावोऽहम् ॥ ११ ॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी स्वाभाविक उर्ध्वगति स्वभाव होने से कर्म क्षय होते ही उर्ध्वगमन करते है, उसी प्रकार स्वाभाविक रूपेण उर्ध्वगमन करता मुझ आत्मा का स्वभाव है।

**विशेषार्थ—**

**शंका**—बृहद् द्रव्यसग्रह ग्रन्थ में शंका उठाई है—जीव जिस स्थान में कर्मों से मुक्त होता है वही रहता है या कही जाता है ?

**समाधान**—पूर्व प्रयोग से, असंग होने से, बन्ध का नाश होने से तथा गति परिणाम से जीव का उर्ध्वगमन जानना चाहिये। [ पृ० ३५ ]
तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५-१० ॥
पूर्वप्रयोगादसगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६-१० ॥
आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७-१०

—तत्त्वार्थसूत्र

१. मुक्त जीव कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से उर्ध्वगमन करता है।

२. मुक्त जीव, दूर हो गया है लेप जिसका ऐसे तूम्बी की तरह ऊपर को जाता है।

३. मुक्त जीव कर्मबन्ध से मुक्त होने के कारण एरण्ड बीज के समान ऊपर को जाता है।

४. मुक्त जीव स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह उर्ध्वगमन करता है।

यद्यपि व्यवहार से चारों गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय के वश ऊँचा-नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है तथापि निश्चय से केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है, उसमें जाने के समय स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है।

[ बृ. द्र. सं० पृ. ८ ]

हे आत्मन् ! स्वभाव से उर्ध्वगमन की प्राप्ति में बाधक कर्मों का संयोग है। संसार अवस्था में उन कर्मों के क्षय का निरन्तर अभ्यास करो, क्योंकि पूर्व अभ्यास के बल से ही शुद्धात्मा कर्मों का क्षय होने पर ऊपर को गमन करता है।

कर्मों का बन्ध दुखकार, हे पथिक ! जानो,
हो ध्यान-ज्ञान नित मग्न, इसे खपाओ।
ऊपर गमन तब करो, जब बन्ध छूटे,
मार्ग यही तुम धरो, भव बन्ध टूटे ॥११॥

**सूत्र—जगत्त्रयपूज्योऽहम् ॥१२॥**

**सूत्रार्थ**—मै तीन जगत् के द्वारा पूज्य हूँ। जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी तीन जगत् से पूज्य हैं, उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी तीन लोक के जीवों के द्वारा पूज्य है।

**विशेषार्थ**—

संसार के प्राणी ज्येष्ठ बनना चाहते है किन्तु श्रेष्ठ बनना नहीं चाहते। प्रत्येक व्यक्ति पूजा-प्रतिष्ठा-मान-सम्मान की इच्छा में झुलस रहा है। हे आत्मन् ! व्रत, चारित्र, तपस्या अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र रत्नत्रय मणियों से प्रथम आत्मा को श्रेष्ठ बना ले। ज्येष्ठता, पूज्यता, मान-सम्मान-प्रतिष्ठा स्वयं हो जायेगी।

हे आत्मन्! मेरा यह आत्मा स्वभाव से ही पूज्य है उस पर कर्मी विभाव परिणतियों की धूली ने उसे अपूज्य बनाया है। मैं जगत्त्रयपूज्यता की बाधक मिथ्यात्व-अविरति-कषाय और योग परिणतियों का त्याग करता हूँ तथा सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र और तप रूप आराधनाओं को स्वीकार करता हूँ। मैं आराधना से सहित हुआ सिद्ध समान त्रिजगत्पूज्य हूँ।

**प्रश्न**—तीन जगत् में पूज्य कौन है?

**उत्तर**—"सिद्ध भगवान्"। क्यों? अष्टकर्मों के संयोग से स्व-स्वरूप को भूलकर जीव भ्रमित हो रहा है, उस संसार परिभ्रमण को रत्नत्रय की अखण्ड आराधना से सिद्ध भगवान् ने क्षय कर जगत्पूज्य अवस्था प्राप्त की है। पूज्यता की बाधक कर्मों की पराधीनता को चकचूर कर उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है। इसलिये सिद्ध भगवान् त्रिजगत्पूज्य हैं।

मैं भी कर्मों के नाश से युक्त हुआ जगत्पूज्य हूँ क्योंकि कर्मों की पराधीनता मेरा स्वभाव नहीं है। मै कर्मों के बन्धन से छूटते ही पूर्ण स्वतन्त्र-सर्वजगत्पूज्य शुद्ध सिद्ध समान परमात्मा हूँ। मैं उसी परम स्वतंत्र अवस्था का पुनः-पुनः चिन्तन करता हूँ।

> तीन जगत् से पूज्य जिनेश्वर, मेरा आतम राम रे,
> कर्मों के बन्धन से जकड़ा, बिगड़ रहा सब नाम रे।
> कर्म बिचारे जड़ हैं चेतन! क्या कर सकते काम रे,
> रत्नत्रय की खड्ग हाथ ले, इनको अभी पछाड़ रे॥ १२॥

## सूत्र—लोकाग्रनिवासोऽहम्॥ १३॥

**सूत्रार्थ**—मैं लोकाग्र निवासी हूँ। अर्थात् जिस प्रकार सिद्ध भगवान् लोक शिखर पर विराजमान हैं उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी लोकाग्र निवासी है।

**विशेषार्थ**—

अरहंत देव चार घातिया कर्मों का क्षय करके जीवन्मुक्त हो गये फिर भी उनके शेष अघातिया कर्म लगे हुए हैं, वे भी बेड़ी के समान अत्यन्त कठिन हैं। ऐसे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म की मूलोत्तर प्रकृतियों का अत्यन्त क्षय करते हुए आत्मा का निजस्वभाव विशुद्ध अवस्था प्रकट

होते ही उसी काल के सबसे छोटे भाग में वे लोकाकाश के अग्रभाग पर जा, विराजमान हो जाते हैं।

हे आत्मन्! कर्मों से रहित विशुद्धात्मा होने पर मेरा भी रहने का शाश्वत स्थान लोकाग्र है। इस संसार में कर्मों से आवृत्त हुआ तूने संसार के देश-नगर-मोहल्ला-मकान-महल-झोपड़ी आदि को ही अपना निवास माना और उसी कारण फुटबाल की तरह इधर-उधर फेंका गया। राग-मोह संसार निवास के कारणों का त्याग कर लोकाग्र पर मुक्ति सुन्दरी के महल की खोज कर—

पेट में पोढ़ के पोढ़ भये, जननी संग पोढ़ के बाल कहाये,
पोढ़न लागे तिया के संग, सारी उमर तुम पोढ गँवाये।
सिद्धशिला के पोढ़न हारे, यहु कर ध्यान कबहुँ ना लाए,
पोढ़त-पोढ़त ऐसे भये कि, चिता पर पोढ़न के दिन आये॥

—भ० प्र०

हे आत्मन्! मेरा शाश्वत निवास स्थान लोकाग्र है। मै उसी निवास पर पहुँचने की तैयारी करता हूँ। वहाँ तक पहुँचने में बाधक अष्ट कर्मों का ध्यानाग्नि से क्षय करूँगा। चौरासी लाख उत्तरगुणों का स्वामी बनकर शुद्ध सिद्ध पद प्राप्त करूँगा। जो मेरा स्वभाव है।

सिद्धशिला का वासी चेतन, घर-घर में क्यों डोले,
नित्य निरञ्जन निर्विकार से, जीवन का विष धोले।
अष्ट गुणों की प्राप्ति से तू, आतम रस में डोले,
मुक्ति कामिनी हो प्रसन्न तब, आनन्दामृत घोले॥ १३॥

जिनोऽहं सिद्धोऽहं।

**सूत्र—त्रिजगद्वन्दितोऽहम्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं तीन जगत् के द्वारा वन्दनीय हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—तीन जगत् में वन्दनीय वस्तु क्या है? कुल है या रूप, लिंग या धन-वैभव आदि कौन?

**उत्तर**—तीन लोक में शरीर वन्दनीय नहीं, क्योंकि अशुचि, मल का पिटारा है। कुल भी वन्दनीय नहीं, क्योंकि गोत्र कर्म के उदय से उच्च-नीच कुल मिलता है। रूप भी पूज्य नहीं, क्योंकि सुभग नाम कर्मोदय से मिलता

है, लिंग भी पूज्य नही, क्योंकि भाव के बिना मात्र लिंग कार्यकारी नहीं है। धन-सम्पत्ति भी पुण्य-पाप का विचित्र खेल है अतः पर निमित्त से होने वाली विभाव पर्यायें कभी पूज्य/वन्दनीय नही है। "को वन्दे गुण हीनं" वन्दना सदैव गुणों की होती आई, हो रही है और आगे भी होगी।

सिद्ध परमात्मा अष्टगुणों से शोभायमान राग-द्वेष, मोह आदि से रहित वीतरागी-समदर्शी-त्रिलोकवंद्य-त्रिकालदर्शी हैं अतः वे पूज्य हैं तथा उन्ही के समान अनन्त गुणों से युक्त, कर्मों से रहित मेरा शुद्धात्मा भी पूज्य है—

हे तीन जगत् से वन्दनीय तू, जप ले अपना नाम रे,
जाति कुल अरु लिंग आदि में, नही तेरा स्थान रे।
वीतराग सर्वज्ञ समदर्शी, गुण की पूजा होती है,
जो इनको तज देह को पूजे, समझो मिथ्यादृष्टि है ॥१४॥

**सूत्र—अनन्तज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥१५॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सिद्ध भगवान् के समान अनन्त ज्ञान को धारण करने वाला केवलज्ञानमय हूँ। प्रत्यक्षज्ञानं. अनन्तज्ञान/क्षायिक ज्ञान, केवलज्ञान ये पर्यायवाची नाम हैं। जिनशासन मे जिस ज्ञान को प्रत्यक्ष या केवल-ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान युगपत् सर्व लोकालोक मे स्थित तीन काल सम्बन्धी पदार्थों को जानता है। अहो यह ज्ञान का माहात्म्य है। तात्पर्य यह है कि "एक समय में सर्व पदार्थों को ग्रहण करने से ही सर्वज्ञ होता है तथा वही अनन्तज्ञान कहलाता है।

**विशेषार्थ**—

ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अरहंत व सिद्ध परमात्मा में वह केवलज्ञान, अनन्तज्ञान पूर्ण प्रकट है। मेरा चैतन्यात्मा भी उसी ज्ञानरूप है पर बादलों की ओट मे छुपे सूर्य के समान मेरी अवस्था है अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के आवरण से ढँका मेरा प्रत्यक्षज्ञान धूमिल हो रहा है, वास्तव में तो मैं स्वभाव से ज्ञानावरण कर्म से रहित हुआ अनन्तज्ञानस्वरूप ही हूँ।

**प्रश्न**—अनन्तज्ञान को साक्षात् प्राप्त करने के लिये अब क्या उपाय है?

**उत्तर**—हे पथिक! ज्योतिष, मन्त्र, वाद, रस-सिद्धि आदि के जो ज्ञान हैं वे खण्डज्ञान हैं तथा जो मूढ़ जीवों के चित्त में चमत्कार करने में कारण हैं और जो परमात्मा की भावना को नाश करने वाले हैं उन सब

ज्ञानों में आग्रह, हठ त्याग करके तीन जगत् व तीन काल की सर्व वस्तुओं को एक समय में प्रकाश करने वाले, अविनाशी, अखण्ड और एक रूप से उद्योतरूप तथा सर्वज्ञत्व शब्द से कहने योग्य जो केवलज्ञान है, उसकी उत्पत्ति का कारण जो सर्व रागद्वेषादि विकल्प जालों से रहित स्वाभाविक शुद्धात्मा का अभेदज्ञान अर्थात् स्वानुभव रूप ज्ञान है उसमें भावना करना ही अनन्त केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय है। अतः मुमुक्षु को उसी की भावना करना योग्य है।

[ प्र० सा० पृ० ११९ ]

तीनों ही लोक दिखते, जिसमें प्रत्यक्षा,
जानों वही जगत् में, इक ज्ञान स्वच्छा।
ज्योतिष्क वेद अरु, मन्त्र सभी जो जानो,
ज्ञान अनन्त बिन, ज्ञानी कैसे मानो ॥१५॥

## सूत्र—अनन्तदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥१६॥

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्तदर्शनस्वरूप हूँ। सिद्ध भगवान् के समान।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—दर्शन किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—"निर्विकल्प सत्ता ग्राहकं दर्शनं" विकल्प रहित होकर सत्ता को ग्रहण करने वाला दर्शन है। अर्थात् यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रूप से पदार्थों को भिन्न-भिन्न न करके और विकल्प न करके जो पदार्थों को सामान्य से अर्थात् सत्तावलोकनरूप से ग्रहण करना है उसको परमागम में दर्शन कहते हैं।

**प्रश्न**—अनन्तदर्शन किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त दर्शन होता है यह क्षायिक अर्थात् अनन्तज्ञान के साथ होने वाला अनन्त दर्शन है।

छद्मस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समय में नहीं होते। तथा केवली भगवान् के ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग एक ही समय में होते हैं।

हे आत्मन् ! क्षायोपशमिक दर्शन या क्रम से होने वाला उपयोग मेरा स्वभाव नहीं है, यह कर्म संयोग जनित वैभाविक परिणति है। मैं अनन्तदर्शन की बाधक निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि

आदि पाँच निद्राओं पर विजय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता हूँ। दिन में निद्रा लेने से तीव्र दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है। मैं उसको भी अब छोड़ता हूँ, अनन्तज्ञान के साथ होने वाले अनन्तदर्शन स्वभाव को प्राप्त करता हूँ।

निराकार निर्विकल्प जो, सत्ता मात्र का ग्राह्य।
दर्शनावरणी क्षय करे, अनन्त दर्शन पाय ॥१॥
दर्शन-ज्ञान का एक सह, होना यही स्वभाव।
शेष सभी विभाव है, तज दे चेतन राव ॥२॥१६॥

**सूत्र—अनंतवीर्यस्वरूपोऽहम् ॥१७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्त वीर्य स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

मैं सिद्ध भगवान् के समान अनन्त शक्ति का धारक हूँ।

हे पथिक! आज का अज्ञानी मानव पुद्गल की शक्ति के पीछे पड़ा हुआ है। उसकी शक्ति को देख-देखकर आश्चर्यान्वित हो रहा है पर एक क्षण विचार करो, उस पुद्गल की शक्ति को जानने वाला मेरा चेतन आत्मा कितना शक्तिशाली होगा। जैसे शुद्ध परमाणु शीघ्रगति से गमन करे तो एक समय में चौदह राजू जा सकता है वैसे ही कर्म के सम्बन्ध से रहित शुद्ध जीव भी एक समय मे लोक के अग्रभाग पर जा, विराजमान हो जाता है।

हे आत्मन्! अपनी अनन्त शक्ति को पहिचानो। तुम सबको जान सकते हो, देख सकते हो, किन्तु तुम्हे कोई देख नही सकता, जान भी नहीं सकता। मुझ में तीन लोक को उलट-पलट करने की शक्ति है वही मुझ में सर्व कर्मों को क्षयकर अनन्त सुख को लब्ध करने की भी शक्ति है।

आत्मा कभी कमजोर नही, आत्मा कभी मासूम नहीं, आत्मा कभी नाजुक नहीं, आत्मा वज्र से भी महा शक्तिशाली अनन्तशक्ति रूप है।

हे पथिक! शक्ति को छिपाकर व्रत, संयम से जी चुराने वाला कभी अपनी अनन्त-शक्ति को नही पाता तथा शक्ति से अधिक करने वाला भी अपने लक्ष्य को नहीं पाता। अतः शक्ति को न छिपाते हुए व्रत-शील-संयम का आचरण करो। गुरुओं की संयमियों की वैय्यावृत्ति करो, यही अनन्त-वीर्य स्वरूप निज वस्तु की प्राप्ति के साधन हैं।

अनन्तवीर्यमय आतम मूरख जानत नाह,
भटकत है संसार में, भूला निज की छाह।
निजशक्ति अनुसार नित करो दान व्रत सार,
शक्ति निज की हो प्रकट, छूट जाय संसार ।।१७।।

**सूत्र—अनन्तसुखस्वरूपोऽहम् ।।१८।।**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ। अर्थात् मेरा आत्मा अरहंत व सिद्ध परमेष्ठी के समान अनन्त सुख स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—अनन्त सुख किसे कहते हैं?

**उत्तर**—आत्मा के स्वभाव के घात का अभाव है सो सुख है।

**प्रश्न**—आत्मा का स्वभाव क्या है?

**उत्तर**—आत्माका स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शन है। इनके घातक केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण हैं, सो इन दोनों आवरणों का अभाव केवलज्ञानियों के होता है, इसलिये स्वभाव के घात के अभाव से होने वाला अनन्त सुख है, उसी अनन्त सुखरूप मैं हूँ।

क्योंकि परमानन्दमय उस ज्ञान मे सुख से उलटे आकुलता को पैदा करने वाले सर्व अनिष्ट दुःख और अज्ञान नष्ट हो गए तथा पूर्व में कहे हुए लक्षण को रखने वाले सुख साथ अविनाभूत—अवश्य होने वाले तीन लोक के अन्दर रहने वाले सर्व पदार्थों को एक समय में प्रकाशने वाला इष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया, इसलिये यह जाना जाता है कि केवलज्ञानियों के ज्ञान ही अनन्त सुख है। प्रत्यक्ष/केवलज्ञान ही परमार्थिक सुख है।
[प्र० सा० पृ० १३६]

**प्रश्न**—केवलज्ञान ही सुख है? कैसे?

**उत्तर**—जहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आदि घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं उस अनंत पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान के भीतर दुःख का कारण खेद नहीं है।

अर्थात् जहाँ ज्ञानावरण-दर्शनावरण के उदय से एक साथ पदार्थों के जानने की शक्ति नहीं होती, किन्तु क्रम-क्रम से पदार्थ जानने में आते हैं वहीं खेद होता है। दोनों दर्शनावरण, ज्ञानावरण का अभाव होने पर एक साथ सर्व पदार्थों को जानते हुए केवलज्ञान में कोई खेद नहीं है, किन्तु सुख ही है। तैसे ही उन केवली भगवान् के भीतर तीन जगत् और तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों को एक समय में जानने की समर्थ अखड एक रूप प्रत्यक्षज्ञानमय स्वरूप से परिणमन करते हुए केवलज्ञान ही परिणाम रहता

है, कोई केवलज्ञान से भिन्न परिणाम नहीं होता, जिससे कि खेद होगा।

तात्पर्य यह है शुद्ध आत्मप्रदेशों में समतारस के भाव से परिणमन करने वाली तथा सहज शुद्ध आनन्दमयी एक लक्षण को रखने वाली, सुखरस के आस्वाद में रमने वाली आत्मा से अभिन्न निराकुलता ही अनन्त सुख है। ज्ञान और सुख में संज्ञा-लक्षण-प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी निश्चय से अभेदरूप से परिणमन करता केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है। मेरा शुद्धात्मा भी घातिया कर्म रूप ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मों के क्षय होने से अनन्त सुख स्वरूप है।

मेरा वह अनन्तसुख स्वात्माश्रित होने से, समस्त सर्वप्रदेशों से जानने वाला होने से, अनन्त पदार्थों में फैला होने से, कर्ममल रहित होने से और अवग्रहादि से रहित होने से एकान्त से सुख है क्योंकि सुख का एकमात्र लक्षण अनाकुलता है। मैं तद्रूप हूँ।

दुख के कारण कर्म घातिया, उनको चेतन चूर करो,
क्षायिक ज्ञान की प्राप्ति करो तब, लोकालोक सब ही निरखो।
यही ज्ञान है सुख का कारण, इसमें जरा नहीं शंक अहो,
नाम भेद से क्या होना है, गुण जब दोनों एक लहो ॥१८॥

हे आत्मन्! अनंत सुख की बाधक राग-द्वेष प्रणाली का त्याग करो। हे पथिक! तुम अब स्वयं समझदार हो, अपनी मंजिल शीघ्र तय करो।

**सूत्र—अनन्तगुण स्वरूपोऽहम् ॥१९॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सिद्ध भगवान् के समान अनन्तगुण स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

मैं ज्ञानावरण कर्म के क्षय से—केवलज्ञान स्वरूप हूँ।
मै दर्शनावरण कर्म के क्षय से—केवलदर्शन स्वरूप हूँ।
मोहनीय के क्षय से—क्षायिक सम्यक्त्व गुण रूप हूँ।

मै अनन्तवीर्य गुण स्वरूप हूँ, अनंत दर्शन, अनंत दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, भामंडल, चौसठ चँवर और तीन छत्र आदि तथा आश्चर्यकारी अनंत काल तक रहने वाले दूसरे अनन्त गुणों से देदीप्यमान स्वयम्भू हूँ। मै निराग, निर्देश, निर्मोह, निष्कल, निर्नाम, निर्गोत्र, निर्विकार, निःशल्य, निश्चिन्त, निर्मम, निःसंग, निर्दोष, निःपाप, विदंभ, वितृष्ण, विमोह, विदर्प आदि अनन्त गुण स्वरूप हूँ।

हे पथिक! मैं आत्मा ज्ञानादि अनन्तगुणोंसे सुशोभित हूँ तभी तो निजस्वरूप की प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति करने वाला हूँ। यदि मैं

ज्ञानादिगुणों से विशिष्ट नहीं होता तो निजस्वरूप की प्राप्ति या मोक्ष का अधिकारी कभी नहीं बन सकता था। पथिक जागो, चेत जाओ! इन ज्ञानावरणादि कर्मों ने तुम्हें ठग लिया है, तुम्हारे गुणों को ढक लिया है, उन कर्मों के क्षय करने का पुरुषार्थ करो, संयम धारण करो, चारित्र स्वीकार करो। बिना संयम के गाड़ी कही भी फेल हो सकती है।

लोक ईश मम आतमा, त्रिकालदर्शी जिनराय।
गुण अनन्त का खान यह, गिनती किम करि गांय ॥१॥
राग द्वेष नही मोह हैं, नही तृष्णा अरु दम्भ।
एक निरञ्जन रूप यह, वीतराग भगवन्त ॥२॥ ॥१९॥

**सूत्र—अनन्तशक्तिस्वरूपोऽहम् ॥२०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्त शक्तिवान् हूँ।

**विशेषार्थ—**

चक्रवर्ती की शक्ति से अधिक व्यन्तरों की शक्ति होती है, व्यन्तर देवों से अधिक भवनवासिदेवों में, उनसे अधिक वैमानिकदेवों में इन सबसे अधिक अनन्तशक्ति तीर्थंकर भगवान् की होती है तथा अष्टकर्म रहित सर्वाधिक शक्ति सिद्ध परमात्मा में है। जो शक्ति सिद्ध परमात्मा में है वही मेरा स्वभाव है।

हे आत्मन्! मेरा अनन्तशक्तिमय स्वभाव त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को जानने-देखने में समर्थ है परन्तु कर्मरूपी बादल के आवरण में धूमिल हो रहा है। मैं अपने उस स्वभाव की प्राप्ति के लिये विभाव को छोड़ता हूँ, स्वभाव को ग्रहण करता हूँ। तप-संयम के द्वारा अपनी अनंत-शक्ति को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता हूँ।

अनन्त शक्ति का पिटारा, शुद्ध आतम जान लो।
शक्ति अपनी ना छिपाकर, पथिक संयम धार लो॥
बिन चारित्र यह शक्ति तेरी, ना प्रगट होगी कभी।
समझो चेतन आत्मशक्ति, भूल निज की सुधार लो ॥२०॥

**सूत्र—अनन्तानन्तस्वरूपोऽहम् ॥२१॥**

**सूत्रार्थ**—मैं अनन्तानन्तस्वरूप हूँ। जहाँ अनन्तान्त शब्द दो अर्थोंका बोधक है—(१) मैं सिद्ध समान अनन्तानन्त गुण स्वरूप हूँ। (२) न अन्त इति अनन्त अर्थात् अनन्तानन्त काल में भी नाश को प्राप्त होने वाला नहीं हूँ।

**विशेषार्थ—**

अतः जैसे सिद्ध भगवान् अनन्तानन्त गुणों के धारी होने से अनन्तानन्त अथवा अनन्तकाल तक रहने से अनन्त कहलाते हैं वैसे ही मैं शुद्धात्मा भी अनन्तानन्त गुणों से सहित होने से अनन्तानन्त हूँ अथवा अनन्तकाल में भी क्षय को प्राप्त नहीं होने से भी अनन्तानन्त हूँ।

क्षमा-मारदव-आरजव, गुणों से आतम पूर।
भेद विज्ञान से देख ले, होंय कर्म चकचूर॥

मैं क्षमा रूप हूँ—तभी तो मैं ज्ञानी आत्मा मुझ पर कोई द्वेष करता है तो मैं विचार करता हूँ—ये मुझ पर द्वेष ही तो कर रहा है मुझे मार तो नही रहा है, यदि मार रहा है तो मै सोचता हूँ मार भर ही रहा है मेरे प्राणोंका वियोग तो नहीं कर रहा है। यदि वियोग भी करता है तो मै सोचता हूँ—प्राणों का वियोग ही तो कर रहा है मेरा जिनधर्म तो मुझ से नही छीन रहा है—अर्थात् मेरा आत्मा क्षमा मूर्ति है। उपसर्ग-परीषह प्रत्येक अवस्था में वह क्षमा गुण का भंडार है।

मै मान रहित हूँ। जिनेन्द्र अरहंत सिद्ध साधु के चरणों मे विधिवत् पञ्चाङ्ग अष्टाङ्ग नमस्कार करता हूँ तथा अपने प्रभु परमात्मा की जो देह देवालय में विराजमान है, नित्य वन्दना करता हूँ-"हे मेरे परमात्मा सिद्धात्मा अब कब मुझ पर प्रसन्न होओगे—"प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह"—

मै मन-वचन-काय रूप पुद्गल के संयोग से रहित हूँ अतः मन-वचन-काय कुटिलता भी मुझ में नही है। मैं आर्जव गुण सहित हूँ। मैं लोभ से रहित पवित्र हूँ। शौच गुण सहित हूँ। क्षमादि गुणों का भूषण अनन्तानन्त गुणों का पिटारा हूँ।

मै अनादिकाल से हूँ, अनन्तकाल तक रहूँगा, अनादिनिधन होने से मैं अनन्तकाल तक रहने वाला अनन्तानन्त हूँ।

नहीं अन्त है मम आतमा का इसलिये मैं अनन्त हूँ,
गुण अनन्त का हूँ खजाना, मैं अनन्तानन्त हूँ।
कभी न अन्त हुआ है मेरा, होगा कभी ना अन्त है,
पथिक समझो चित्त में, आतम अनादि अनन्त हैं॥२१॥

**सूत्र—निर्वेद स्वरूपोऽहम्॥२२॥**

**सूत्रार्थ**—मैं "वेद" रहित निर्वेद स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

तृण की अग्नि के समान पुरुषवेद की कषाय और कारोष-कंडे की

अग्नि के समान स्त्री वेद की कषाय तथा अवा-भट्टे की अग्नि के समान नपुंसकवेद की कषाय से जो रहित हैं वे महासुखी, अपनी आत्मा से उत्पन्न अनन्त सुख के भोक्ता सिद्ध भगवान् हैं, उसी अनन्त सुख का भोक्ता मेरा शुद्धात्मा है।

**प्रश्न**—तीन वेद की उत्पत्ति का निमित्त क्या है ?

**उत्तर**—पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद कर्म के उदय से भाव पुरुष, भाव स्त्री और भाव नपुंसक होता है। नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुष-स्त्री व नपुंसक होता है। वेद नोकषाय के उदय से अथवा उदीरणा से जीव के परिणामों मे बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है और मोहाभिभूत होने से यह जीव गुण-दोष का विचार नहीं कर सकता।

आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक है, वेद रहित शुद्ध चैतन्यमय आनन्दामृत का भोक्ता "जो है सो है" वर्णनातीत है।

वेद रहित, निर्वेद कहाता,
पुरुष स्त्री नहीं, नपुंस सुहाता।
अपने अनन्त सुखों का भोक्ता,
परद्रव्यन से, नाता त्यक्ता ॥२२॥

**सूत्र—निर्मोहस्वरूपोऽहम् ॥२३॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा शुद्धात्मा मोह रहित निर्मोह स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

सिद्ध भगवान् का आत्मा जैसे मोह रहित है वैसे ही मैं भी मोह रहित हूँ। "दर्शनचारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेक मोह कहलाता है। आहार-भय-मैथुन-परिग्रह संज्ञाएँ, तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित योग-प्रवृत्ति रूप कृष्ण-नील-कापोत नाम की तीन लेश्याएँ, रागद्वेष के उदय के प्रकर्ष के कारण वर्तता हुआ इन्द्रियाधीपना, रागद्वेष के उद्रेक के कारण प्रिय के संयोग की, अप्रिय के वियोग की, वेदना से छुटकारे की तथा निदान की इच्छारूप आर्त्तध्यान, कषाय द्वारा क्रूर ऐसे परिणाम के कारण होनेवाला हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द एवं विषयसंरक्षणानन्द रौद्र-ध्यान, निष्प्रयोजन [ -व्यर्थ ] शुभ कर्म से अन्यत्र ( -अशुभ कार्य में ) दुष्ट-रूप से लगा हुआ ज्ञान तथा दर्शनचारित्रमोह के उदय से उत्पन्न अविवेक रूप मोह परिणाम आदि ये सब भावास्रव रूप परिणाम मोह का ही फल जानो। हे आत्मन् ! यह मोह ही अनन्त संसार का कारण है।

मेरा आत्मा मोह से सर्वथा रहित है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से मैं संज्ञा, अशुभ लेश्या, आर्त्त-रौद्रध्यान आदि सब विभाव परिणामों से रहित शुद्ध चिदानन्द चैतन्य प्रभु परमात्मा हूँ। आस्रव के कारणों से रहित मैं निर्मोह हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध समान हूँ। हे आत्मन् ! स्वशरीर में मोह भी खतरे का चिह्न है तो फिर पर-स्त्री-पुत्र-कलत्रादि में मोह क्यों ? सुख का साधन परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में निर्मोह हो, स्व-द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव में स्थिर हो, शाश्वतानन्द रस का पान करना है, मैं अपने को, अपने में, अपने द्वारा, अपने लिये, अपने से, अपने को स्थिर करता हुआ पूर्ण निर्मोह हूँ।

पापास्रव के जो कारण हैं, तुम उनमें मोह प्रबल जानो,
अपने मन को स्थिर करके, शुद्ध चेतना पहिचानो।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल भाव जो, पर हैं उनको पर मानो,
आत्म चतुष्टय में स्थिर हो, मोह तजो निज रूप सँवारो ॥२३॥

**सूत्र—निरामयस्वरूपोऽहम् ॥२४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं निरामय स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

सिद्ध परमात्म निरामय हैं। आमय कहते हैं रोग को तथा जिनका रोग पूर्णतः निकल चुका है वह आत्मा निरामय है। सिद्ध परमात्मा सर्व रोगों से रहित हैं वैसे ही शुद्ध निश्चयनय से मेरा शुद्धात्मा भी निरामय/निरोग है।

जीवात्मा के साथ अनादिकाल से शरीर का संयोग लगा हुआ है। संयोग के कारण जीवात्मा तीन रोगों से पीड़ित है—जन्म-जरा और मृत्यु। पूर्व पर्याय का नाश मृत्यु कहलाती है, नवीन पर्याय की उत्पत्ति जन्म कही जाती है तथा पुद्गल की जीर्णता को अथवा पुद्गल के गलन को जरा कहते हैं। आत्मा निश्चयनय से न जन्मता है, न मरता है, न गलता या न जरा-बुढ़ापा को प्राप्त होता है अतः मेरा शुद्धात्मा रोग रहित निरोगी है, निरामय है।

नहीं जनमता, नहीं ये मरता, मेरा आतम राम है,
नहीं बुढ़ापा कभी घेरता, सहजानन्द अभिराम है।
नहीं रोग की कणिका मुझ में, मैं निरोगी सिद्धातमा,
परपदार्थ से भिन्न एक मैं, अविनाशी परमातमा ॥२४॥

सूत्र—निरायुष्क स्वरूपोऽहम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—मैं आयुकर्म से रहित हूँ। सिद्ध भगवान् सिद्धालय में शाश्वत अनन्तकाल के लिये विराजमान हैं, वैसे ही मेरा शुद्धात्मा भी सिद्धलोक का वासी है। नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवायु में रहना मेरा स्वभाव नहीं है।

विशेषार्थ—

प्रश्न—आयुकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कर्म के उदय से जीव नारकी, देव, मनुष्य व तिर्यञ्च के शरीर में रुका रहे, वह आयुकर्म है।

प्रश्न—चार आयु का बन्ध किन परिणामों से होता है ?

उत्तर—बहुत आरम्भ और परिग्रह से नरकायु का बन्ध होता है। मायाचार (छल-कपट) करने से तिर्यञ्चायु का बन्ध होता है। थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह को रखने से मनुष्यायु का आस्रव होता है तथा स्वभाव से ही परिणामों को सरल रखने से भी देवायु का आस्रव होता है। सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बाल तप ये देवायु के आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न—आयुकर्म का बन्ध किस काल में होता है ?

उत्तर—कृष्ण-नील-कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल इन छह लेश्याओं के जघन्य मध्यम-उत्कृष्ट ऐसे तीन-तीन भेदों की अपेक्षा १८ भेद हैं। इनमें आठ अपकर्षकाल सम्बन्धी अंशों के मिलाने पर २६ भेद हो जाते हैं। जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य का तिर्यञ्च की भुज्यमान आयु का प्रमाण छ हजार पाँच सौ इकसठ वर्ष है। इसके तीन भाग मे से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा जाता है। इस अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। यदि यहाँ पर बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक भाग के तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीय अपकर्ष काल में परभवसम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। परन्तु फिर भी यह नियम नहीं है कि इन आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध हो ही जाय। केवल इन अपकर्षों में आयुकर्म के बन्ध की

योग्यता मात्र बताई गई है। इसलिये यदि किसी भी अपकर्ष में बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा ( भुज्यमान आयु का अन्तिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल ) से पूर्व अन्तमुहूर्त में अवश्य ही आयु का बन्ध होता है यह नियम है। इसलिये हे चेतन ! अपने परिणामों को सदा सम्हाल कर रखो। विभाव परिणतियों से सदा बचते रहो।

हे आत्मन् ! सिद्ध भगवान् सब आयु बन्ध के परिणामों से रहित होकर सिद्ध लोक में जा बसे। मैं भी शुद्धद्रव्यार्थिक नय से सिद्धलोक-वासी हूँ। व्यवहार से कर्मजनित विभाव परिणति से चारों आयुओं में भटक रहा हूँ।

कारण के बिना कार्य नहीं होता। तदनुसार प्रथमतः मैं चारों आयु के बन्ध के मूल कारणों को त्यागता हूँ। जब चार आयु के आस्रव में निमित्त परिणाम मुझमें नहीं होंगे, तो मैं निरायुष्क हुआ, साक्षात् सिद्ध लोक का वासी बन, अनन्त सुख का आस्वादन करता हुआ, पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करूँगा।

मैं चारों आयु के दुःखों से भयभीत हूँ। अब मैं प्रतिक्षण अपने परिणामों की सम्हाल करता हूँ। न जाने कौन-सा अनिष्ट समय आये और मुझे चार आयु रूपी जेल में लम्बे समय तक डाल दे। समय का कोई भरोसा नहीं है। मैं पुनः-पुनः चार आयु बन्ध के परिणामों को रोकता हुआ/अभाव करता हुआ, शुद्धात्मा के निर्मल भावों को आश्रय करता हूँ।

चेतन जरा सम्हल जा, परिणाम को सजा ले।
शान्ति-सुधा के रस को, पीकर के शान्ति पा ले[१] ॥
परिणाम को सदा तू, अपने सम्हाल रखना।
आयु ना बँधने पाये, इतना तो ध्यान रखना[२] ॥१॥

तेरा निवास निज में, क्यों आयु में भटकता।
चक्कर चौरासी फँसकर, निज नाम क्यों डुबोता[१] ॥२॥

पल-पल खबर तू रखना, चैतन्य घन महा की।
इक पल भी बेखबर हो, भटकेगा फिर चौरासी[१] ॥३॥

जिनवाणी रस को पीना, घुट-घुट उतार लेना।
कट जाये कर्म आयु, ऐसा ही भाव रखना[२] ॥४॥

ॐ सिद्ध नमः

सूत्र—निरायुध स्वरूपोऽहम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—मैं आयुध/शस्त्र से रहित निरायुध स्वरूप हूँ अर्थात् जैसे सर्व शत्रुओं का अभाव हो जाने से अरहंत, सिद्धात्मा तलवार, भाला, बर्छी, कृपाण आदि से रहित "निरायुध" हैं उसी प्रकार मैं चेतन्यात्मा भी निरायुध हूँ।

विशेषार्थ—

शस्त्र की आवश्यकता कब तक होती है? जब तक हिंस्यहिंसक परिणाम रहता है, किसी से भय रहता है अथवा कोई शत्रु सामने या कहीं भी हो तब। किन्तु जब इन तीनों प्रतिकूलताओं से रहित यह आत्मा निर्भय रहता है तब अस्त्र-शस्त्र-कृपाण-धनुष आदि किसी की आवश्यकता ही नहीं होती है। चैत्य भक्ति में पढ़ते ही हैं—

"निरायुध सुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्" ॥३२॥ —चै० भ०

हिंस्य और हिंसक भाव के नष्ट हो जाने से (वे अरहंत/सिद्ध भगवान्) बिना आयुध के ही निर्भय हैं।

प्रश्न—बिना आयुधादि के कर्म महाबली को आपने क्षय कैसे किया?

उत्तर—कर्मों का नाश करने के लिये रत्नत्रय रूप संपत्ति आत्मा का शस्त्र है। इस रत्नत्रयरूप शस्त्र के प्रबल प्रहार से घातिया कर्मरूपी पाप बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। यह आत्मा अपने रत्नत्रय रूप प्रहार से घातिया कर्मों को नष्ट कर देता है उसी समय केवलज्ञान-केवलदर्शन-अनन्तसुख-अनन्तवीर्य तथा अष्ट प्रातिहार्य-छत्र-चंवर-भामण्डल आदि और समवशरण रूप बहिरंग लक्ष्मी का अधिपति हो, अरहंतावस्था से शोभायमान होता है। वही आत्मा शील संपत्ति की पूर्णता होने पर, आस्रवों का पूर्ण निरोध कर ध्यान खड्ग हाथ में ले चार अघातिया को भी चकचूर कर परमसिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

मैं सिद्धात्मा भी निरायुध हूँ। मैं रत्नत्रय संपत्ति से शोभायमान हूँ। परन्तु कर्मरूपी चोरों से लूट लिया गया हूँ। हे आत्मन्! हिंस्य-हिंसक परिणामों का त्याग कर। लोक में तेरे द्वारा मारे जाने योग्य कोई नहीं तथा तू भी किसी को मारने में समर्थ नहीं है क्योंकि प्रत्येक आत्मा अजर-अमर है। तू त्रिलोकीनाथ है, तू भय किससे करता है सदा निर्भय है। अतः हिंस्य-हिंसक भाव से रहित, निर्भय हुआ तू "निरायुध" होता हुआ भी रत्नत्रय आयुध से सहित सिद्ध समान शुद्ध है।

हिंस्य हिंसक भाव रहित, पूर्ण अहिंसक जान।
शत्रु जग में कोई नही, निर्भय आतम मान ॥२६॥

**सूत्र—निर्नामस्वरूपोऽहम् ॥२७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्धात्मा नामकर्म से सर्वथा रहित निर्नाम हूँ। अर्थात् सिद्ध भगवान् के समान मेरा शुद्धात्मा भी नामकर्म से रहित है। अथवा मेरा कोई नाम नहीं है इसलिये भी मैं निर्नाम हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—नामकर्म किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जिसके उदय से शरीर आदि की रचना हो उसे नामकर्म कहते हैं।

मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं शरीर से रहित हूँ। मैं नामकर्म की ९३ प्रकृतियों शरीर, आंगोपांग, बंधन, संहनन, संस्थान, स्पर्शादि २० तथा सुस्वर-दुस्वर आदेय-अनादेय, यशकीर्ति-अयशकीर्ति आदि सर्व प्रकृतियों से रहित हूँ मैं नामकर्मोदय से होने वाले शरीर आदि से रहित हूँ क्योंकि नामकर्म से ही रहित हूँ। कर्म जड़ हैं, मैं चेतन हूँ। शरीर आदि का आकार है, मैं निराकार हूँ।

अथवा

संसार में लोक व्यवहार चलाने के लिये किसी वस्तु में गुण आदि की अपेक्षा न करके उसका नाम रख दिया जाता है, जैसे—महावीर, विजय, पन्ना आदि। मेरा शुद्धात्मा लोक व्यवहार से भिन्न अलौकिक परम पदार्थ है, अतः मैं उस नाम निक्षेप से भी रहित निर्नाम हूँ। व्यवहार में जो नाम रखे जाते हैं वे सब शरीर के ही नाम जानना चाहिये। मेरा शुद्धात्मा शुद्धनय से अमूर्तिक है न गोरा है, न काला है वह तो चैतन्यमूर्ति निर्नाम है।

मैं शुद्धात्मा हूँ, मेरा कोई नाम नही, मैं निर्नाम हूँ। इसलिये हे आत्मन्! प्रिय नाम आदि, अथवा प्रिय शरीर आदि में प्रीति का त्याग कर और अप्रिय नाम व शरीर आदि में अप्रीति का त्याग कर। समता रस का आस्वादन ही शुद्ध निर्नाम स्वरूप आत्मा की प्राप्ति का उपाय है।

नामकर्म जड़ पुद्गलों को रूप नाना देत है,
प्रीति अप्रीति करके चेतन दुख अनंतो लेत है।
लोकव्यवहारी जो धरते, नाम जगमें जीव का,
शुद्ध आत्म का नहीं वह, क्योंकि वह निर्नाम है ॥२७॥

सूत्र—निर्गोत्र स्वरूपोऽहम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—मैं गोत्र कर्म से रहित निर्गोत्र स्वरूप हूँ। सिद्ध भगवान् के समान मेरा आत्मा ऊँच-नीच गोत्र से रहित निर्गोत्र है।

विशेषार्थ—

प्रश्न—गोत्र कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसके उदय से यह जीव ऊँच-नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इस कर्म के दो भेद हैं—उच्चगोत्र, नीचगोत्र।

जिसके उदय से लोकमान्य कुल मे जन्म हो उसे उच्चगोत्रकर्म कहते हैं तथा जिसके उदय से लोकनिन्द्य कुल में जन्म हो, उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं।

हे आत्मन् ! जैसे कुम्भकार छोटे-बड़े घट बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म रूपी कुम्भकार इस जीव को ऊँच-नीच कुलों में उत्पन्न कराने में निमित्त बनता है। वास्तविक शुद्ध निश्चयनय से मुझ शुद्धात्मा का कोई गोत्र या कुल नहीं है। मेरा आत्मा तो वीतराग कुल वाला है, जो सिद्ध का कुल या गोत्र है वही मेरा कुल व गोत्र है।

हे आत्मन् ! पर की निन्दा और अपनी प्रशंसा से नीचगोत्र का तथा इससे विपरीत परिणामों से उच्चगोत्र का बन्ध होता है। अतः तुम अपने परिणामों को सम्हालो "परकी निन्दा करने के समय मूक हो जाओ" निन्दा और प्रशंसा में समभाव रखो। पर जीव की निन्दा या प्रशंसा से तुम्हारा क्या लाभ है ? सब अपने-अपने किये शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगते हैं। अतः समभाव को धारण कर स्व के दुर्गुणों की निन्दा करो, गुणों में विशुद्धि लाओ। तभी अपना वीतराग कुल जो जन्मसिद्ध अधिकार है उसे प्राप्त कर सकोगे। विकल्पों में भटकने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा—

> सिद्ध समान शुद्ध चिदातम, तेरा कोई न गोत्र अहो,
> निखिल कर्ममल क्षय कर डालो, वीतराग कुल एक लहो।
> कहाँ भटकते परद्रव्यन मे, निन्दा और प्रशंसा में,
> समता दृष्टि निज में धारो, शुद्धातम निर्गोत्र भजो ॥२८॥

सूत्र—निर्विघ्नस्वरूपोऽहम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—मैं निर्विघ्न स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—विघ्न क्यों होते हैं ?

**उत्तर**—कर्मबद्ध संसारी जीवों को अन्तरायकर्म के उदय से दान-लाभ भोग-उपभोग-वीर्य में बिघ्न आते हैं।

हे आत्मन् ! विघ्न आना कर्मकृत पर्याय है। मैं शुद्ध चिदानन्दात्मा अनन्तवीर्य का स्वामी हूँ, विघ्न बाधाएँ मेरा कोई बिगाड़ नहीं कर सकती हैं। मैं अपनी शुद्धात्मा की शक्ति में लीन हुआ, उसी की भक्ति में लीन होता हूँ। शुद्धात्मा की भक्ति में लीन रहने वाले के लिये विघ्न कुछ नहीं कर सकते हैं—

चाहे कैसा भी संकट या, कैसा भी दुख होवे।
बिगड़े ना कुछ भक्त हृदय का, बाल न बाका होवे,
आतम दर्शन पावे, सिद्धातम बन जावे।
मुक्ति सुन्दरी आकर के फिर, पड़ने लगती पैय्या।
सुन लो भैय्या ! सुन लो भैय्या !

पथिक ! मम आत्मा अन्तरायकर्म से रहित निराबाध है—

निराबाध मम आतमा, कर्मपुञ्ज से हीन।
जो ध्यावे नित भावयुत, होय स्वयं स्वाधीन ॥२९॥

**सूत्र—निर्गति स्वरूपोऽहम् ॥३०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं गति से रहित निर्गति स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

गति नामकर्म के उदय प्राप्त होने वाली जीव की पर्याय विशेष को गति कहते हैं। अथवा एक भव को छोड़कर दूसरे को धारण करना गति है।

सिद्ध परमात्मा नामकर्म के क्षय होने से गति से भी रहित हो, निर्गति अवस्था को प्राप्त हो गये। सिद्धगति शाश्वत अवस्था है इसे पञ्चमगति भी कहते हैं। इस सिद्धगति को प्राप्त करने के बाद फिर लौटकर कभी नहीं आता। हे आत्मन् ! मेरा शुद्धात्मा भी सिद्ध भगवान् के समान है, अतः मेरा भी सही निवास सिद्धालय है, जहाँ से लौटकर फिर कभी नहीं आते हैं। मैं नरक-तिर्यञ्च-देव-मनुष्य गतियों में भ्रमण के कारणभूत शुभ-अशुभ परिणामों का त्याग कर शुद्ध भावों का आश्रय लेता हूँ। शुद्ध भाव मेरा स्वभाव है। शुद्ध भाव वाला होता हुआ मैं चतुर्गति परिभ्रमण से

रहित निर्मोल स्वरूप को प्राप्त होता हूँ।

चौदह राजू लोक में नहीं भटकता सो ही।
शुद्धातम भजता रहे, सिद्ध परम पद होही ॥३०॥

**सूत्र—निरिन्द्रियस्वरूपोऽहम् ॥३१॥**

सूत्रार्थ—मैं इन्द्रियों से रहित निरिन्द्रिय स्वरूप हूँ। जैसे सिद्ध भगवान् इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रिय हैं वैसे ही मैं भी निरिन्द्रिय हूँ।

मैं चेतनात्मा हूँ, इन्द्रियाँ जड़ हैं। मैं एक हूँ, इन्द्रियाँ पाँच हैं। मैं ज्ञानमय हूँ, इन्द्रियाँ अचेतन अज्ञ हैं। मैं शाश्वत हूँ, इन्द्रियाँ क्षणिक हैं। मैं जीव द्रव्य हूँ, इन्द्रियाँ पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। जड़ का चेतन से क्या नाता? अतः मैं सिद्ध भगवान् के समान निरिन्द्रिय स्वरूप परम शुद्धात्मा हूँ।

जड़ इन्द्रिय से भिन्न है, मेरा चेतनरूप।
शाश्वत रूप अखंड है, मम अविनाशी स्वरूप ॥३१॥

**सूत्र—निष्कायस्वरूपोऽहम् ॥३२॥**

सूत्रार्थ—मैं काय से रहित हूँ। जिस प्रकार सिद्ध भगवान् अष्टकर्मों का क्षय करके निकल परमात्मा/निष्काय कहलाते हैं उसी प्रकार मैं भी शरीर रहित निष्काय हूँ।

**विशेषार्थ—**

प्रश्न—काय किसे कहते हैं?

उत्तर—जातिकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को जिनमत में काय कहते हैं। काय छः हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रस काय।

हे पथिक! इन छह कायों में मैं कौन हूँ? शुद्ध निश्चयनय अपेक्षा कर्मोदय के अभाव से युक्त हुआ, मल रहित, शुद्ध-बुद्ध चैतन्य प्रभु परमात्मा "निष्काय" हूँ।

यह आत्मा पुरुषाकार होकर शरीर में रहता है फिर भी इस शरीर के साथ ऐक्य को प्राप्त नहीं होता है। आत्मा तो आकाश के बीच में पुरुषाकार से बनाये गये चित्र के समान है।

शरीर बाजे के समान है। बाजे को जब तक कोई नहीं बजाता तब तक वह बज नहीं सकता। पथिक ! इसी प्रकार इस शरीर में जब तक आत्मा नही है तब तक इसका कोई उपयोग नहीं है ' यद्यपि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी खेद इस बात का है कि अज्ञानी जीव दोनों की भिन्नता को न समझता हुआ चलने मे असमर्थ शरीर को चलाता है, बोलने म असमर्थ शरीर से बुलवाता है, और यदि कहीं शरीर असमर्थ हो जाय तो आत्मा दुखी होता है।

जिस समय अग्नि लोहे में प्रवेश करती है उस समय लुहार उसे घन/हथौड़े की चोटों से ठोंकता है। परन्तु जब वह लोहे से बाहर निकले तो उसे कौन ठोंक सकता है, प्रत्युत वही सबको जलाती है; इसी प्रकार जो आत्मा शरीर के भीतर प्रविष्ट है, उसे ही बाधा रहती है। शरीर को छोड़ने पर आत्मा को कोई बाधा नही है। इसलिये हे पथिक ! दुःखदायक काय की संगति को छोड़ने का परम पुरुषार्थ करो। क्योंकि "मैं निष्काय स्वरूप हूँ।"

**प्रश्न**—प्राप्त शरीर को छोड़कर आगे शरीर को न लेना पड़े, "निष्काय" अवस्था की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

**उत्तर**—बीज की अंकुरोत्पत्ति की सामर्थ्य जब तक मूलतः नष्ट नही की जाती है, तब तक वह अंकुरोत्पत्ति का कार्य जरूर करेगा। मूल से उसकी शक्ति को नष्ट करने पर फिर उसमे वह कार्य नही दिखेगा। इसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति का कारण जो राग-द्वेष मोह रूप कर्म है, उस कर्मबीज का मूल से नाश करना आवश्यक है, जिससे कि बीज के अभाव मे नवीन शरीर रूप वृक्ष नहीं लग सकेगा।

हे पथिक ! सम्यक्ज्ञान अथवा विवेकरूपी अग्नि से कर्म जलाया जा सकता है। मूल बात तो यह है कि जिस वृक्ष की जड़ अधिक फैली हुई रहती है, वह उसके नाश का कारण स्वयं बनता है; इसी प्रकार तैजस-कार्मण शरीर का फैलाव ही आत्मा के अहित का कारण है। इसलिये सबसे पहले आत्मानुभवरूपी अग्नि से कार्मण-तैजस शरीर के विस्तार को जला देना चाहिये। तब बाह्य औदारिकादि शरीर स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे। तब ही तुम अपनी "निष्काय" स्वरूप निज अवस्था को प्राप्त कर सकोगे।

बीज के जल जाने पर, अंकुर कभी आता नहीं,
कर्म जल जायें सभी तब, आतमा रुलता नहीं।
पथिक ! जाग अब ज्ञानध्यान, सुविवेक की अग्नि जला,
कर्म की काष्ठा जले तब, छूट जावे सब बला ।।३२।।

**सूत्र—निर्योगस्वरूपोऽहम् ।।३३।।**

**सूत्रार्थ**—मैं सिद्ध भगवान् के समान योग रहित होने से निर्योग स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—योग किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसे योग कहते हैं।

योग एक पुद्गल शक्ति है, मैं चैतन्य ज्ञान शक्ति हूँ। योग मैं नहीं हूँ। योग विभाव परिणति है। संसार में पतन का कारण योग है। प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग का कार्य है। मेरा कार्य इन योगों से भिन्न शुद्धात्मा मे परिणति करना है।

मनोयोग रहितोऽहम्। वचनयोग रहितोऽहम्। काययोग रहितोऽहम्। सत्य मनोयोग रहितोऽहम्, असत्य मनोयोग रहितोऽहम्, उभयमनोयोग रहितोऽहम्, अनुभय मनोयोग रहितोऽहम्।

सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग रहितोऽहम्।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक मिश्र, आहारक मिश्र व कार्मण काययोग रहितोऽहम्।

हे आत्मन् ! मैं मन नहीं, वचन भी नहीं और काय भी नहीं हूँ। फिर मैं कौन हूँ ? मैं योगों से रहित निर्योग स्वरूप हूँ। संसारावस्था में योग सहित होता हुआ, कर्मों से बद्ध होता हुआ भी मैं स्वभाव से अयोगी हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध परमात्मा हूँ। योगों के साथ रहते हुए भी एक क्षण की भी चंचलता, एक क्षण के उठने वाले मानसिक विचार अथवा कायिक सुख-दुःख आदि विभाव परिणतियाँ मेरी नहीं हैं, मैं भी तद्रूप नहीं हूँ।

परम पुनीत शुद्ध चिन्मूरत, योगों में सुध बुध खोता,
आस्रव बन्ध की पुष्टि करके, निज स्वभाव को तज देता।
सोचो चेतन !
योगों की बहु चंचलता में नहीं रहा मेरा स्थान,
ज्ञायक एक स्वभावी आतम, सदा शुद्ध निर्मल है ध्यान ॥३३॥

**सूत्र—निजशुद्धात्मस्मरणनिश्चयसिद्धोऽहम् ॥३४॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार सिद्ध भगवान् अपनी शुद्धात्मा के स्मरण के विषयभूत निश्चय सिद्ध स्वरूप हैं। उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी अपनी ही शुद्ध आत्मा के स्मरणभूत निश्चय सिद्ध है।

**विशेषार्थ—**

हे पथिक ! देह देवालय में निज शुद्धात्मा का निश्चय से प्रतिपल स्मरण कर। तू वास्तव में निश्चय से सिद्ध है। इस शरीर में परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है इस बात को न जान करके मैं संसारी जीव उसे बाहर ही ढूंढ़कर दुःख का अनुभव कर रहा हूँ।

अनादिकाल से चमकता हुआ दर्पण हाथ में होते हुए भी मैं पानी में अपने प्रतिबिम्ब को देखने वाले व्यक्ति के समान अपने शरीर के भीतर रहने वाले आत्मा को नहीं देखकर सर्वत्र लोक में भ्रमण करता रहा। अहो ! कितना आश्चर्य है। कितना खेद है।

हे आत्मन् ! विचार करो, अपने घर में विद्यमान भण्डार को बिना देखे बाहर श्रीमन्तों के पास जाकर भीख मांगने वालों के समान तुम मूर्ख नहीं तो कौन हो ? विचार करो, शरीर स्थित आत्मा को भूलकर बाह्य पदार्थों को देखने वाले किस प्रकार सुखी हो सकते हैं ?

हे पथिक ! म्यान में रहने वाली तलवार के समान, बादल से ढँके हुए सूर्य के समान, बाहर से मलिन शरीर में छिपा हुआ आत्मा भीतर प्रकाशमान हो रहा है। जैसे हाथी हरे-हरे पत्तों को ईख के मिष्ट रस का स्वाद लेता है वैसे ही भेदविज्ञानी बन मिष्ट निज शुद्धात्मा का प्रतिपल स्मरण कर उसी का मिष्ट आस्वादित स्वाद लेते रहो, क्योंकि निश्चय से तुम सिद्ध हो।

निशदिन स्मरता शुद्धातम को जो है सिद्ध समान,
परभावों से भिन्न सदा यह है निजानन्द का सुज्ञान।
म्यान से है भिन्न खड्ग अरु सूर्य घन से भिन्न है,
त्यों हो मेरा आतमा यह, शुद्ध सिद्ध स्वरूप है ॥३४॥

**सूत्र—परमज्योति स्वरूपोऽहम् ॥३५॥**

**सूत्रार्थ**—परमज्योति स्वरूप मैं हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—संसार में अंधकार क्या है ?

**उत्तर**—"अज्ञान" अन्धकार है।

**प्रश्न**—ज्योति अथवा प्रकाश क्या है ?

**उत्तर**—"ज्ञान"।

हे पथिक ! अग्नि की ज्योति/प्रकाश, दीपक की टिमटिमाती ज्योति, लालटेन की ज्योति, बिजली की ज्योति, ज्योतिरांग नामक कल्पवृक्ष की ज्योति, रत्नों की ज्योति तथा सूर्य की ज्योति इन सबसे भिन्न मेरी आत्मा की केवलज्ञान ज्योति है, यही परमज्योति है। जिसकी अन्तरंग ज्योति प्रकाशमान है उसके लिये बाहरी ज्योति का कोई महत्व नहीं तथा जिसकी अन्तरंग ज्योति सुप्त है उसको भी बाहरी ज्योति का कोई महत्व नहीं। जैसे कि नेत्र विहीन पुरुष को सूर्य का प्रकाश कुछ लाभ नही कर सकता।

अग्नि, दीपक, लालटेन, बिजली, सूर्य आदि की ज्योति जड़ हैं, पुद्गल पिण्ड मात्र है, परद्रव्य को तो प्रकाशित कर सकती हैं, पर स्वयं अन्धकार मय अर्थात् अचेतन है। दूसरे जीवों को ज्ञान में सहायक बनती है पर स्वयं अज्ञानमय ही है। जड़ प्रकाश का आश्रय लेकर जीव नेत्र इन्द्रिय द्वारा नियत पदार्थों को देख सकता है जबकि मैं परमज्योतिवान् स्वयं भी प्रकाशमान् हूँ और त्रिकालवर्ती सर्वपदार्थों को भी युगपत् जानने वाला हूँ। अतः मेरी परमज्योति/केवलज्ञान प्रकाश परमार्थभूत है। मैं तद्रूप हूँ। मैं संसार के क्षणिक सर्व प्रकाशों का आश्रय छोड़कर परमार्थभूत परम-ज्योति का आश्रय लेता हूँ, उसी को प्रतिपल निहारता हूँ, उसी का स्वात्मा में प्रतिक्षण विभोर हो दर्शन करता हूँ तथा उसी परमज्योति में तल्लीन होता हूँ।

कोटि दिवाकर की ज्योति भी, निष्प्रभ नजर आ जाती हैं,<br>
ऐसी परमज्योति जब प्रगटे, सर्व दिशा सुख पाती हैं।<br>
परमज्योति का पुञ्ज मनोहर, तनमन्दिर म दीप्त अहो,<br>
केवलज्ञानावरण कर्म का, क्षय करके पाऊँ उसको ॥३५॥

**सूत्र—नि न निरञ्जनस्वरूपोऽहम् ॥३६॥**

**सूत्रार्थ**—अञ्जन से रहित मैं सिद्ध भगवान् के समान निरञ्जन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—अञ्जन किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—अञ्जन एक मलीन/काला पदार्थ है, जो भी उसका स्पर्श करे वह उसी को अपने समान काला बना देता है। अर्थात् काला अञ्जन जिस भी अंग में लग गया उसी को काला बना देता है और हटाने की कोशिश करिये तो फैलता चला जाता है। ठीक इसो प्रकार द्रव्यमल, भावमल और नोकर्ममल के रूप से अञ्जन तीन प्रकार का है। तीनों अञ्जन ने आत्मप्रदेशों पर ऐसी गहरो परत चढ़ाई है कि फैलते चले जा रहे हैं। कोई पुरुषार्थी भेदविज्ञानी ही निरञ्जन स्वरूप का निश्चय कर, भेदविज्ञान साबुन, समता रस के निर्मल नोर द्वारा, अन्तरात्मा रूप धोबी बनकर स्वय उस काजल को दूर कर पाता है—

भेदविज्ञान साबुन भयो, समरस निरमल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निज गुण चीर॥

**द्रव्यकर्म** रूप अञ्जन रहितोऽहम्।

**भावकर्म**—राग-द्वेष, मोह, ख्याति, पूजालाभादि भावकर्म रूप अञ्जन रहितोऽहम्।

**नोकर्म**—औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर व आहार-शरीर-इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वास-भाषा व मन रूप नोकर्म रूप अञ्जन रहितोऽहम्।

मैं द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म अञ्जन भी नहीं तथा मैं नोकर्म अञ्जन आदि सबसे रहित हूँ। फिर मैं कौन हूँ। मैं अपने अञ्जन रहित, निरञ्जन स्वरूप का कर्त्ता, भोक्ता, उसी शुद्धात्मा के रस में लोन रहने वाला निरञ्जन स्वरूप हूँ।

द्रव्यकर्म अरु भावकर्म से, मैं हूँ भिन्न निराला,
चिदानन्द चेतन्य प्रभू मै, नित्य निरञ्जन आला।
शुद्धानन्द की प्याली से, मैं पीता अमृत प्याला,
चिदानन्द चैतन्यप्रभू मैं, नित्य निरञ्जन आला॥३६॥

सूत्र—चिन्मयस्वरूपोऽहम् ।।३७।।

सूत्रार्थ—मैं चिन्मय (चेतनमय) स्वरूप हूँ।

विशेषार्थ—

जो चिन्मय (चेतनस्वरूप) आत्मा है वह मैं हूँ। हे आत्मन्! हे पथिक! मैं निश्चय से चिन्मय हूँ, इस तरह प्रज्ञा के द्वारा निरन्तर ग्रहण करने योग्य है और अवशेष जो भाव हैं वे मुझ से पर हैं। ऐसा निश्चय जानो।

मैं चेतन आत्मा हूँ। मैंने निश्चित निजलक्षण वाली प्रज्ञा के द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा को पर भावों से भिन्न किया था, कि वही यह मैं हूँ और जो अवशेष जितने भाव हैं वे मात्र व्यवहार रूप भाव हैं। परभाव आत्मा का जो व्यापक चेतनपन उसके व्याप्यपने में नहीं आते। वे मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने ही लिये, अपने से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ। जो मैं निश्चयतः ग्रहण करता हूँ वह आत्मा की चेतना ही एक क्रिया है। उस क्रिया से चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिये ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए में चेतता हूँ, चेतते हुए को ही चेतता हूँ। अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिये चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ। फिर मैं कैसा हूँ? "सर्वविशुद्ध चिन्मय स्वरूप हूँ"

[ स. सा. गा. २९७ अ. आ. टीका ]

चिन्मयरूप अनूप है, चेतन भाव में व्याप।<br>
शेष सभी परभाव हैं, चेतन में ना व्याप ।।३७।।

सूत्र—ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहम् ।।३८।।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार सिद्ध भगवान् अनन्त केवलज्ञान और अनन्त-सुख स्वरूप हैं उसी प्रकार मेरी यह शुद्धात्मा भी केवलज्ञानमय और अनन्त सुखमय है।

विशेषार्थ—

हे पथिक! ज्ञान ही आत्मा का शरीर है, ज्ञान ही आत्मा का रूप है। मेरा आत्मा ज्ञानदर्शन स्वरूप है। यह ज्ञानदर्शन ही मेरे आत्मा का चिह्न है।

हे आत्मन् ! कर्म अज्ञानी को स्पर्श करता है। ज्ञानी को स्पर्श करने का साहस जड़ कर्मों में नहीं है। वह ज्ञान कहाँ है ? मैं ही तो ज्ञान स्वरूप हूँ। मैं शरीर के रूप में नहीं हूँ। इस प्रकार का चिन्तन पुनः-पुनः करो। यह विचार ही मानव के आत्मानुभव का साधक है।

मुमुक्षु ! विज्ञान दो प्रकार का है—एक बाह्य विज्ञान दूसरा अन्तरंग विज्ञान। बाह्य विषयों को जानने वाला बाह्य विज्ञान है और अपनी आत्मा को जाननेवाला अन्तरंग विज्ञान है।

जगत् में रत्न परीक्षा, स्त्री परीक्षा, पुरुष परीक्षा, पशुओं की परीक्षा आदि सीखना भी एक कला है, परन्तु ये सब बाह्य विज्ञान हैं। आत्मा ज्ञानानन्दमय, रत्नत्रय स्वरूप है। उन रत्नों की परीक्षा कर, उनकी प्राप्ति करना बड़ा कठिन कार्य है। यह अन्तरंग विज्ञान है और यही कल्याणकारी भी है।

मैं मोक्ष का पथिक हूँ। मेरा आत्मा परम निर्मल है। उस निर्मल आत्मा और ज्ञानादि गुणों में कोई भिन्नता नहीं है। मैं ज्ञानानन्द शुद्धात्म स्वरूप की साक्षात् प्राप्ति/व्यक्ति के लिये सब विकल्पों को छोड़कर निजात्मतत्त्व का विचार करता हूँ।

आतम ज्ञान प्रमाण है, है ज्ञान ज्ञेय प्रमाण।
लोकालोक प्रमाण ज्ञेय, ज्ञान सर्वगत जान ॥१॥
ज्ञान प्रमाण आतम महा, आनन्द घन परकाश।
पथिक ध्याओ नितभाव से होओ भवोदधिपार ॥२॥३८॥

**इत्याविनिश्चयेन सिद्धोऽहम् ध्यानं पूर्णम्।**

इस प्रकार निश्चय से मैं सिद्ध परमेष्ठी हूँ
ध्यान में द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ।

# तृतीय अधिकार

## आचार्य उपाध्याय साधु पद की प्राप्ति के लिये शुद्धात्मा के ध्यान का वर्णन

**सूत्र—व्यवहारनिश्चयनयपञ्चाचारपरमदयारसपरिणतिपञ्चप्रकारसंसारसागरोत्तरणकारणभूतपूतपोतपात्ररूपनिजनिरञ्जनचित्स्वभावनाप्रियचतुर्वर्णचक्रवर्त्याचार्यपरमेष्ठिस्वरूपोऽहम् ॥१॥**

**सूत्रार्थ**—आचार्य परमेष्ठी व्यवहार और निश्चय दोनों नयों के ज्ञाता होते हैं। वे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तपाचार इन पञ्चाचारों का स्वयं पालन करते हैं अन्य मुनिवृन्द से पालन कराते हैं। उनके परिणाम परमोत्कृष्ट दयारूपी रस से भीगे रहते हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव ये पंच प्रकार का संसार है और इस पंच परावर्तन संसार में संसारी प्राणी भ्रमण करता है, अतः यह संसार एक महासागर के समान है। अनादिकाल से इस संसाररूपी महासागर में गोते लगाते हुए जीवों को पार लगाने के लिये आचार्य परमेष्ठी जहाज के समान हैं। उन आचार्य परमेष्ठी को सर्व कर्मों से रहित अपना शुद्ध चैतन्य स्वभाव ही प्रिय है। वे आचार्य चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के जीवों को यथेष्ट मोक्षमार्ग में चलाने के लिये चक्रवर्ती महान् सम्राट हैं। इस प्रकार जो आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप सूत्र में कहा गया है, निश्चयनय से उन्हीं समस्त गुणों से सुशोभित मेरा यह शुद्ध-आत्मा है। इसलिये मैं भी आचार्य परमेष्ठी स्वरूप हूँ।

**प्रश्न**—व्यवहारनय व निश्चयनय के लक्षण बताइये ?

**उत्तर**—विशेष ग्राही व्यवहारनय है तथा सामान्य ग्राही निश्चयनय है।

पर्यायदृष्टि व्यवहार नय है तथा द्रव्यदृष्टि निश्चयनय है। [आचार्य परमेष्ठी इन दोनों नयों के ज्ञाता होते हैं]

**प्रश्न**—आचार्य परमेष्ठी का लक्षण बतलाइये ?

**उत्तर**—पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा, आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

—नियमसार

जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार

इन नाम वाले पाँच आचारों से परिपूर्ण हैं, जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन नामवाली पाँच इन्द्रियरूपी मदान्ध हाथी के गर्व को चूर करने में कुशल हैं, जो सकल घोर उपसर्गों के विजय से उपार्जित धीरता आदि गुणों से गंभीर है, इन लक्षणों से लक्षित वे आचार्य भगवान् होते हैं। [ नि० सा० ता० वृ० ७३ ]

प्रश्न—पञ्चाचारों का लक्षण बतलाइये ?

उत्तर—जो चिदानन्दरूप शुद्ध आत्म तत्त्व है, वही सब प्रकार आराधने योग्य है, उससे भिन्न जो पर वस्तु हैं वे सब त्याज्य हैं। ऐसी दृढ़ प्रतीति, चंचलता रहित निर्मल अवगाढ परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन वह (निश्चय) दर्शनाचार कहा जाता है।

[ प० प्र०/टी०/७/१३/३ ]

जिनेन्द्रदेव ने दर्शनाचार को निर्मलता अष्ट प्रकार की कही है—निःशंकित, निष्कांक्षित निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। ये आठों सम्यक्त्व के गुण जानना।

[ मू० आ० २००/२०१ ]

और उसी निजस्वरूप में, संशय-विमोह-विभ्रम रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानरूप ग्राहक बुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूपपरिणमन वह निश्चय ज्ञानाचार है। [ प० प्र० ७/१३ ]

स्वाध्याय का काल, मन, वचन, काय से शास्त्र का विनय यत्न से करना, पूजा सत्कारादि से पाठ करना, अपने पढ़ाने वाले गुरु का तथा पढ़े हुए शास्त्र का नाम नहीं छिपाना, वर्ण, पद, वाक्य को शुद्धि से पढ़ना, अनेकांतस्वरूप अर्थ की शुद्धि, अर्थ सहित पाठादिक शुद्धि होना। इस तरह ज्ञानाचार के आठ भेद हैं। [ मू. आ. २६९ ]

उसी शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त संकल्प रहित जो नित्यानन्द में निजरस का स्वाद, अनिश्चय अनुभव वह सम्यग्चारित्र है। उसका जो आचरण, उस रूप परिणमन वह चारित्राचार है। [ प. प्र. ७/१३ ]

प्राणियों की हिंसा, झूठ बोलना, चोरी, मैथुन सेवा और परिग्रह इनका त्याग करना वह अहिंसा आदि पाँच प्रकार का चारित्राचार जानना। [ मू. आ. २८८ ]

परिणाम के संयोग से, पाँच समिति, तीन गुप्तियों में अकषायरूप प्रवृत्ति आठ भेद वाला चारित्राचार है। [मू. आ. २९७]

उसी परमानन्द स्वरूप में परद्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज आनन्द रूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन तपश्चरणाचार है।
[प. प्र./टी./७/१३]

समस्त परद्रव्य की इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बारह तप रूप बहिरंग सहकारि कारण से जो निज स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चय तपश्चरण है। उनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन वह निश्चयतपश्चरणाचार है। [बृ. द्र. सं./टी. ५२/२१९]

उसी शुद्धात्म स्वरूप में अपनी शक्ति को प्रकटकर आचरण परिणमन करना वह निश्चय वीर्याचार है। अपनी शक्ति को प्रकटकर मुनिव्रत का आचरण वह व्यवहार वीर्याचार है।

आचार्य परमेष्ठी इन पञ्चाचारों का स्वयं निर्दोष पालन करते हैं और अपने शिष्यों से भी पालन कराते हैं। हे पथिक ! मेरा शुद्धात्मा भी व्यवहार निश्चय पञ्चाचार का धारक/पालक है, क्योंकि मैं भी आचार्य परमेष्ठी के गुण स्वरूप हूँ। उन सदृश हूँ, उन रूप हूँ।

"षट्काय जीवों की हिंसा से रहित होने से सब प्रकार की द्रव्य हिंसा व रागादिभाव के अभाव होने से भाव हिंसा से रहित, प्राणीमात्र के कल्याण की भावना से सहित आचार्य परमेष्ठी के परिणाम "परम दया" रूप जल से सदा आर्द्र रहते हैं।

परमदया से भीगे आचार्य गुरुवर्य्य श्री १०८ विमलसागरजी महाराज निरन्तर स्व-पर उपकार में लगे देखे जाते हैं। आपकी भावना सदा यही रहा करती है कि "प्राणी मात्र रत्नत्रय की आराधना कर संसार दुःखों से छूटें।" तभी तो प्रायः प्रवचन में कहा करते हैं "आप लोग मेरी कितनी प्रशंसा कर लीजिये, मुझे आनन्द या हर्ष नहीं होगा। मुझे आनन्द तो तब होगा जब आप सभी मुनि-आर्यिका बनकर साथ-साथ में विहारकर रत्नत्रय की आराधना में लग, मुक्ति मार्ग को प्रशस्त करेंगे, यही है आचार्य परमेष्ठी की "परमदया"।

निश्चयनय से मेरा शुद्धात्मा भी प्राणी मात्र में समताभाव को धारण करता हुआ, परमदया परिणामों से लबालब भरा हुआ है। मैं स्वशुद्धात्मा पर दया करता हुआ शुद्धात्मभावना से मन-वचन-काय से परम पूर्ण दया

का आश्रय करता हूँ। मन से विकारी परिणामों को छोड़ता हूँ, वचन से अनिष्ट, अदयाभाषा को त्यागता हूँ तथा काय की दुश्चेष्टा को भी छोड़ता हूँ। मैं दयानिधि, दयासागर, करुणासागर हूँ।

प्रश्न—संसार किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं ?

उत्तर—संसरण करने अर्थात् जन्म-मरण करने का नाम संसार है। अनादिकाल से जन्म-मरण करते हुए जीव ने एक-एक करके लोक के सर्व परमाणुओं को, सर्व प्रदेशों को, काल के सर्वसमयों को, सर्व प्रकार के कषाय भावों को नरकादि सर्वभवों को अनन्त-अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भव के भेद से यह संसार पाँच प्रकार का है जिसे "पंचपरावर्तन रूप संसार" नाममें से भी कहा जाता है।

हे आत्मन् ! आत्मा को चार अवस्थाएँ होती हैं—संसार, असंसार, नो ससार और इन तीनों से विलक्षण।

अनेक योनिवाली चारों गतियों में परिभ्रमण करना संसार है। फिर जन्म न लेना—शिवपद प्राप्ति या परमसुख प्रतिष्ठा असंसार है। फिर गति में परिभ्रमण न होने से तथा अभी मोक्ष की प्राप्ति न होने से सयोग-केवली की जीवन्मुक्त अवस्था ईषत्संसार या नोसंसार है। अयोगकेवली इन तीनों से विलक्षण हैं क्योंकि इनके चतुर्गति भ्रमण और असंसार की प्राप्ति तो नहीं है पर केवली की तरह शरीर परिस्पन्द भी नहीं है। जब तक शरीर परिस्पन्द न होने पर भी आत्मप्रदेशों का चलन होता रहता है तब तक संसार है। [चा. सा./१८०/३] जैनेन्द्र कोष से

हे पथिक ! मैं अपने निजस्वरूप को भूल कर चतुर्गति रूप संसार अथवा पञ्चपरावर्तन मे भ्रमण करता रहा। अब मैंने इस पञ्चपरावर्तन रूप महासागर से तिरने को जो जहाज के समान हैं ऐसे परमदयालु आचार्य देव का शरण लिया है। इनके दर्शन, इनकी शरण पाकर मुझे अपना स्वभाव ज्ञात हुआ है—मैं स्वयं पञ्चपरावर्तन रूप संसार से रहित परमेष्ठी हूँ, मैं भेदविज्ञान की खिड़की से देह देवालय में झाँकता हूँ तब अनुभव करता हूँ कि मैं पञ्च प्रकार संसार रूप महासागर से पार होने के लिये जहाजसम हूँ। मैं वही हूँ, जो आचार्य परमेष्ठी हैं, मेरा स्वरूप वही है जो आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप है। परमशुद्ध निश्चयनय से मैं वही हूँ, जो वे हैं तथा वे वही हैं जो मैं हूँ।

प्रश्न—आचार्य परमेष्ठी को क्या प्रिय है ? संघ या शिष्य या संग्रह-निग्रहवृत्ति या शिक्षा-दीक्षा आदि क्या प्रिय है ?

उत्तर—जिस प्रकार एक महिला अपने सिर पर रखकर दो-तीन घड़े पानी के भरकर अपने निवास को जाती हुई अपनी सखियों से वार्तालाप (बातचीत) करती जा रही है। मार्ग में सखियों से बातचीत करते हुए भी उसकी दृष्टि घड़ों की ओर रहती है कि मस्तक का घड़ा नीचे नहीं गिर पड़े। इसी प्रकार शिष्यों का संग्रह-निग्रह-अनुग्रह करते हुए भी आचार्य-श्री की दृष्टि निजशुद्ध आत्मा की ओर ही रहती है क्योंकि आचार्य परमेष्ठी को वे प्रिय नहीं हैं वे तो मुक्ति के इच्छुक हैं। अतः सर्व कर्म-रहित निजशुद्धात्मा ही उन्हें प्रिय है।

जिस प्रकार एक नर्तकी अपने मस्तक पर एक घड़े को धारण कर नर्तन कर रही है। नृत्य करते समय वह गायन, ताल, लय आदि को भंग नहीं होने देती है। इतना सब होते हुए भी उसकी मुख्य दृष्टि यह रहती है कि मस्तक का घड़ा नीचे नहीं गिर पड़े। इसी प्रकार आचार्य परमेष्ठी अपने शिष्यों के लिये अनुग्रह को पूर्ण रूपेण करते हुए भी तथा जिनशासन की किसी प्रकार अप्रभावना न हो एतदर्थ शिष्यों का निग्रह-संग्रह-अनुग्रह करते हुए भी अपने शुद्धात्म तत्त्व की निर्मल भावना से कभी च्युत नहीं होते, क्योंकि उन्हें निजस्वभाव की भावना ही प्रिय है। जिस समय बालक आकाश में पतंग उड़ाते हैं उस समय पतंग के डोरे को अपने हाथ मे रखते हैं, यदि पतंग के डोरे को हाथ में न रखें तो पतंग जाने किधर दौड़ जायेगा। इसी प्रकार आचार्य देव संघ-शिष्य-अनुग्रह-निग्रह आदि कार्यों को व्यवहार में करते हुए भी अपनी प्रिय शुद्धात्मा भावना की डोर को प्रतिपल थाँमे रहते हैं, उसे कभी छोड़ते नहीं, क्योंकि उन्हें न संघ प्रिय है, न शिष्य, न किसी का अनुग्रह प्रिय है और न किसी का निग्रह प्रिय है। वे आचार्य परमेष्ठी निज निरञ्जन चित्स्वभावना-प्रिय हैं।

आचार्य परमेष्ठी के समान मैं भी निज, सर्वकर्मरहित चैतन्य, स्वभावना का प्रेमी हुआ, पर भावों की प्रियता को त्यागता हुआ, निज निजनिरञ्जनचित्स्वभावनाप्रिय हूँ, क्योंकि मैं स्वयं आचार्य परमेष्ठी स्वरूप हूँ।

वे आचार्य परमेष्ठी चातुर्वर्ण्य चक्रवर्ती हैं।

प्रश्न—चतुर्वर्ण कौन से हैं ?

उत्तर—हे भव्यात्मन् ! कर्मोदय से प्राप्त मानव शरीर ही चार वर्ण रूप है। शरीर के ऊपरी भाग में जो मस्तक है वह ब्राह्मण वर्ण है। भुजा-छाती क्षत्रियवर्ण हैं, उदर वैश्य वर्ण है तथा कटि के नीचे का भाग शूद्र वर्ण है।

मस्तक बुद्धि स्थान है। आचार्य परमेष्ठी इसके द्वारा ध्यान-ज्ञान व तत्त्व-चिन्तन करते हैं। अतः ब्राह्मणवर्ण को उन्होंने अपने आधीन किया है। भुजबल से क्षत्रिय बाह्य शत्रुओं को जीतता है। जबकि आचार्य परमेष्ठी हृदय मे धैर्य धारण कर, भुजबल में समता भाव धारण कर कर्म-शत्रुओं को जीतते हैं अर्थात् क्षत्रियवर्ण भी उनके आधीन है। उदर की पूर्ति के लिये वैश्य व्यापार आदि करते हैं तथा न्याय-अन्याय से इसको भरते हैं। आचार्य परमेष्ठी तप की साधनार्थ न्याय से इसे भरते हैं तथा क्षुधादि जीतकर बारह तप रूप व्यापार करते हैं अतः वैश्य वर्ण भी उनके आधीन है। शूद्र वर्ण का काम गंदगी को दूर करना है। आचार्य परमेष्ठी ने निर्विचिकित्सा अंग के द्वारा ग्लानि को पूर्ण जीत ही लिया है। अब गन्दगी उनके पास आती ही नहीं। वे परमौदारिक शरीर के आराधक है, अतः शूद्रवर्ण भी उनके आधीन है। इस प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र चारों वर्णों को अपने अनुसार चलाने से, अपने आधीन रखने से आचार्य श्री "चातुर्वर्ण्यचक्रवर्ती" हैं।

मैं स्वयं चातुर्वर्ण्य चक्रवर्ती हूँ, कब ? जब चारों वर्णों को अपने आधीन करता हूँ तब। अपने चातुर्वर्ण्य चक्रवर्ती पद के बाधक ब्राह्मण से अशुभ विचारों का त्याग कराता हूँ, क्षत्रिय से बाह्य शत्रुओं से युद्ध का त्याग कराता हूँ व वैश्य से अन्याय की कमाई का त्याग कराता हूँ तथा शूद्र से परद्रव्य की अशुचिता हटाने का त्याग कराता हूँ। फिर क्या करता हूँ—मैं ब्राह्मण को तत्त्वचिन्तन, ध्यान-अध्ययन में लगा अपने वश करता हूँ, क्षत्रिय को कर्म शत्रुओं पर विजय पाने में लगाता हूँ, वैश्य को तप में लगाता हूँ तथा शूद्र को राग-द्वेष-मोह आदि व ज्ञानावरण आदि द्रव्यमल-भावमल-नोकर्ममल को हटाने में लगाता हुआ चारों वर्णों को अपने वश में करता हूँ क्योंकि मैं "आचार्य परमेष्ठी के ही समान चातुर्वर्ण्य चक्रवर्ती हूँ"।

आचार्य परमेष्ठी के प्रति विनयाञ्जलि—

चतुर्वर्ण के चक्रवर्ती बन, निज स्वभाव में रत रहते ।
नित्य निरञ्जन शुद्ध प्रिया की, प्राप्ति में नित रत रहते ॥
रत्नाचार के पालक गुरुवर, हम चरणों में नित नमते ।
परम दया की भीख मांगते, तुम सम हम क्यों न बनते ॥

तुम नौका हो मैं राही हूँ पार इसे अब कर देना ।
महासमुद्र से तिर जाऊँ तो, तुम सम मुझ को कर लेना ॥
भूल हुई हो जो भी भगवन् !, उस पर ध्यान नहीं देना ।
परमदया के रस से भीगे, मुझको निज धन दे देना ॥१॥

**सूत्र—निजनित्यानंदैकतत्त्वभावस्वरूपोऽहम् ॥२॥**

सूत्रार्थ—वे आचार्य परमेष्ठी अपने आत्मा में सदाकाल रहने वाले आनन्दमय जीव के एक जीवत्वभाव को धारण करते हैं। उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी अपने में सदाकाल रहने वाले आनन्दमय एक जीवत्वभाव को धारण करने वाला है, क्योंकि मैं आचार्य परमेष्ठी स्वरूप हूँ।

विशेषार्थ—

वे आचार्य परमेष्ठी नित्य स्व-स्वरूप की भावना करते हुए आत्मा के शुद्ध भाव का चिन्तन करते हैं यथा—मैं नित्य हूँ/अविनाशी। मैं अक्षय आनन्दमय हूँ। मैं एक हूँ। जीवत्व भाव का धारक हूँ। नित्यानन्द की प्राप्ति सहित सिद्ध भगवान् के सम उन स्वरूप मैं हूँ।

जैसे आचार्य परमेष्ठी निज कारण परमात्मा में शुद्धात्मा का ध्यान कर तद्रूपता को प्राप्त होते हैं वैसे ही मेरा शुद्धात्मा भी नित्य है अविनाशी है उसी का मैं आश्रय लेता हूँ।

मैं पथिक ! प्रतिदिन अपने स्व-स्वरूप की भावना करता हूँ—
मैं अविनाशी हूँ, शरीर नाशवान है।
मैं आनन्दघन हूँ, शरीर दुखों का खजाना है।
मैं एक हूँ, शरीर अनेक हैं।
मैं जीवत्व भाव मय हूँ, शरीर पुद्गलमय है।

इसी स्व-स्वभाव की भावना आचार्य, उपाध्याय, साधु भाते हैं। मैं भी तीनों पद को प्राप्त्यर्थ स्व-स्वभाव की भावना भाता हूँ।

आचार्य उपाध्याय साधुलोक नित, निज की भावना भाते हैं,
सिद्धरूप में लय होने पर, तद्रूपता पाते हैं।
उसी रूप की सिद्धि अर्थ में, शुद्धातम को ध्याता हूँ,
नित्य एक जीवत्व भाव की, भावना निशदिन भाता हूँ ॥२॥

**सूत्र—सकलविमलकेवलज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥३॥**

**सूत्रार्थ**—मैं पूर्ण निर्मल केवलज्ञान स्वरूप हूँ। आचार्य-उपाध्याय-साधु-परमेष्ठी प्रतिदिन निर्मल शुद्धात्मा को ध्याते हुए चिन्तन करते हैं कि "अरहन्त भगवान् के समान मेरा आत्मा भी क्षायिक अनन्त ज्ञान/केवलज्ञान स्वरूप हैं।

**विशेषार्थ**—

मैं भी आचार्य-उपाध्याय-साधु पद की प्राप्ति के लिये अपने शुद्धात्मा का निर्मल केवलज्ञान स्वरूप श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति रुचि करता हूँ। क्योंकि मैं कौन हूँ—

मतिज्ञान रहितोऽहं। श्रुतज्ञान रहितोऽहम्। अवधिज्ञानरहितोऽहम्। मनःपर्ययज्ञान रहितोऽहम्। परम निर्मल केवलज्ञान स्वरूपोऽहम्।

निर्मल केवल ज्योति से, मैं हूँ त्रिभुवन पूज्य।
शेष सभी जो ज्ञान हैं, उनसे मैं हूँ दूर ॥३॥

**सूत्र—दंडत्रयखण्डिताखण्डचित्पिंडस्वरूपोऽहम् ॥४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं दण्डत्रय को खण्डित करने वाला अखंड चैतन्य पिण्ड अरहन्त स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

जिस प्रकार अरहंत भगवान् मनोदण्ड, वचनदण्ड व कायदण्ड को खण्ड-खण्ड करने वाले एक अखण्डित आत्मस्वभाव लीन हैं। चिदानन्द चैतन्यपिण्ड हैं उसी प्रकार मैं भी दण्ड त्रय को खण्डित करने वाला एक अखण्ड चैतन्य पिण्ड हूँ—मैं मनोदण्ड रहित हूँ, मैं वचन दण्ड रहित हूँ, मैं काय दण्ड रहित हूँ। मै सर्व दण्डों को शुद्धात्म भावना से खण्ड-खण्ड करने वाला एक अखण्ड हूँ, चिदानन्द चैतन्य पिण्ड हूँ। ऐसे अखण्ड चैतन्य पिण्ड की भावना आचार्य, उपाध्याय, साधुजन प्रतिदिन भाते हैं और सिद्ध पद को पाते हैं। मैं भी उस आचार्य, उपाध्याय, साधु पद की प्राप्ति के लिये दण्डत्रय रहित अखण्ड शुद्ध चिन्मय आत्मा की भावना करता हूँ, क्योंकि मैं तद्रूप हूँ।

मनोदण्ड अरु वचन दण्ड अरु, काय दण्ड को कर दे खण्ड।
खण्ड खण्ड कर तू अखण्ड है, चिदानन्द चैतन्य पिण्ड ॥३॥

**सूत्र—दण्डत्रयखंडिताखंडितचित्पिण्डस्वरूपोऽहम् ॥४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं तीन दण्ड को खंडित ( क्षय ) करने वाला अखण्डित चैतन्य पिण्ड स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—तीन दण्ड कौन से हैं ?

**उत्तर**—मन दण्ड, वचन दण्ड और काय दण्ड। उन तीनों की दुष्टता के कारण जीव चतुर्गति भ्रमता है इसलिए इन्हें दण्ड कहते हैं।

हे पथिक ! मेरा शुद्धात्मा मन दण्ड से रहित है, वचन दण्ड से रहित है तथा कायदण्ड से भी रहित है।

हे पथिक ! एक क्षण अन्दर झाँककर भेद विज्ञान की खिड़की से देखो। विभाव परिणति की काली धधकती ज्वालाओं ने अखण्ड को खण्ड-खण्ड कर डाला है—

क्रोध कषाय की ज्वालाओं ने जीवन खंडित कर डाला।
स्वभाव परिणति में रम जाऊँ, मिटे कर्म मल सब काला॥

मन के अशुभ परिणाम, वचन की शुभा-शुभ वर्गणाएँ तथा काय की शुभ-अशुभ क्रिया/चेष्टा ने अखण्ड आत्मा को खण्ड-खण्ड कर दुःखों में डाल दिया है। वास्तव में मन-वचन-काय की चेष्टाएँ तुम्हारी नहीं हैं, ये सब पुद्गल परिणतियाँ हैं। तुम एक अखण्ड हो, मन-वचन-काय की खंडता को क्षय करने वाले असंख्यातप्रदेशी अखंड चिदानन्द पिण्ड हो। असंख्यातप्रदेशी आत्मा का प्रत्येक अंश ज्ञान-दर्शन चेतना का भण्डार है। प्रत्येक प्रदेश अनन्त शक्तिवान् है। आत्मा में असंख्य प्रदेश होने पर भी यह खण्ड रूप नहीं, अखण्ड है, चेतन्य है, चिदात्मा है, चैतन्य का पिण्ड है।

आचार्य-उपाध्याय-साधु परमेष्ठी उसी अखंड चित्पिंड का प्रतिदिन ध्यान करते हुए शुद्धात्मा का दर्शन करते हैं। मैं भी उसी पद की प्राप्ति के लिये अखंड, चित्पिंड, दण्डत्रय से रहित शुद्धात्मा का स्मरण करता हूँ तथा पुनः-पुनः उसी की भावना करता हूँ।

दण्डत्रय का खंड कर, मैं हूँ एक अखण्ड।
ज्ञान दर्शनमय अखंड, मैं चिद्रूप प्रचण्ड ॥४॥

सूत्र—चतुर्गतिसंसारदूरस्वरूपोऽहम् ॥५॥

सूत्रार्थ—मै चतुर्गतिरूप संसार से रहित हूँ।

विशेषार्थ—

आचार्य, उपाध्याय, साधु प्रतिदिन निजस्वरूप की भावना भाते हुए विचार करते हैं—कर्मोदय से प्राप्त मनुष्यादि गतियों में भ्रमण करते हुए भी मेरा शुद्धात्मा चतुर्गति संसार के परिभ्रमण से रहित है। जिस प्रकार कर्मों का क्षय करके अरहन्त-सिद्ध परमात्मा का स्वरूप चतुर्गति संसार से सर्वथा दूर है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध निश्चयनय से कर्मों से दूर हुआ संसार परिभ्रमण से रहित हूँ। आचार्य-उपाध्याय-साधु परमेष्ठी के समान मेरा शुद्धात्मा भी शुद्ध निश्चयनय से चतुर्गति संसार से रहित है।

हे आत्मन्! चारो गतियों मे भ्रमण का मूल कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह हैं। ये पाँच पाप भव भ्रमण में हेतु हैं। जिस प्रकार पवन का वेग बादलों को उड़ा ले जाता है, वर्षा नही होने देता, उसी प्रकार पंच पापो की बढ़ती हुई पवन का वेग जीवों को पुण्य भाव शुभ भावों में नहीं लगने देता, शान्ति-सुधा की अमृत वर्षा से समतारस का पान नहीं होने देता। अतः चतुर्गति संसार रूप विभाव अवस्था को छोड़कर निज शुद्धात्मा का अचल स्थान सिद्धालय को प्राप्त करना चाहते हो तो हिंसादि पाँच पापों का त्याग कर अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच गुणों को धारण करो। यही शाश्वत अवस्था प्राप्ति का अमोघ साधन है। प्रतिदिन भावना भाइये—

हिंसा करना मेरा स्वभाव नहीं, मैं हिंसा नहीं करता, न कराता, न करने वाले की अनुमोदना ही करता हूँ। असत्य बोलना मेरा स्वभाव नहीं। मैं असत्य न बोलता हूँ। न बुलवाता हूँ, न बोलने वाले की अनुमोदना ही करता हूँ, चोरी करना मेरा स्वभाव नहीं, मैं चोरी नहीं करता हूँ, न कराता हूँ। न करने वालों की अनुमोदना करता हूँ। कुशील सेवन मेरा स्वभाव नहीं, मैं कुशील सेवन नहीं करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हूँ। परिग्रह संचय मेरा स्वभाव नहीं, मैं परिग्रह संचय नहीं करता, न कराता, न करने वालों को अनुमोदना करता हूँ। "मैं निष्पाप निष्कलंक चतुर्गति संसार से दूर सिद्धालय का वासी हूँ।"

चतुर्गति के भ्रमण को, चेतन अब तो तज दे तज,
पंच पाप तज परावर्त को, चेतन अब तू तज दे तज।
निष्कलंक निष्पाप जो आतम, उसको अब तू भज रे भज,
सिद्धालय में सदाकाल तू, कर निवास अब कर रे कर ॥५॥

**सूत्र—निश्चयपञ्चाचारस्वरूपोऽहम् ॥६॥**

**सूत्रार्थ**—मैं आचार्य परमेष्ठी के समान निश्चय पञ्चाचार स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—निश्चय पञ्चाचार के लक्षण बताइये ?

**उत्तर**—जो चिदानन्द शुद्धात्मतत्त्व है वही सब प्रकार आराधने योग्य है, उससे भिन्न जो परवस्तु हैं वह सब त्याज्य हैं। ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है, उसको ( निश्चय ) सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन वह (निश्चय) दर्शनाचार है।

और उसी निजस्वरूप में संशय-विमोह-विभ्रम रहित जो स्वसंवेदनज्ञान रूप ग्राहक बुद्धि वह सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका जो आचरण अर्थात् उस रूप परिणमन वह ( निश्चय ) ज्ञानाचार है।

उसी शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त संकल्प रहित जो नित्यानंद में निजरस का स्वाद, निश्चय अनुभव, वह सम्यक्चारित्र है। उसका जो आचरण, उस रूप परिणमन (निश्चय) चारित्राचार है।

उसी परमानन्द स्वरूप में परद्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज आनन्दरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन ( निश्चय ) तपश्चरणाचार है।

शुद्धात्मस्वरूप में अपनी शक्ति को प्रकट कर आचरण या परिणमन करना वह (निश्चय) वीर्याचार है।

जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी दर्शनाचार का पालन करते हुए दर्शन स्वरूप हैं, ज्ञानाचार का पालन करते हुए ज्ञानस्वरूप हैं, चारित्राचार का पालन करते हुए स्वयं चारित्रस्वरूप हैं, तपाचार का पालन करते हुए तपाचार रूप हैं तथा वीर्याचार का पालते हुए स्वयं अनन्त शक्तिरूप हैं। उसी प्रकार मैं भी निश्चयपञ्चाचार को पालने वाला दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप व वीर्य रूप हूँ क्योंकि मैं आचार्य परमेष्ठी रूप हूँ।

हे मुमुक्षु ! उस निर्मल आचार्य के निर्मल विशुद्ध पञ्चाचार की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम—देव-शास्त्र-गुरु को विशुद्ध श्रद्धा कर। अन्याय, अभक्ष्य का त्याग कर। विधिवत् गुरु साक्षी से पाँच पापों का त्याग कर, प्रथम अणुव्रतों का पालन कर। निज शुद्ध आत्मा की विमल अवस्था का दृढ़ श्रद्धान कर। जब अणुव्रतों, बारह व्रतों को पालन करने में निष्णात हो जावे तभी संसार शरीर भोगों से विरक्त हो पञ्चपरमेष्ठी का आश्रय लेकर अपने श्रावक के ग्यारह दर्जों का निरतीचार पालन कर, पश्चात् वैराग्य की दृढ़ता तथा निजात्मशुद्धि के लिये गुरु साक्षी में निर्ग्रन्थ अवस्था धारण कर व्यवहार पञ्चाचार-सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वीर्य का निर्दोष पालन कर, तभी तू "निश्चयपञ्चाचार" की भावना करता हुआ निश्चय-पञ्चाचार रूप परिणमन करेगा और शैलेसि ( मुक्ति ) अवस्था को प्राप्त करेगा।

हे मुमुक्षु ! विराम लो। विराम लो। विराम लो। किससे ? सर्व निष्प्र-योजन बाह्य कोलाहल से। खोजो निज मन्दिर मे शुद्ध चैतन्य चिन्तामणि परमात्मा को। जिसे मैं खोज रहा हूँ, वही मैं हूँ, जिसे मैं भूल गया हूँ, वही मैं हूँ। जिसे मैं पा गया हूँ, वह चैतन्य चिन्तामणि परमात्मा भी मैं ही हूँ। मैं अपने को, अपने में, खोजता हुआ अपनी श्रद्धा, अपना ही ज्ञान, अपना ही आचरण, अपने में ही तपन, अपनी ही अनन्तशक्ति से अपने में परिणमन करता हुआ "निश्चयपञ्चाचार स्वरूप हूँ"।

मेरे शुद्ध चिदानन्द भैय्या !<br>
क्रम-क्रम सीढ़ी चढ़ लो भैय्या[२] ॥ टेक ॥<br>
पाँच पाप तज अणुव्रत पालो,<br>
ग्यारह प्रतिमा के व्रत धारो,<br>
ज्ञान विराग की सरिता डूबो,<br>
जिन दीक्षा धर कर्मन मुण्डो ॥ क्रम-क्रम सीढ़ी.... ॥१॥<br>
पञ्चाचार का पालन कर लो,<br>
राग-द्वेष अरु मोह को तज दो,<br>
निश्चय पञ्चाचार मे रम लो,<br>
मुक्ति वधू को वश में कर लो ॥ क्रम-क्रम........ ॥२॥ ६॥

**सूत्र—भूतार्थषडावश्यकस्वरूपोऽहम् ॥७॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी निश्चयरूप छह आवश्यकों को पालन करते हुए परमात्म पद को प्राप्त होते

है। उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी परमार्थ छह आवश्यकों को पालते हुए निज परमात्मपद को प्राप्त होता है। अतः मैं भूतार्थ षट् आवश्यक स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—आवश्यक किसे कहते हैं, उसके छह भेद कौन से हैं?

**उत्तर**—जो इन्द्रियों के वश नहीं होता उसको अवश्य कहते हैं। ऐसे संयमी के अहोरात्रिक—दिन और रात में करने योग्य कर्मों का नाम ही आवश्यक है। [अ. ध. ८/१६]

आवश्यक के छह भेद—सामयिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

ण वसो अवसो, अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥१४२॥
—नियमसार

**गाथार्थ**—जो अन्य के वश में नहीं है वह "अवश" है और जो अवश का कर्म है वह आवश्यक है ऐसा जानना चाहिये। वही युक्ति है और वही उपाय है। उससे जीव निरवयव शरीर से रहित हो जाता है ऐसो निरुक्ति है।

संयमी की अहोरात्र सम्बन्धी ग्यारह क्रियाएँ आचार्यों ने कही हैं—साधु के अहोरात्र में दैवसिक व रात्रिक ऐसे दो प्रतिक्रमण, तीनों संध्याकालों में तीन बार देववन्दना, पौर्वाण्हिक, अपराण्हिक, पूर्वरात्रिक, अपररात्रिक ऐसे चार स्वाध्याय तथा रात्रि योग प्रतिष्ठापन और निष्ठापन इस प्रकार ये ११ आवश्यक क्रियाएँ हैं जो कि अवश्यकरणीय हैं। इन ११ क्रिया सम्बन्धी २८ कायोत्सर्ग हो जाते हैं। यथा—दो समय प्रतिक्रमण के आठ, तीन समय वन्दना के ६, चार समय स्वाध्याय के १२, और रात्रि योग प्रतिष्ठापन व निष्ठापन के २ ८+६+१२+२=२८ होते हैं। जो साधु आचारांग के आधार से आचार ग्रन्थों द्वारा कथित क्रियाओं में पूर्णतया निष्णात होते हैं वे निश्चय धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान को करने में समर्थ हो सकते हैं अन्य नहीं। तथा जब तक वे निश्चय धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान तक नहीं पहुँचते तब तक वे अन्य वश ही हैं। जैसा कि नियमसार ग्रन्थमें कहा है—कि जो मुनि निश्चितरूप से शुभभाव में चर्या करता है वह अन्य वश होता है, इसलिये उसके भूतार्थ षडावश्क लक्षण क्रिया नहीं होती है॥ गा. १४४॥

इसलिये आचारशास्त्र के पारंगत वे मुक्तिप्रिय साधु राग रहित, निज निरञ्जन स्वभाव सहित हो सर्व औदयिक आदि परभावों को त्याग करके शरीर-मन-इन्द्रिय और वचनों के अगोचर, सदा निरावरण होने से निर्मल स्वभाव, समस्त दुष्ट -पाप रूपी वीर वेरी की सेना की पताका को हरण करने वाले ऐसे निज कारण परमात्मा का ध्यान करते हैं, वे साधु भूतार्थ-षडावश्यक क्रिया स्वरूप हुए आत्मवश कहे जाते हैं। उन अभेद अनुपचार रत्नत्रय स्वरूप साधु के निखिल बाह्य क्रियाकांड के आडम्बर के विविध विकल्प रूप जो महाकोलाहल है उसके प्रतिपक्ष रूप महान् आनन्दानन्द को प्रदान करने वाली ऐसी निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप परम-आवश्यक क्रिया होती है जो भूतार्थषडावश्यस्वरूप है। अर्थात् जब भूतार्थषडावश्यक को प्राप्त वे साधुगण स्ववश हो जाते हैं तब उन्हें केवलज्ञान और निर्वाण को प्राप्त करने में देरी नहीं लगती है।

हे आत्मन्! निश्चयनय से मैं भूतार्थषडावश्यक स्वरूप हूँ, अतः मैं उस स्ववश अवस्था की प्राप्ति में बाधक परभावों में थिरता को छोड़ता हूँ और आत्मस्वभावों में थिरभाव को करता हूँ। कषाय-राग-द्वेष को त्यागता हूँ और निष्कषाय-विराग-समता भाव में स्थिर होता हूँ। यही रत्नत्रय में निवास के साधन हैं। मै स्वयं तद्रूप हूँ।

**शंका**—अवश्य करने योग्य जो भी कार्य हैं वे सब आवश्यक शब्द में कहे जाने चाहिये जैसे—लेटना, करवट बदलना, किसी को बुलाना आदि कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं?

**समाधान**—यहाँ आवश्यक शब्द सामायिक आदि क्रियाओं में ही प्रसिद्ध है अर्थात् जो आत्मा में, रत्नत्रय में निवास कराते हैं उन्हें आवासक/आवश्यक कहते हैं। [ भ. आ. ]

षट् आवश्यक मूल क्रिया मे, जो पारंगत हो जाते,<br>
वे ही साधू स्ववश होकर के, मुक्तिरमापति बन जाते।<br>
हे आत्मन् तू स्ववश होने को, तैय्यारी मे अब जुट जा,<br>
बाह्य आडम्बर से क्या प्रयोजन, शिवरमणी में तू रम जा ॥७॥

**सूत्र—सप्तभयविप्रमुक्तस्वरूपोऽहम् ॥८॥**

**सूत्रार्थ**—आचार्य परमेष्ठी सप्तभय से रहित हैं, उनके ही समान मेरा शुद्धात्मा भी सप्तभयों से रहित है, निर्भय स्वरूप है।

विशेषार्थ—

प्रश्न—सप्तभय कौन से हैं ?

१. इहलोक भय २. परलोक भय ३. वेदना भय ४. आकस्मिक भय ५. मरण भय ६. अरक्षा भय और ७. अगुप्ति भय।

हे आत्मन्! मुझे किसी का भय नहीं है। मैं त्रैलोक्याधिपति, चैतन्य चिन्तामणि, त्रिलोक शिरोमणि हूँ। दूसरी बात जिस पदार्थ में रूप-रस-गंध-वर्णादि हैं उन्हीं के हरण का, मरणका-क्षरण का भय होता है, मैं अमूर्तिक चैतन्य पुञ्ज हूँ मुझे किस चीज का भय ?

मैं वर्णादि रहित अरूपी हूँ इस लोक में मुझ पर कोई मोहित हो मुझे लूट नहीं सकता, कूट नहीं सकता, चुरा नहीं सकता/अतः मुझे इहलोक भय नहीं है। मैं निर्भय हूँ।

मेरा आत्मा ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है अतः मेरा आत्मा सर्वगत है उसको इहलोक-परलोक का भेद ही नहीं, फिर भय कहाँ ? मैं निर्भय हूँ।

मेरा शुद्धात्मा "निरामय" नीरोग है। शरीर के १-१ रोम मे ९६-९६ रोग हैं। पूरे शरीर में ५६८९९५८४ रोग हैं। शरीर मैं नहीं हूँ। हाँ! शरीर मेरा पड़ोसी है, पर पड़ोसी के घर मे आग लगी है तो मुझे भय क्यों ? मैं वेदना भय से रहित हूँ।

मनुष्यादि पर्यायों में अकस्मात् बिजली आदि गिरने से शरीर का/पर्याय का नाश होता है। मुझ शुद्धात्मा का तो कुछ बिगड़ता नहीं, बल्कि रहने को नया मकान मिलता है, फिर अकस्मात् भय मुझे क्यों ? नहीं। मैं निर्भय हूँ।

शुद्ध-आत्मा अजर-अमर, अनादि निधन है, न कभी जन्म लेता है, न मरता है। फिर पर्यायों के जन्म-मरण मे मुझे काहे का भय ? मैं मरण भय रहित हूँ।

मैं स्वयं स्वयं का रक्षक हूँ, त्रिकालदर्शी चिदानन्द परमात्मा अरहंत हूँ, सिद्ध हूँ फिर स्वरक्षक को पहरेदारों की क्या आवश्यकता। मैं शुद्धात्मा परद्रव्यों से भिन्न हो, विभाव से स्वयं की रक्षा कर रहा हूँ। फिर मुझे अरक्षा भय क्यों हो ? कभी नहीं। मैं अरक्षा भय से रहित निर्भय हूँ।

मैं निर्भय हो शुद्ध निजात्मा की महकती सुन्दर, ज्ञान-दर्शन रूपी विकसित पुष्पों की बगिया में विचरण करता हूँ। प्राणीमात्र को अभयदान देता हुआ स्वयं अभयपद प्राप्त करता हूँ।

अब अभयपद प्राप्ति के लिये क्या करूँ—

नहीं सताऊँ किसी जीव को, प्राणी मात्र को अभय करूँ,
समता भाव की सिद्धि करके, शुद्ध अभयपद प्राप्त करूँ।
मूक-निरीह-भोले जीवों को, कभी नहीं मैं डराऊँगा,
निर्भयपद को छोड मैं चेतन, चौरासी ना पाऊँगा ॥७॥

**सूत्र—विशिष्टगुणपुष्टस्वरूपोऽहम् ॥९॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तकेवलज्ञान, अनन्तकेवलदर्शन, अनन्तवीर्य, परमसूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व, अगुरुलघुत्व इन अष्ट गुणों से सदा काल पुष्ट रहते हैं। उसी प्रकार मेरा यह शुद्धात्मा भी सदाकाल उन आठों गुणों से पुष्ट रहता है, क्योंकि मैं भी सिद्ध समान अष्टगुणमय हूँ।

**विशेषार्थ**—

आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी सिद्धों के अष्टगुणों की प्राप्ति के लिये उन गुणो की आराधना करते हैं तथा उन गुणमय स्व आत्मा को ध्यान के बल से देखकर तद्रूप में लीन हो जाते हैं। मैं भी उसी साधुपद की प्राप्ति के लिये अष्टगुणमयपुष्ट शुद्धात्मा का अवलोकन करता हूँ, उसी की आराधना करता हूँ।

परमात्मप्रकाश में योगीन्दुदेव लिखते है—जैसा कार्य समयसार स्वरूप निर्मल ज्ञानमयी देव सिद्धलोक मे रहते हैं वैसा ही कारण समयसार स्वरूप परब्रह्म शरीर में निवास करता है। अतः हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान् और अपने मे भेद मत कर। [ मू० ६/३/४ ]

अतः हे पथिक! तू यह निश्चय जान ले, सिद्ध समान अष्ट गुणों से पुष्ट मेरा शुद्धात्मा है। सिद्ध भगवान् और मुझ में गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। मैं वही हूँ जो सिद्ध भगवान् हैं"। "सोऽहम्"

पर शरीर को पुष्ट कर, निजातम गया भूल।
निज आतम को पुष्ट कर, सदा रहो अनुकूल॥

**सूत्र—नवकेवललब्धि स्वरूपोऽहम् ॥१०॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा शुद्धात्मा नव केवल लब्धि स्वरूप है अथवा मैं नव क्षायिक लब्धि स्वरूप हूँ। जिस प्रकार अरहंत भगवान् नौ क्षायिक लब्धियों से शोभायमान रहते हैं तथा आचार्य, उपाध्याय, साधुपरमेष्ठी तद्रूप निज-शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं उसी प्रकार मैं भी नव केवल लब्धियों से शोभायमान सिद्ध समान परमात्मा हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—क्षायिक लब्धि किसे कहते हैं, नव केवल लब्धियों के नाम बताइये ?

**उत्तर**—दंसणमोहणीयस्स णिस्सेसविणासो खओ णाम। तम्हि उप्पण्ण-जीवपरिणामो लद्धी णाम। [ध० २, १, ७१ ]

**अर्थ**—दर्शनमोहनीय के निश्शेष विनाश को क्षय कहते हैं, और उस क्षय से जो जीव परिणाम उत्पन्न होता है वह क्षायिक लब्धि कहलाती है। नव क्षायिक लब्धि कहिये अथवा नव केवल लब्धि कहिये दोनों पर्यायवाची नाम हैं। यथा—क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक चारित्र, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ और क्षायिक वीर्य।

**प्रश्न**—क्षायिक लब्धियों का लक्षण बताइये ?

**उत्तर**—**१-क्षायिक ज्ञान २-क्षायिक दर्शन**—समग्र ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान और दर्शनावरण कर्म के क्षय से केवलदर्शन ( क्षायिक लब्धियाँ हैं )।

**३-क्षायिकदान**—सकल दानान्तराय के अत्यन्त क्षय होने पर अनन्त प्राणियों का अनुग्रह करने वाला अभयदान होता है। अथवा दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से आविर्भूत त्रिकालगोचर अनन्तप्राणियों का हित-कारक, भगवान् का अहिंसामय उपदेश होता है जिससे जीवों को अभय मिलता है, वह भगवान् का उपदेश क्षायिकदान है। ( वही क्षायिकदान लब्धि है )

**४-क्षायिकलाभ**—सकल लाभान्तराय कर्म के अत्यन्त नष्ट हो जाने पर परम शुभ पुद्गलों का ग्रहण क्षायिक लाभ है। सम्पूर्ण लाभान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने पर कवलाहार न करने वाले केवली भगवान् के शरीर की स्थिति में कारणभूत, अन्य मनुष्यों में नहीं पाये जाने वाले असाधारण परमशुभ, सूक्ष्म दिव्य अनन्त पुद्गल परमाणुओं का प्रतिसमय के शरीर में सम्बन्धित होना क्षायिक लाभ है। इससे कवलाहार के बिना कुछ कम पूर्वकोटि वर्ष तक औदारिक शरीर की स्थिति कैसे रहती है ? यह शंका निराधार हो जाती है। अर्थात् क्षायिक लाभ के कारण भगवान् बिना किये कुछ कम पूर्वकोटि तक रह सकते हैं।

५-क्षायिकभोग—सम्पूर्ण भोगान्तराय कर्म के तिरोभाव हो जाने से प्रकृष्ट भोगों की प्राप्ति होती है। सकल भोगान्तराय के नाश से उत्पन्न होने वाला सातिशयभोग, क्षायिकभोग है। इसी से पुष्पवृष्टि, गन्धोदक-वृष्टि, चरणनिक्षेपस्थान में सप्तकमलों की पंक्ति की रचना, सुगन्धधूप, सुगन्धित-शीतल वायु का चलना, आदि अतिशय होते हैं।

६-क्षायिक-उपभोग—सम्पूर्णसंघ उपभोगान्तराय कर्म के प्रलय हो जाने से अनन्त क्षायिक-उपभोग होता है। समस्त उपभोगान्तराय कर्म के नाश से उत्पन्न होने वाला सातिशय उपभोग क्षायिक उपभोग है। इसी से सिंहासन, चमर, अशोकवृक्ष, छत्र-त्रय, प्रभामंडल, गंभीर स्निग्ध मधुर दिव्यध्वनि, दुन्दुभि आदि क्षायिक उपभोग प्राप्त होते हैं।

७-क्षायिक वीर्य—वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से अनन्त-वीर्य उत्पन्न होता है। आत्मा की शक्ति के प्रतिबन्धक, वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से उत्पन्न शक्तिविशेष अनन्त क्षायिक वीर्य है।

८-क्षायिक सम्यक्त्व ९-क्षायिक चारित्र—मोह कर्म की प्रकृतियों का सम्पूर्ण क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार मोह की और दर्शन-मोह की सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के पूर्ण क्षय हो जाने से क्षायिक सम्यग्दर्शन और शेष चारित्रमोह की २१ प्रकृतियों के क्षय से क्षायिकचारित्र होता है।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थ से २।४।२८४-२८५

[हिन्दी अनु० ग० आर्यिका सुपार्श्वमतीजी कृत]

हे आत्मन् ! शुद्ध नय से अरहन्त भगवान् के समान मेरा शुद्धात्मा भी इन नवलब्धियों का स्वामी है, तद्रूप है। साक्षात् प्राप्ति मे बाधक कौन है ? अष्टकर्म। अशुभ परिणाम। मैं क्षायिक लब्धियों की प्राप्ति के लिये—ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म को क्षय करने का पुरुषार्थ करता हूँ। वास्तव में ज्ञानावरण-दर्शनावरण रूप मैं नही, ये मेरे स्वभाव नहीं, फिर ये मुझ में कैसे टिक सकते हैं ? मैं इन्हें जड़ से उखाड़ फेंकता हूँ। मैं क्षायिक ज्ञान-दर्शनमय हूँ।

मैं किसी को भी दान देने में विघ्न नहीं करता हूँ, न करवाता हूँ और न करने वाले की अनुमोदना करता हूँ, अर्थात् दान में अन्तराय डालने रूप अशुभ भाव को मैं छोड़ता हूँ। मैं क्षायिक दानरूप हूँ।

हे आत्मन् ! मैं स्वयं क्षायिक लाभरूप हूँ पर मैंने स्वयं मार्ग को रुकावट डाल रखी है। मैं विभाव में मदमत्त हो दूसरों को लाभ में विघ्न करता रहा। दूसरों को होने वाले लाभ को सहन न कर सका। मात्सर्य भाव से दूसरे की हानि में आनन्द मानता रहा। लाभ देख मन में कलुष भावना से पीड़ित रहा। उसी का प्रतिफल आज तुझे साक्षात् मिल रहा है—जिस कार्य में हाथ डालता है विघ्न/अन्तराय सामने आ खड़ा हो जाता है। शरीर साथ नहीं देता, भोजन नहीं मिलता, धन व्यापार सब में हानि होती है। मैं किसी को भी किसी कार्य में विघ्न करने का त्याग करता हूँ। अब मैं लाभ मे विघ्न न करता हूँ, न कराता हूँ और न ही करने-वाले की अनुमोदना करता हूँ। मैं क्षायिक लाभ स्वरूप हूँ।

अन्य प्राणियों की भोग-उपभोग की सामग्री में अनादिकाल से तूने अज्ञानतावश अन्तराय डाला। उसी का फल है तू सुन्दर-सुगन्धित पदार्थों को भोगना चाहता है पर भोग नहीं पाता। सुन्दर कीमती वस्त्राभूषण, मकान महल आदि का उपभोग करना चाहता है पर कर नहीं पाता। हे आत्मन् ! भोगोपभोग सामग्री मे विघ्न डालने का त्याग कर। अहो आश्चर्य है ! मैं तीन लोक के पदार्थों को भोगोपभोग करने वाला होकर तरसता रहता हूँ। नहीं। अब कभी नहीं। मैं इस अन्तराय को जड़ से उखाड़ फेंकता हूँ। मैं पुष्पवृष्टि, गन्धोदकवृष्टि और सिंहासन, समवशरण आदि उत्तमभोगोपभोग सामग्रियों का अधिकारी अपनी वस्तु को निश्चित रूप से प्राप्त करता हूँ।

मैं स्वयं अनन्तवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और चारित्र का स्वामी अरहंत परमेष्ठी सम हूँ। उसी पद की प्राप्ति के लिये मैं विभाव परिणतियों को त्याग, स्वभाव को स्वीकार करता हूँ। [इत्यलम्]

कहाँ पड़े तुम सोते चेतन, नव केवललब्धी स्वामी,<br>
कर्म कीच में पड़े हुए क्यों भूल रहे हीरा नामी।<br>
तेरे भीतर छिपा हुआ है, तेरा प्रभु परमातमा,<br>
कर्मों को चकचूर करे तब, मिले शुद्ध वह आतमा ॥१०॥

**सूत्र—अष्टविधकर्मकलंकरहितस्वरूपोऽहम् ॥११॥**

सूत्रार्थ—सिद्ध परमेष्ठी अष्ट कर्मों से सर्वथा रहित हैं वैसे ही मेरा शुद्धात्मा भी शुद्ध निश्चयनय से अष्टविधकर्मकलंक से रहित शुद्धसिद्ध परमात्मा है।

**विशेषार्थ—**

हे आत्मन् ! मैं "णिकम्मा हूँ"। कर्मरूपी शत्रुओं को विध्वंस करने में समर्थ अपने शुद्ध आत्मा के बल से ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति और उत्तरप्रकृतियों के विनाश करने में समर्थ मैं कर्मों से रहित "निष्कर्म हूँ"।

ज्ञानावरणकर्म रहितोऽहम्। दर्शनावरण कर्म रहितोऽहम्। वेदनीय कर्म रहितोऽहम्। मोहनीयकर्म रहितोऽहम्। आयुकर्म रहितोऽहम्। नामकर्म रहितोऽहम्। गोत्रकर्म रहितोऽहम्। अन्तरायकर्म रहितोऽहम्।

सिद्धशुद्ध मम आतमा, अष्टकर्म से हीन।
निशदिन मैं भजता इसे, होने को स्वाधीन ॥११॥

**सूत्र—अष्टादशदोषरहितस्वरूपोऽहम् ॥१२॥**

**सूत्रार्थ**—अरहंत भगवान् व सिद्ध परमात्मा क्षुधा आदि की वेदना से रहित अठारह दोषों से रहित हैं, वैसे ही भूख आदि के कारणभूत असातावेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों के क्षय होने पर मैं भी अष्टादशदोष रहित हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—हम संसारी जीवों के समान अरहंत-सिद्ध परमात्मा को भोजन, पान, सुगन्धित पदार्थ, पुष्प आदि की आवश्यकता होती है या नही। थकने पर वे सोते हैं या नही, रोगादि होने पर औषधि आदि की आवश्यकता पड़ती है या नहीं ?

**उत्तर**—क्षुधा और तृषा के नाश हो जाने से अरहंत-सिद्ध परमात्मा को नाना प्रकार के रस मिश्रित आदि अन्नपान आदि की आवश्यकता नही है। अशुचि का अभाव हो जाने के कारण सुगन्धयुत पदार्थ इत्र-पुष्प-फुलेल आदि की आवश्यकता नहीं है। स्व स्वरूप में निरन्तर जागृत रहने वाले तथा अनन्तवीर्य प्रगट होने से उनको थकान कभी होती ही नहीं। अतः निद्रा और ग्लानि आदि दोषों का अभाव हो जाने के कारण निश्चय से कोमलशय्या की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार अंधकार के नष्ट हो जाने पर दीपक की कोई आवश्यकता नहीं रहती है उसी प्रकार भयंकर रोगादि के कारण होने वाली पीड़ा का अभाव होने से उसको शान्त करने वाली औषधि आदि की कोई आवश्यकता उन्हें नहीं होती है। तात्पर्य यही

है कि अर्हंत-सिद्ध भगवान् अठारह-दोषों से जो दुखों के कारण हैं, रहित अनुपम सुख के स्वामी हैं।

हे मुमुक्षु ! निश्चय से मेरा शुद्धात्मा अष्टादश दोषों से रहित सिद्ध समान निर्मल-विशुद्ध-निर्दोष है। मैं उस परमपद की प्राप्ति में बाधक सरस-नीरस भोज्य पदार्थों में गृद्धता का त्याग करता हूँ और अनशन, अवमौदर्य तप का आश्रय करता हूँ। अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ धर्म्यध्यान में तत्पर हो निद्रा आदि विभावों को दूर हटाता हूँ। आत्मगुणों की सुगन्ध पवन की महक से आत्मा को सुगन्धित बनाता हुआ बाह्य सुगन्ध पदार्थों को लगाने का त्याग करता हूँ। मैं "निरामय"/निरोग शुद्धात्मा का ध्यान करता हुआ शरीर व शरीर में होने वाले रोगों के प्रतीकार की इच्छा को त्याग करता हूँ। बस इसी क्रम से हेय को छोड़ उपादेय को ग्रहण करता हुआ, मैं अपनी परम विशुद्ध अष्टादश दोषों से रहित विशुद्ध अरहन्त-सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता हूँ। मैं तद्रूप हूँ।

क्षुधा तृषादिक दोष बिन, मैं हूँ सिद्ध समान।
ज्ञाता दृष्टा शुद्ध हूँ, चेतन मेरा नाम ॥१२॥

**सूत्र—सप्तनयव्यतिरिक्त स्वरूपोऽहम् ॥१३॥**

**सूत्रार्थ**—मेरा शुद्धात्मा सप्तनयों के कथन से भिन्न प्रमाण स्वरूप है। जैसे सिद्ध परमात्मा का स्वरूप किसी से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह केवलज्ञानगोचर है, प्रमाणस्वरूप है। वैसे ही मैं शुद्ध-आत्मा नयों के कथन से भिन्न केवलज्ञानरूपी प्रमाण के गोचर हूँ।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—नय किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—"विकलादेशी नयः" वस्तु के एक देश कथन करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

सात नय इस प्रकार हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत।

**१-नैगम नय**—जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है वह नैगम नय है जैसे—लकड़ी, पानी आदि सामग्री को संचय करने वाले पुरुष से कोई पूछे कि आप क्या कर रहे हो, तब वह उत्तर देता है कि मैं रोटी बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा है तथापि नैगम नय उसे सत्य कहता है।

२-संग्रह नय—जो नय अपनी जाति का विरोध न करता हुआ एक-पने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है वह संग्रह नय है जैसे—सत्, द्रव्य, घट आदि।

३-व्यवहार नय—जो नय संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों के विधिपूर्वक भेद करता है, वह व्यवहार नय है जैसे—सत् दो प्रकार का—द्रव्य और गुण। द्रव्य के ६ भेद—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुण के दो भेद सामान्य-विशेष।

४-ऋजुसूत्र नय—जो सिर्फ वर्तमानकाल के पदार्थों को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है।

५-शब्द नय—जो नय लिंग संख्याकारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है वह शब्द नय है।

६-समभिरूढ़ नय—जो नय नाना अर्थ को उल्लङ्घन कर एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करता है वह समभिरूढ़ नय है। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करता है। जैसे—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों नाम इन्द्र के होने पर भी यह नय इन तीनों के अर्थ भिन्न-भिन्न ग्रहण करता है।

७-एवंभूत नय—जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ है उसी क्रिया रूप परिणमते हुए पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं। जैसे—पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना।

हे आत्मन्! जीव में कर्म बँधे हुए हैं अथवा नहीं बँधे हुए हैं इस प्रकार तो नय-पक्ष जानो और जो पक्ष दूरवर्ती कहा जाता है वह समयसार वही निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व मैं हूँ।

जीव कर्मों से बँधा हुआ भी है तथा नहीं बँधा भी है, ये दोनों नय पक्ष हैं। इनमें से किसी ने बंध पक्ष पकड़ा, उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबंध पक्ष स्वीकार किया उसने भी विकल्प ही लिया और किसी ने दोनों पक्ष लिये, उसने भी पक्ष का ही विकल्प ग्रहण किया है। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़ जो किसी भी नयपक्ष से कथन में नहीं आने वाला ऐसा मैं सप्तनयों के विकल्प से रहित मात्र केवलज्ञानगोचर वीतराग परमशुद्ध आत्मा हूँ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य भी कहते हैं—जो पुरुष नय के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर निरन्तर स्थित होते हैं, वे ही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शान्तचित्त हुए साक्षात् अमृत पीते हैं।

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त, तव एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥

—अमृत कलश

हे पथिक ! जब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता, तब तक पक्षपात रहता है, अतः सर्वतः क्षोभ को हटाओ। क्षोभ के हटते ही पक्षपात रहित आत्मा वीतरागदशा को प्राप्त होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है तथा स्वरूप में प्रवृत्ति होती है।

सप्त नय का ज्ञान है, खण्ड-खण्ड में ज्ञान।
मैं प्रमाण का विषय हूँ, अखण्ड एक महान् ॥१३॥

**सूत्र—निश्चयव्यवहाराष्टविधज्ञानाचारस्वरूपोऽहम् ॥१४॥**

**सूत्रार्थ**—मैं निश्चय और व्यवहाररूप आठों प्रकार के ज्ञानाचार को धारण करने वाला ज्ञानाचार स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—आचार किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल किये गये सम्यग्दर्शनादि में जो यत्न किया जाता है उसे आचार कहते हैं।

ज्ञानाचार आठ प्रकार का है—१-अर्थाचार २-शब्दाचार ३-तदुभयाचार ४-कालाचार ५-उपधानाचार ६-प्रश्रयाचार ७-अनिह्नवाचार ८-बहुमानाचार।

१-**अर्थाचार**—ज्ञान के द्वारा जाने हुए अर्थ वा पदार्थ को अच्छी तरह धारण करना।

२-**शब्दाचार**—शब्दों का स्पष्ट और निर्दोष उच्चारण करना।

३-**तदुभयाचार**—अर्थाचार-शब्दाचार दोनों की पूर्णता।

४-**कालाचार**—योग्य समय में ज्ञान का आराधन करना। तीनों संध्याकाल में, भूकंप, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, वज्रपात आदि के समय ज्ञान की आराधना नहीं करना। इन सब अयोग्य कालों को छोड़कर योग्य काल में ज्ञान का आराधन करना चाहिये।

५–उपधानाचार—स्मरणपूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

६–प्रश्रयाचार (विनयाचार)—शास्त्रों का विनय करते हुए अध्ययन करना चाहिये।

७–अनिह्नवाचार—जिनसे ज्ञान प्राप्त हुआ उन गुरु, उपाध्याय आदि का नाम नहीं छिपाना।

८–बहुमानाचार—आचार्य, उपाध्यायों का आदर करते हुए, श्रुत-भक्ति, आचार्यभक्ति पढ़ते हुए, श्रुत-ग्रन्थराज को नाभि से ऊपर स्थान पर विराजमान कर, वेष्टन आदि से युक्त रखते हुए विशेष आदर/सम्मान बहुमान से अध्ययन करना।

आचार्य परमेष्ठी ज्ञानाचार के आठ अंगों को निर्दोषरीत्या पालते हुए व्यवहार ज्ञानाचार में निष्णात हो जाते हैं।

जो व्यवहार ज्ञानाचार में पारंगत हैं, वे अष्टांग का पालन करते हुए भी स्वयं ज्ञानमय हैं। वे व्यवहार ज्ञानाचार की कुशलता के फल से अपनी शुद्धात्मा को उपाधि रहित, स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान द्वारा, मिथ्यात्व व रागादि परभावों से भिन्न जानते हैं तथा तद्रूप परिणमन करते हैं, यही उनका निश्चयज्ञानाचार है।

जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी केवलज्ञान ज्योतिप्रदायक ज्ञानाचार के बाह्य आठ अंगों का पालन करते हुए भी शुद्धज्ञानमय निजात्मा में परिणमन करते हुए निश्चयज्ञानाचारमय हैं, उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी निश्चयव्यवहार अष्टविध ज्ञानाचार स्वरूप है, क्योंकि मैं आचार्य परमेष्ठी स्वरूप हूँ। "सोऽहम्" (संकल्प) मैं मुमुक्षु—ज्ञानाचार की प्राप्ति के लिये आचार्यप्रणीत मूल ग्रन्थों का स्वाध्याय प्रतिदिन करूँगा। शुद्ध उच्चारण करते हुए, अर्थ समझते हुए स्वाध्याय करूँगा। मैं जिनवाणी-जिनागम का अविनय नहीं करूँगा। शास्त्र अध्ययन करने से पूर्व ९ बार णमोकार मंत्र का जाप्य कर, शास्त्र को नमस्कार कर, दीक्षा-शिक्षा गुरु का स्मरण कर शास्त्राध्ययन प्रारंभ करूँगा। असमय मे नहीं पढूंगा। ज्ञान की साधना द्वारा संशय-विमोह-विभ्रम को दूर कर स्वात्मा मे विचरण करूँगा तथा ज्ञान का फल उपेक्षा बुद्धि प्राप्त कर कैवल्य ज्योति को प्राप्त करूँगा।

हे भव्यात्मन्! यह भावना ही ज्ञानाचार की साधिका है, इसी में निजबुद्धि को लगाओ।

मुमुक्षु की भावना—

अज्ञान तिमिर में फिरा भटकता, ज्ञान साधना ना कीनी,
ज्ञानाचार की ओढ़ चुनरिया, ज्ञानी पदवी पा लीनी।
हो निमग्न इस महायज्ञ में, कर्म कालिमा तज दूँगा,
ज्योति केवल प्रकटाकर फिर, मुक्तिवधू को वर लूँगा ॥१४॥

**सूत्र—अष्टविधदर्शनाचारस्वरूपोऽहम् ॥१५॥**

सूत्रार्थ—मैं आठ प्रकार के दर्शनाचार स्वरूप हूँ। जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी निःशंकित आदि अंगों का पालन करते हुए दर्शनाचार स्वरूप हैं उसी प्रकार मैं भी अष्ट अंगों का पालन करते हुए दर्शनाचार स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

जो आत्मा कर्मबन्ध के कारण मोह के करने वाले मिथ्यात्वादि रूप चारों भावों को निःशंक हुआ काटता है वह आत्मा निःशंक सम्यग्दृष्टि है।
[गा० २२९]

अर्थात् जिस कारण सम्यग्दृष्टि ज्ञायक एक भावमय है उस भाव से कर्मबन्ध के कारण शंका को करने वाले ऐसे मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-योग—इन चार भावों का इसके अभाव है इस कारण निःशंक है।

जो आत्मा कर्मों के फलों में तथा सब धर्मों में वाञ्छा नहीं करता है वह आत्मा निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि है। जो जीव सभी वस्तु धर्मों में ग्लानि नहीं करता वह जीव निश्चयकर विचिकित्सा दोष रहित सम्यग्दृष्टि है। जो जीव सब भावों में मूढ़ नहीं होता यथार्थदृष्टि रखता है वह ज्ञानी जीव निश्चयकर अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि है। जो जीव सिद्धों की भक्ति से युक्त हो और अन्य वस्तु के सब धर्मों का गोपने वाला हो वह उपगूहन अंगधारी है। जो जीव उन्मार्ग में चलते हुए अपनी आत्मा को भी मार्ग में स्थापन करता है वह ज्ञानी स्थितिकरणगुणसहित है। जो जीव मोक्ष-मार्ग में स्थित आचार्य, उपाध्याय, साधुपद सहित आत्मा में अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में वात्सल्यभाव करता है वह वत्सलभाव सहित सम्यग्दृष्टि है। तथा जो जीव विद्यारूपी रथ में चढ़ा, मनरूपी रथ के चलने के मार्ग में भ्रमण करता है वह ज्ञानी जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना। [स. सा. २२९ से २३६ मू. गा.]

आचार्य परमेष्ठी इन अंगों का व्यवहार से पालन करते हुए, स्वयं शुद्ध आत्मा में आचरण करते हुए दर्शनाचार स्वरूप हैं वैसे ही मैं भी शुद्ध आत्म तत्त्व का श्रद्धान करता हुआ दर्शनाचारमय हूँ। मैं कौन हूँ—मैं निःशंक हूँ। मैं निःकांक्ष हूँ। मैं अमूढ़ हूँ। मैं ग्लानि-रहित हूँ। मैं उपगूहनधारी हूँ। मैं स्व-स्वभाव में स्थित हूँ। मैं रत्नत्रयधारी साधुओं में तथा रत्नत्रय स्वरूप निजात्मा में वात्सल्य करता हूँ। मैं जिनवाणी को हृदयंगम करने वाला जिनधर्म प्रभावक हूँ। मैं सम्यग्दृष्टि हूँ।

दर्शनाचार में सदा रमण, करता रहूँ त्रिकाल।
भवसमुद्र से पार हो, छोड़ूं सब जंजाल ॥१५॥

**सूत्र—द्वादशविधतपाचारस्वरूपोऽहम् ॥१६॥**

**सूत्रार्थ**—बारह प्रकार के तपाचरण स्वरूप मैं हूँ। जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी बारह प्रकार के तपाचार का पालन करते हुए तपाचार स्वरूप हैं, उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी अन्तरंग बहिरंग तप का आचरण करता हुआ तपाचार स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—तप किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—"कर्मक्षयार्थ तप्यते इति तपः"—कर्मों के क्षय करने के लिये जो तपन होता है वह तप कहलाता है। यह तप—

अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशयनाशन और कायक्लेश के भेद से ६ प्रकार का बहिरंग और प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्ति, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान के भेद से ६ प्रकार का अन्तरंग = १२ प्रकार का है।

**अनशन**—चार प्रकार के आहार का त्याग करना।

**ऊनोदर**—आधापेट भोजन करना, भूख से कम खाना।

**वृत्तिपरिसंख्यान**—अपने आहार-विहार आदि प्रवृत्ति के जो कारण हैं—उनकी गिनती या नियम करना।

**रसपरित्याग**—इन्द्रियरूपी हाथी को मद उत्पन्न करने वाले स्वादिष्ट या पौष्टिक रसों का सदा के लिये त्याग करना।

**विविक्तशयनासन**—एकान्त स्थान में सोना-बैठना।

**कायक्लेश**—शरीर को अनेक प्रकार के तपश्चरणों के द्वारा क्लेशित करना।

**प्रायश्चित**—चित्त की शुद्धि करना अथवा जो षट् आवश्यकादि शुभ क्रियाओं में दोष लगा रहे हैं उन्हें प्रायश्चित्त देकर मोक्षमार्ग में स्थिर करना।

**विनय**—दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप के विषय में विनय धारण करना।

**वैय्यावृत्ति**—रोगी-वृद्ध-बाल यतियों की वैयावृत्य करना।

**स्वाध्याय**—लाभ-कीर्ति-सम्मान आदि की इच्छा से रहित केवल कर्मों का नाश करने के लिये धर्मशास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

**कायोत्सर्ग**—काय से ममत्व छोड़ने रूप सत्क्रिया।

**ध्यान**—अपने मन को किसी एक पदार्थ पर लगाकर अन्य समस्त चितवनों को रोक देना ध्यान है। "एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"।

इन बारह तपों का निर्दोषरीत्या पालन करते हुए जो मुमुक्षु निज शुद्धात्मा में ही तपन करते हुए तपाचारमय हो जाते हैं वह उनका निश्चय तपाचार ही मुक्ति के लिये कारण है। निजात्मा की भावना से रहित अथवा आत्म-भावना रहित किये गये तप संसार की वृद्धि के ही कारण हैं। हे पथिक, शुद्धात्मा में तप करता हुआ पतन से अपने को रोक ले।

मैं बाह्य बारह तपों को पालता हुआ—निरन्तर ज्ञानामृत का पान करता हूँ, धर्म्यध्यान के द्वारा निज आत्मा को ऊनोदर तप में लगाता हूँ। कषाय-अशुभ-लेश्या रूप विकारी भावों में न जाकर निज-ज्ञान-दर्शन में ही प्रवृत्ति करना यह मेरा निश्चय वृतिपरिसंख्यान है। राग-द्वेष-मद-मोह-ख्याति-लाभ-पूजा-भोगाकांक्षा रूप मधुर सरस रसों का पूर्ण त्याग मेरा निश्चय रसपरित्याग तप, निजशुद्धात्मारूपी मनोहर उद्यान में विचरण मेरा निश्चय एकान्त वास है तथा आत्मा और शरीर मे भेद कर शरीर से अपना संयोग संबंध भी दूर करने का पुरुषार्थ यह मेरा निश्चय काय-क्लेश तप है।

निश्चय से मैं विभाव परिणामों से दूर हट परम शुद्धात्मा की शुद्धि करता हूँ यह मेरा प्रायश्चित तप है। देह देवालय में स्थित नित परमशुद्ध सिद्ध सम परमात्मा की त्रिकाल वन्दना कर विनय तप धारण करता हूँ। निज आत्मा में क्रोधादि रोग, तथा लेश्यादि रूप बालपन आदि होने पर

अजर-अमर पद की औषधि से उपचार कर वैय्यावृत्ति को धारण करता हूँ। स्व का अध्ययन ही मेरा स्वाध्याय है। परद्रव्य से ममत्व त्याग, निजानन्द में स्थिर हुआ मैं कायोत्सर्ग करता हूँ तथा सर्व परद्रव्यों से भिन्न एकमात्र शुद्धचिद् आनन्दघन स्वात्मा को अपने निजस्वरूप मे तल्लीन करता हुआ निश्चय ध्यान की सिद्धि करता हूँ। तात्पर्य यह है कि मैं उसी परमानन्दस्वरूप में परद्रव्य को इच्छा रहित सहज आनन्द रूप तपश्चरण करता हूँ।

इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी व्यवहार-निश्चय तपाचार को पालते हुए, तपाचार स्वरूप हो, कर्मों का संवर व निर्जरा दोनों की सिद्धि कर लेते हैं वैसे ही मैं चेतनात्मा भी व्यवहार-निश्चयतपाचार का पालन करता हुआ, कर्मों का संवर व निर्जरा करता हुआ मोक्षमार्ग में कदम बढ़ाता हूँ। मुझे अमूल्य शुद्ध-परम-निजनिधि का लाभ हो।

स्वर्ण शुद्ध तब होत है, सोलह ताव जो खाय,
हीरा शुद्ध तब होत है, जब सानी पर घिस जाय।
जीवन शुद्ध तब होत है, जब संस्कार लग जाय,
आतम शुद्ध तब होत है, जब तप अग्नि तप जाय॥१६॥

**सूत्र—पञ्चविधवीर्याचारस्वरूपोऽहम् ॥१७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं पंचविध वीर्याचार स्वरूप हूँ। जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी की आत्मा पाँच प्रकार वीर्याचार से शोभायमान है उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी पाँच प्रकार के वीर्याचार से सहित है क्योंकि मेरा शुद्धात्मा भी आचार्य परमेष्ठी स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—पाँच प्रकार का वीर्याचार बताइये ?

**उत्तर**—तपश्चरण करने में अपनी शक्ति को प्रकट करना वीर्य का आचार है, उसके पाँच भेद हैं—

१. वीर्य की शक्ति को, पराक्रम को वा उत्साह को वीर्य पराक्रम कहते हैं। जो वीर्य पराक्रम उत्तम हो वह वीर्य पराक्रम है। यह पहला भेद है।

२. आगम में जिस प्रकार से तपश्चरण करना बतलाया है। उसी प्रमाण से करना, उसका उल्लंघन न करना यथोक्त मान कहलाता है।

जैसे सिक्थ ग्रास चन्द्रायण आदि व्रत जिस विधि से वा जिस मान से बतलाया है, उसी रूप से करना।

३. अपने-अपने अपराध के अनुसार नौ बार, छत्तीस बार पंच नमस्कार मंत्र जपना आदि जैसे आगम में बतलाया है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करना-कायोत्सर्ग विधि है।

४. बल, काल, क्षेत्र, आहार आदि साधनों के अनुसार अपनी स्वाभाविक शक्ति के अनुसार तपश्चरण करना।

५. आगम में जो उत्कृष्ट अनुक्रम बतलाया है, उसी के अनुसार करना, आचार्य परम्परा के अनुसार जो परिपाटी आई है, उसी के अनुसार तपश्चरण करना। यथा सबसे पहले मूलगुणों का पालन करना चाहिये, तदनन्तर उत्तरगुणों का अनुष्ठान करना चाहिये।

[ ध्यानसूत्र श्राविकाश्रम, सोलापुर से प्रकाशित पृ. ३२-३३ ]

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणरूप भेदों से चार प्रकार का जो निश्चय आचार है; उसकी रक्षा के लिये जो अपनी शक्ति या ताकत नहीं छिपाता है वह निश्चयवीर्याचार है। [ बृ. द्र. सं. टी. पृ० १७२ ]

इस प्रकार पञ्च वीर्याचार के पालक तथा अन्य भी निश्चय-व्यवहार पञ्चाचार के पालने में कुशल तथा पाँच आचारों का उपदेश देने वाले धर्माचार्य, आचार्य परमेष्ठी त्रिकाल वन्दनीय हैं तथा उन्हीं के समान निश्चय-व्यवहार वीर्याचार व पञ्चाचार के पालक, हे मेरे चेतनात्मा! तुम भी वन्दनीय हो। मैं तुम्हारी वंदना करता हूँ तुम आचार्य परमेष्ठी स्वरूप हो, तुम तद्रूप होकर मेरे मन मन्दिर में सदा निवास करो।

निजशक्ति को नहीं छिपाकर, व्रत धारण तू कर ले रे,<br>
व्रत संयम अरु तप को चर्या, से निज आतम भज ले रे।<br>
निज शक्ति को जो तू छिपाये, शक्ति फिर किस काम की,<br>
जैनी होकर जिन ना जाने, वह भक्ति किस काम की ॥१७॥

**सूत्र—त्रयोदशविधचारित्राचारस्वरूपोऽहम् ॥१८॥**

सूत्रार्थ—तेरह प्रकार चारित्राचार स्वरूपोऽहम्—अर्थात् जिस प्रकार आचार्य परमेष्ठी निश्चय व्यवहार तेरह प्रकार चारित्र का पालन करते हुए चारित्रस्वरूप हैं उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी व्यवहार-निश्चय तेरह प्रकार चारित्र का पालन करता हुआ चारित्राचार स्वरूप है।

**विशेषार्थ—**

तेरह प्रकार का चारित्र—पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति।

**अहिंसा महाव्रत—**

षट्काय जीव न हनन तें सब विधि दरव हिंसा टरी।
रागादि भाव निवारते, हिंसा न भावित अवतरी॥

—छहढाला ६-१

कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान आदि मे जीवों को जानकर उसके आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम वह प्रथम—अहिंसा महाव्रत (व्यवहार से है। [नि. सा. ५६]

रागादि भाव का अभाव निश्चय अहिंसा महाव्रत है क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य प्राणो की रक्षा करता है।

**सत्य महाव्रत**—राग से अथवा द्वेष से, अथवा मोह से होने वाले असत्य भाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है उसी के सदा द्वितीय सत्य महाव्रत है।

**अस्तेय महाव्रत**—ग्राम में, नगर में, अथवा वन में जो साधु परधन को देखकर उसके ग्रहण करने के भाव का त्याग कर देता है, उसी के तृतीय अचौर्य महाव्रत होता है।

**ब्रह्मचर्य महाव्रत**—स्त्रियों के रूप को देखकर उनमें वाञ्छा भाव को नही करना अथवा मैथुनी संज्ञा से रहित जो परिणाम हैं वह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

**अपरिग्रह महाव्रत**—किसी प्रकार की अपेक्षा से रहित, निरपेक्ष भावना पूर्वक सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करना वह चारित्र के भार को वहन करने वाले साधु का अपरिग्रह नामक पाँचवाँ महाव्रत है।

**प्रश्न**—समिति किसे कहते हैं?

**उत्तर**—सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करने का नाम समिति है [रा. वा.]

निश्चयनय की अपेक्षा अनन्त ज्ञानादि स्वभाव धारक निज आत्मा है, उसमें "सम" भले प्रकार अर्थात् समस्त रागादि भावों के त्याग द्वारा लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदि रूप से जो अयन (गमन) अर्थात् परिणमन सो समिति है। समिति ५ हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापना समिति।

**ईर्या समिति**—जो श्रमण/परमसंयमी साधु गुरुओं की वन्दना, तीर्थों की यात्रा आदि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य लेकर चार हाथ प्रमाण मार्ग को देखते हुए स्थावर और त्रस जीवों की रक्षा करने के लिये दिन में ही गमन करते हैं, उन परम श्रमण के निश्चित ही ईर्यासमिति होती है। ( यह व्यवहार समिति हुई )

अभेद अनुपचार ऐसे रत्नत्रय स्वरूप मार्ग से परमधर्मी अपने आत्मा को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करना अथवा आत्मस्वरूप में परिणत होना ही निश्चय ईर्या समिति है।

**भाषा समिति**—पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा और अपनी प्रशंसा-रूप वचन को छोड़ करके, स्व और पर के हितरूप वचन को बोलने वाले साधु के भाषा समिति होती है। छहढालाकार लिखते हैं—

जग सुहितकर सब अहित हर श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम रोग हर जिनके वचन मुख चन्द्रतैं अमृत झरैं॥

—छहढाला ६-२

अपनी आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के अनुष्ठान में संलग्न हुए साधु जब अन्तर्जल्प-मन के विकल्प जाल को भी छोड़ देते हैं तो उनके बहिर्जल्प-बाहर में लोगों से बोलना, चालना आदि पहले से ही छूट चुका है। यह श्रमण की निश्चय भाषा समिति है।

**एषणा समिति**—जो कृत-कारित और अनुमोदना से रहित तथा प्रासुक और प्रशस्त आगमानुकूल पर के द्वारा दिया गया भोजन है, उसको सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना एषणा समिति है। यह व्यवहार एषणा समिति का क्रम है। निश्चयनय से जीव के वास्तव में अशन ही नहीं है, क्योंकि छह प्रकार का भोजन व्यवहारनय से संसारी जीवों को ही होता है।

**आदान-निक्षेपण समिति**—संयम के उपकरण पिच्छी-कमण्डलु आदि के ग्रहण करने और रखने में जो प्रयत्नरूप परिणाम है, वह आदान-निक्षेपण समिति है। तथा उपकरणों के ग्रहण करने और रखने के समय उत्पन्न हुए प्रयत्न से परिणाम की विशुद्धि निश्चय आदान-निक्षेपण समिति है।

**प्रतिष्ठापना समिति**—पर के रोक-टोक से रहित, गूढ़-मर्यादित-एकान्त, जीवजन्तु रहित प्रासुक स्थान में जो मल-मूत्र आदि शरीर के मल का त्याग करते हैं, उनके प्रतिष्ठापना समिति होती है।

शुद्ध निश्चयनय से जीव के शरीर का अभाव होने से भोजन को ग्रहण करने की परिणति नहीं है, किन्तु व्यवहारनय से देह है अतः उस जीव के ही शरीर के होने पर निश्चितरूप से आहार ग्रहण होता है, आहार के ग्रहण करने से मल-मूत्रादि होते ही हैं। इसीलिये संयमियों के मल-मूत्र विसर्जन के स्थान को निर्जन्तुक और अन्य जनों के रोक-टोक से सहित कहा है। शरीर धर्म क्रिया के पश्चात् संयमी जन निराकुल चित्त होकर जो अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं अथवा शरीर की अपवित्रता का पुनः-पुनः विचार करते हैं, वह उनकी निश्चय प्रतिष्ठापना समिति है।

हे पथिक ! जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में तत्पर यतियों के लिये ये समितियाँ मुक्ति साम्राज्य का मूल हैं। समिति के पालक मुनिराज शीघ्र ही उत्तम फल को प्राप्त कर लेते हैं। जो कि मन और वाणी के अगोचर केवल सौख्य सुधामय कोई अद्भुत है, अर्थात् शीघ्र अविनश्वर फल को प्राप्त कर लेते हैं।

**प्रश्न**—गुप्ति किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जिसके बल से संसार के कारणों से आत्मा का गोपन होता है अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है। [ स. सि. ]

अथवा

निश्चय से स्वरूप में गुप्त या परिणत होना ही त्रिगुप्तिगुप्त होना है।

[ प्र. सा./ता वृ./२४० ]

व्यवहार अपेक्षा मन-वचन-काय को सावद्य क्रियाओं से रोकना गुप्ति है।

**मन गुप्ति**—कलुषता-क्रोध मान-माया-लोभ से क्षुभित परिणाम, मोह-दर्शनमोह और चारित्रमोह, संज्ञा, राग-द्वेष आदि अशुभ भावों परिहार को व्यवहार मनोगुप्ति कहते हैं।

सम्पूर्ण मोह, राग और द्वेष का अभाव हो जाने से अखण्ड अद्वैत परम चैतन्य स्वरूप में सम्यक् प्रकार से अवस्थित होना ही निश्चय मनोगुप्ति है।

**वचन गुप्ति**—पाप के कारणभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा इत्यादि रूप वचनों का त्याग करना अथवा असत्य आदि के अभाव रूप वचन बोलना व्यवहार वचन गुप्ति है।

सम्पूर्ण असत्य भाषा का त्याग होना, अथवा मौनव्रत होना सो वचन गुप्ति है। क्योंकि मूर्तिकद्रव्य में चेतना का अभाव होने से और अमूर्तिक द्रव्य इन्द्रिय ज्ञान के अगोचर होने से, इन दोनों जगह वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यह निश्चय वचन गुप्ति है।

**काय गुप्ति**—बंधन-छेदन, मारण, संकोचन उसी प्रकार फैलाना आदि काय क्रियाओं का न होना वह व्यवहार काय गुप्ति है।

सभी जनों के काय में बहुत सी क्रियाएँ होती हैं उन काय सम्बन्धी क्रियाओं का अभाव होना कायोत्सर्ग है, वही कायगुप्ति होती है। अथवा पाँच स्थावर और एक त्रस ऐसे षट्कायिक जीवों की हिंसा का न करना भी कायगुप्ति है। जो परम संयमधारी परम जिनयोगीश्वर महामुनि अपने चैतन्यमय शरीर में अपने चैतन्यमय शरीर से प्रवेश कर चुके हैं, उनकी परिस्पन्दन रहित निश्चल मूर्ति ही निश्चयकाय गुप्ति है।

दर्शन रु ज्ञान जग में सब (पथिक) पावे। चारित्र श्रेष्ठ बिन तू जग में भ्रमावे ॥
चारित्र तेरह की महिमा सुन ले प्यारे। तर जाय सिन्धु भव से मुक्ती सु पावे ॥

**सूत्र—क्षायिकज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥१९॥**

**सूत्रार्थ**—मैं क्षायिकज्ञानस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

ज्ञानावरण के निर्मूल क्षय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान क्षायिकज्ञान कहलाता है। अरहंत-सिद्ध भगवान् क्षायिकज्ञान मय हैं।

सत्य समक्ष यथार्थ अवभास-सच्चा अवबोध होना, यह सम्यग्ज्ञान है जो कि कुछ अंशों में ज्ञानचेतना प्रधान आत्मतत्त्व की उपलब्धि (अनुभूति का) बीज है। [पं. का. १०७]

जो भव्यात्मा कालादिलब्धि को प्राप्त कर दर्शनमोहनीय की तीन व अनन्तानुबंधी की चार ऐसे सप्त प्रकृतियों का उपशम-क्षयोपशम-क्षय कर विशुद्ध दर्शन से सहित होकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। पीछे गृहस्थावस्था का त्याग कर मुनि अवस्था अंगीकार कर अविचलित, अखंड, अद्वैत, परमचैतन्यस्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चयस्वभाव रत्नत्रय से सहित हुआ संपूर्ण परिग्रह के परित्यागलक्षण निरंजन निज परमात्मतत्त्व भावना से चारित्रमोह की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय करने के लिये उद्यम कर, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो सर्वप्रथम १०वें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का समूल क्षय कर, बारहवें गुणस्थान में क्षीणमोह अवस्था प्राप्त कर चरम समय में ज्ञाना-

वरण कर्म जड़ मूल से उच्छेद करता है। वह तेरहवें गुणस्थान में पहुँच क्षायिक ज्ञान/केवलज्ञानमय हो जाता है।

हे आत्मन् ! यह केवलज्ञान मेरा स्वरूप है। मैं उसी अखंड, अद्वैत, अविचलित, त्रिकाल-त्रिलोकदर्शी शुद्ध चिदानन्दघन केवल स्वरूप हूँ। "मात्र आवरण दूर करना है"। मैं दर्शन की विशुद्धि करता हुआ, क्रमशः चारित्र को अंगीकार करता हुआ, मोह का क्षय करता हूँ। तपाग्नि-ध्यानाग्नि मे ज्ञानावरण कर्म को भस्मीभूत कर क्षायिकज्ञान को प्राप्त करता हूँ। बस यही मेरा लक्ष्य है, यही मेरा स्वरूप है। यही क्षायिकज्ञान मेरा शुद्ध आत्म-तत्व है। हे मेरे क्षायिक ज्ञान ! मुझ में निवास करो। मैं वही हूँ, जो तुम हो, तुम वही हो, जो मैं हूँ। मुमुक्षु की निर्मल भावना—

मात-पिता मुझे अनुमति दे दो, भेष दिगम्बर पाना है,
मोह की मदिरा त्याग के बन्धु ! शुद्ध परमपद ध्याना है।
त्याग सभी परभावों को अब, रत्नत्रय पद ध्याऊँगा,
क्षायिक ज्ञान की लब्धि पाकर, अर्हत-सिद्ध बन जाऊँगा ॥१९॥

**सूत्र—क्षायिकदर्शनस्वरूपोऽहम्॥२०॥**

**सूत्रार्थ**—मैं क्षायिक दर्शन स्वरूप हूँ। अरहन्त-सिद्ध भगवान् क्षायिक दर्शन सहित हैं वैसे ही मेरा शुद्धात्मा भी क्षायिक दर्शन स्वरूप है।

**विशेषार्थ—**

हे आत्मन् ! दर्शनावरण कर्म के समूल क्षय होने पर यह संसारी आत्मा क्षायिक दर्शन को प्राप्त करता है। क्षायिक ज्ञान के साथ-साथ होने वाला दर्शन, क्षायिक दर्शन है।

क्षायिक ज्ञान के साथ ही दर्शन, भी क्षायिक हो जाता है,
निद्रा आदि दोष रहित मम, आत्म शुद्ध हो जाता है।
उसी लक्ष्य में कदम बढ़ाता, मैं मुक्ति का राही हूँ,
वीतराग-सर्वज्ञ-हितैषी-शुद्ध मोक्ष पथगामी हूँ ॥२०॥

**सूत्र—क्षायिकचारित्रस्वरूपोऽहम् ॥२१॥**

**सूत्रार्थ**—मैं क्षायिक चारित्र स्वरूप हूँ।

**प्रश्न**—चारित्र किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण समस्त मार्गों से छूटकर जो स्वतत्व मे विशेष रूप से आरूढ़ मार्ग वाले हुए हैं,

उन्हीं इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों के प्रति राग-द्वेषपूर्वक विकार के अभाव के कारण जो निर्विकार ज्ञान स्वभाव वाला समभाव होता है, वह चारित्र है—जो कि उस काल में और आगामी काल में रमणीय है और अपुनर्भव के मोक्ष के महासौख्य का एक बीज है।

[ पं. का. १०७/२७४-७५ सं. ता. ]

अथवा

जो प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है, वह आत्मा वास्तव में चारित्र है [स. सा. ३८६]

प्रश्न—क्षायिकचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय और हास्यादि नव नो कषाय, इस प्रकार २५ तो चारित्रमोह की और मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीय की—ऐसे मोहनीय की कुल अट्ठाईस प्रकृतियों के निरवशेष विनाश से क्षायिकचारित्र होता है।

क्षायिकचारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में होती है। क्योंकि चौरासी लाख उत्तर-गुण और अठारह हजार शीलों की पूर्णता यहीं होती है। सम्यग्दर्शन की पूर्णता चौथे गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा हो जाती है तथा सम्यक्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में हो जाती है फिर भी मुक्ति नहीं होती। क्योंकि जैनाचार्यों ने रत्नत्रय की पूर्णता को मोक्ष कहा है। चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के चरम समय में होती है। अतः चौदह गुणस्थान में रत्नत्रय की पूर्णता होते ही जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

चौदहवें गुणस्थान में शीलों की पूर्णता होते ही जीव के सर्व आस्रवों का पूर्णतः निरोध हो जाता है और वह कर्मरज से रहित होता हुआ मुक्त होता है।

हे मुमुक्षु ! सब जानने का तात्पर्य यही है कि सर्वप्रथम चारित्र अंगीकार करो। चारित्र के आश्रय बिना मुक्ति नहीं होती। जैनाचार्यों ने द्वादशांग सूत्रों में सबसे पहले आचारांग का कथन किया—कैसे चलना, कैसे बैठना, कैसे सोना, कैसे भोजन करना जिससे कि पापबन्ध न हो।

मात्र श्रद्धा से कल्याण नहीं, मात्र ज्ञान से भी कल्याण नहीं, कल्याण तभी होगा जब श्रद्धा और ज्ञान के अनुरूप आचरण होगा। एक महिला को पूर्ण ज्ञान है कि किस सब्जी-मिठाई आदि भोजन को कैसे बनाया जाता

है। वह भोजन बनाकर बढ़िया तरीके से थाली परोसकर सामने रखती है और बस इतना ही कहती जाती है—यह सब्जी बहुत अच्छी बनाई है, यह मिठाई बहुत अच्छी है, इस तरीके से बनाई है आदि, तो क्या मात्र कहने या बनाने से या जानने से उसकी भूख मिट सकती है, नहीं, उस महिला को भूख मिटाने के लिये भोजन को मुँह में रखकर उसका स्वाद लेना होगा, खाना होगा तभी भूख मिटेगी। इसी प्रकार रोगी को वैद्य पर भी श्रद्धा है, दवाई पर भी श्रद्धा है पर स्वयं दवाई को सेवन न करे तो निरोगी नहीं हो सकता। अतः हे आत्मन्! अनादिकाल से संसार चक्र में भटके जीव को निजात्मा की श्रद्धा-ज्ञान और तद् अनुरूप आचरण तीनों होने पर ही मुक्ति मिल सकेगी। रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है। उस रत्नत्रय की पूर्णता के लिये प्रथम व्यवहार रत्नत्रय की निर्दोष आराधना करो जो निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये महल पर चढ़ने को सीढ़ी के समान परम उपकारी है।

अंधे को नहीं आँख है जग मे, गूँगे को नहीं जीभ,
पंगू को नहीं पैर दिखत हैं, जीवन हो गया भीत।
श्रद्धा मात्र से रोग मिटा नही, नहीं ज्ञान से भूख,
चारित बिन सब जीवन सूना, रह गया भूत का भूत[1] ॥२२॥

**सूत्र—क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपोऽहम् ॥२२॥**

**सूत्रार्थ**—मैं क्षायिक सम्यक्त्व स्वरूप हूँ। जैसे अरहंत सिद्ध परमात्मा का शुद्ध आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व सहित शोभायमान है वैसे ही मेरा परमशुद्धात्मा क्षायिक सम्यक्त्व से युक्त है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप बताइये ?

**उत्तर**—दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। वह सम्यक्त्व नित्य है और कर्मों के क्षय का कारण है। श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचनों से, तर्कों से, पदार्थों से भी चलायमान नहीं होता। त्रैलोक्य के द्वारा भी चल-विचल नहीं होता। क्षायिक सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर जीव के ऐसी विशाल, गम्भीर एवं दृढ़ बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह कुछ ( असंभव या अनहोनी घटनाएँ ) देखकर भी विस्मय या क्षोभ को प्राप्त नहीं होता।

[ गो. सा. जी./६४६-६४७ ]

---

१. चारित्रहीन जीव ही भूत की तरह भ्रमण करता है

मिथ्यादर्शन के अभाव स्वभाव वाला जो भावान्तर ( अन्य भाव ) श्रद्धान ( अर्थात् नव पदार्थों का श्रद्धान ), वह सम्यग्दर्शन है—जो कि ( सम्यग्दर्शन ) शुद्ध चैतन्यरूप आत्मतत्त्व के विनिश्चय का बीज है।

प्रश्न—क्षायिक सम्यक्त्व का प्रतिष्ठापक कौन होता है ?

उत्तर—नियम से कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ और मनुष्य गति में वर्तमान जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा करने वाला ( प्रतिष्ठापक ) होता है।

प्रश्न—क्या वर्तमान में कोई क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव हैं ?

उत्तर—नहीं, वर्तमान में कोई भी क्षायिक सम्यक्दृष्टि जीव इस भरतक्षेत्र में नहीं हैं। क्योंकि जैसा कि आगम मे कथन है—दर्शनमोहनीय कर्म का क्षपण करने के लिये आरम्भ करता हुआ यह जीव अढ़ाईद्वीप समुद्रो में जहाँ जिस काल में जिनकेवली और तीर्थंकर होते हैं उस काल मे आरम्भ करता है। अर्थात् जिस काल में केवलज्ञान होता है या तीर्थंकर का पादमूल होता है या चतुर्दश पूर्वधर होते हैं, इन तीनों के पादमूल में कर्मभूमिज मनुष्य दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भक होता है।
[ ध. खं. ६/१, ८-९/सूत्र ११/२४३ ]

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्दर्शन में निश्चय से पहले औपशमिक भाव होता है, फिर क्षायोपशमिक भाव होता है और तत्पश्चात् क्षायिकभाव होता है।

हे आत्मन् ! यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से मेरा आत्मा शुद्ध है क्षायिक सम्यक्त्व सहित है फिर भी कर्मावरण से ढका संसार मे परिभ्रमण कर रहा हूँ। मैं निज शुद्धात्मा का पूर्ण निर्मल श्रद्धान करता हुआ निश्चय से यही भावना भाता हूँ कि कब तक वह पुण्यावसर मुझे प्राप्त हो जब केवली-श्रुतकेवली-तीर्थंकर का पादमूल मिले तथा उत्तम कुल, उत्तम संहनन व जिनमार्ग में उत्तम बुद्धि प्राप्त हो, कर्मों के क्षय की लगन हो, निज वैभव के चिन्तन मे मगन हो। मैं परम अहितकर दर्शनमोहनीय आदि सात प्रकृतियों का क्षय कर निजस्वभाव जो मुझ में ही गुप्त है क्षायिक-सम्यक्त्व को व्यक्त करूँ। मेरी निर्मल भावना—

जिन चरणों का पादमूल हो, कर्मभूमि का क्षेत्र भला,
धर्मबुद्धि मेरी निश्चय हो, कर्मक्षय की एक कला।
शुद्ध-बुद्ध परमात्मदशा की, निर्मल श्रद्धा इक अचला,
सप्त प्रकृति क्षय करके मैं, पाऊँ क्षायिक सम्यक्त्व भला ।।२२।।

**सूत्र—क्षायिकपञ्चलब्धिस्वरूपोऽहम् ॥२३॥**

**सूत्रार्थ**—मैं क्षायिक पञ्चलब्धि स्वरूप हूँ। जिस प्रकार समवशरण-स्थित अरहंत देव क्षायिक दान-क्षायिक लाभ-क्षायिक भोग-क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य इन पाँचों क्षायिक लब्धियों से शोभायमान हैं। उसी प्रकार मेरा शुद्धात्मा भी क्षायिक पञ्चलब्धियों से शोभायमान है, क्योंकि मैं वही हूँ, जो अरहंत देव हैं।

**विशेषार्थ**—

मैं मुक्ति पथिक! संसारावस्था में डूबा अपनी निधियों को भूल गया था। सहसा, किसी पुण्योदय से अरहन्त प्रभु के समवशरण में बारह सभा के मध्य मनुष्य के कोठे मे बैठा। अरहन्त भगवान् की अवर्णनीय विभूति और वीतराग प्रशान्त मुद्रा के दर्शन करते ही आनन्दाश्रु से छल-छलाते नेत्रों से नतमस्तक हो त्रिबार नमोस्तु किया।

दिव्यध्वनि का अमृतपान कर्णों द्वारा करने लगा—वे मुझे चेतावनी दे सचेत कर रहे हैं—हे भव्यात्मन्! जो मैं हूँ वही तुम हो, जो मेरे पास पञ्चलब्धियाँ हैं वे तुम्हारे अन्दर भी छिपी हैं जागो, अन्दर झाँको। भेद-विज्ञान ज्योति से निजमन्दिर में झाँको।

फिर क्या था! मैं पथिक निज वैभव को देखने सूने एकान्त जंगल की ओर चल दिया। "जैसे किसी भिखारी के हाथ कोई रत्न लग जावे तब वह किसी को नहीं दिखाता हुआ एकान्त में उसे बार-बार देख हर्षित होता है"। वैसे ही मेरी दशा थी। अनादिकाल का भिखारी मैं एकान्त में निजमंदिर में झाँकने लगा। बस—खजाना ही खजाना नजर आया। बस! उसे ही देखता रहा, देखता रहा, देखता रहा। मैं कौन—मैं क्षायिक दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य का स्वामी त्रिभुवनपति हूँ। फिर भिखारी क्यों? नहीं, नहीं, अब मैं भिखारी नहीं, त्रिभुवन का स्वामी हूँ। मैं अरहंत हूँ, सिद्ध हूँ, आचार्य हूँ, उपाध्याय हूँ, साधु हूँ।

समवशरण में उपदेश मैं देता, क्षायिक दान का स्वामी बन,
क्षायिक लाभ से कोटि पूर्व तक, रह जाता मैं भोजन बिन।
पुष्पवृष्टि अरु सिंहासन के, भोगोपभोग से सदा सुखी,
क्षायिक वीर्य की अनन्तशक्ति से, कर्मबली को करूँ दुखी ॥२३॥

सूत्र—परमशुद्धचिद्रूपस्वरूपोऽहम् ॥२४॥

सूत्रार्थ—मैं शुद्ध निश्चयनयापेक्षा शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं वचन भी नहीं हूँ। मैं इन मन-वचन-काय का कारण नहीं हूँ। इनको करने वाला भी नहीं, न कराने वाला हूँ और न करने वालों को अनुमोदना करता हूँ। मन-वचन-काय के व्यापार से रहित, परमात्म-द्रव्य से भिन्न जो मन-वचन काय तीन हैं, मैं निश्चय से इन रूप नहीं हूँ। मैं विकार रहित परम आनन्दमयी एक लक्षणरूप सुखामृत में परिणति होना उसका जो उपादानकारण आत्मद्रव्य उस रूप मैं हूँ। आत्म द्रव्य में विलक्षण मन-वचन-काय का उपादान कारण पुद्गल पिण्ड है, मैं नहीं हूँ। मैं परद्रव्य से भिन्न, उनके कर्तृत्व से भिन्न परमशुद्धचिद्रूपस्वरूप हूँ।

हे आत्मन्! उस परमशुद्ध चैतन्यस्वरूप निजात्मा की साक्षात् व्यक्ति हेतु मैं परद्रव्य मन-वचन-काय में स्वात्म-बुद्धि तथा इनमें कर्तृत्व बुद्धि का त्याग करता हूँ। परमशुद्धचिद्रूप की भावना में लीन हुआ निजात्मा को तद्रूप करता हूँ।

रत्नत्रय के आराधक परमसाधुगण बाह्य-आभ्यन्तर सर्व परिग्रहों से विरक्त हो जो पूर्ण अकिञ्चन हो जाते हैं, उन्हीं को परमशुद्धचिद्रूप का साक्षात्कार होता है अन्य परिग्रहधारियों को स्वप्न में भी यह लाभ नहीं मिल सकता। मैं उसी रत्नत्रय की आराधना करता हूँ, उसी का आश्रय करता हूँ तथा उसी में तल्लीनता प्राप्त हुआ परमदशा को प्राप्त करने का परमपुरुषार्थ करता हूँ।

परमशुद्धचिद्रूप है मेरा, जिसमें नहीं किसी का डेरा,<br>
पगला बन क्यों फिरता फेरा, छोड़ सभी अब लोक बखेड़ा।<br>
मिथ्यात्रय का त्याग दे नेरा, रत्नत्रय का ओढ़ ले चोला,<br>
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध घनेरा, मुक्तिपुरी का द्वारा खोला ॥२४॥

सूत्र—विशुद्धचैतन्यस्वरूपोऽहम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—मैं शुद्ध निश्चयनय अपेक्षा विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ।

हे मुमुक्षु! अरहन्त परमात्मा के ही समान मेरा चेतन भी परमविशुद्ध है। परन्तु प्रमाद और कषाय के मल से मलीन हो रहा है। अतः प्रमाद युक्त आलस्य भाव कैसे शुद्ध भाव हो सकता है? कभी नहीं। आत्मीकरस से भरे स्वभाव में निश्चल निर्ग्रन्थ मुनि ही परम विशुद्ध चैतन्य भाव का साक्षात्कार कर, थोड़े ही समय में कर्मबन्ध से छूट जाते हैं।

**विशेषार्थ—**

गृहस्थावस्था प्रमाद अवस्था है। कषाय अवस्था है। प्रमादी के शुद्ध भाव नहीं होते हैं, जो मुनि उद्यम करके स्वभाव में वर्तन करता है वही परमविशुद्ध होता है।

हे पथिक! मुक्त होना चाहता है या विशुद्ध होना चाहता है तो बन्ध के कारणों को त्याग दे। अशुद्धता के करने वाले सब परद्रव्यों को छोड़कर तू अपने स्वद्रव्य में लीन हो जा। अपराधों के अभाव होते ही बन्ध के नाश को प्राप्त होने से नित्य उदयरूप अपने स्वरूप के प्रकाशरूप ज्योति से निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृतप्रवाह ऐसा शुद्ध हुआ तू कर्मों से छूट जायेगा। परमविशुद्ध चैतन्य अवस्था प्राप्त करेगा।

मात्र रटने या चर्चा करने से कार्य सिद्ध नहीं होगा—श्री अमृतचन्द्राचार्य बार-बार सम्बोधन दे रहे हैं—हे भव्यात्मन्! पहले सब परद्रव्यों का त्याग कर फिर आत्मस्वरूप मे लीन होता है, वह सब रागादिक अपराधों से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को पाकर, शुद्ध होकर कर्मों का क्षय कर मोक्ष को पाता है। यही परम विशुद्ध चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति का क्रम है।

[अ. क. १९१]

सर्व परिग्रह को तजूँ, जो हैं दुख भंडार।
विशुद्ध चेतन रूप मैं, अविनाशी अविकार ॥२५॥

**सूत्र—शुद्धचित्कायस्वरूपोऽहम् ॥२६॥**

**सूत्रार्थ**—निश्चय से शुद्ध चेतना ही मेरा शरीर है।

**विशेषार्थ—**

जैसे सिद्ध भगवान् औदारिक-वैक्रियक-आहारक-तैजस-कार्मण शरीर से रहित शुद्ध ज्ञान और चेतन शरीर से सहित है वैसे ही मेरा शुद्धात्मा भी पुद्गल पिण्ड रूप शरीर से रहित चित् रूप मात्र है।

ज्ञान ही मेरा शरीर है, चेतना ही मेरा शरीर है, चेतना ही मेरा मन है, चेतना ही मेरा वचन है, मैं चेतना से भिन्न अन्य कुछ नहीं हूँ।

चेतन मेरा नाम है, चेतन मेरा काम,
चेतन मेरा काय है, चेतन मेरा धाम।
शुद्ध चेतन काय से, चेतन में रम जाऊँ,
पुद्गल फिर से नाता तज के, चेतन में जम जाऊँ ॥२६॥

**सूत्र—निजजीवतत्त्वस्वरूपोऽहम् ॥२७॥**

सूत्रार्थ—मैं निज जीव तत्त्व स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

अर्थात् जैसे सिद्ध परमात्मा परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभाव से भिन्न तथा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल से अभिन्न मात्र निज जीव तत्त्व स्वरूप हैं। वैसे ही मैं भी परद्रव्य-परक्षेत्र-काल व परभाव से भिन्न व अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अभिन्न मात्र निज जीव तत्त्व स्वरूप हूँ।

**प्रश्न**—तत्त्व किसे कहते हैं? वे कितने हैं?

**उत्तर**—"तस्य भाव तत्त्वं" वस्तु का जो भाव है, वही तत्त्व है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व हैं। उनमें मैं जीव तत्त्व हूँ।

**प्रश्न**—जीव तत्त्व किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जो उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, निज शरीर के बराबर भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

—बृहद् द्रव्यसंग्रह

**जीवो**—यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से आदि, मध्य और अन्त से रहित, निज तथा पर का प्रकाशक उपाधिरहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान) रूप प्राण है, उससे जीता है तथापि अशुद्ध निश्चयनय से अनादि कर्मबन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्यप्राण व भावप्राण हैं, उनसे जीता है इसलिये जीव है।

**उवओगमओ**—यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से परिपूर्ण तथा निर्मल ऐसे जो ज्ञान और दर्शनरूप दो उपयोग हैं, उन स्वरूप जीव है, तथापि अशुद्ध-नय से क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से रचा हुआ है, इस कारण ज्ञान-दर्शन-उपयोगमय है।

**अमुत्ति**—यद्यपि जीव व्यवहारनय से मूर्तकर्मों के आधीन होने से स्पर्श-रस-गंध-वर्ण वाली मूर्ति से सहित होने के कारण मूर्त है तथापि निश्चयनय से अमूर्त, इन्द्रियों के अगोचर, शुद्ध और बुद्धरूप का धारक होने से शुद्ध और बुद्ध रूप स्वभाव का धारक होने से अमूर्त है।

**कत्ता**—यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से क्रिया रहित टंकोत्कीर्ण ( निरुपाधि ) ज्ञायक एक स्वभाव धारक है, तथापि व्यवहारनय से मन, वचन तथा काय को उत्पन्न करने वाले कर्मों से सहित होने के कारण शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला है, इसलिये कर्त्ता है।

**सदेहपरिमाणो**—यद्यपि जीव निश्चय से स्वभाव से उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशों का धारक है, तथापि शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न संकोच विस्तार के अधीन होने से घट आदि भाजनों में स्थित दीपक की तरह निजदेह के परिमाण है।

**भोत्ता**—यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से रागादि विकल्परूप उपाधियों से शून्य है, और अपनी आत्मा से उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत है, उसका भोगनेवाला है, तथापि अशुद्धनय से उस प्रकार के सुखरूप अमृत भोजन के अभाव से शुभकर्म से उत्पन्न सुख और अशुभकर्म से उत्पन्न जो दुःख है, उनका भोगनेवाला होने के कारण भोक्ता है।

**संसारत्थो**—संसार में स्थित अर्थात् संसारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से संसाररहित है और नित्य आनन्दरूप एक स्वभाव का धारक है, तथापि अशुद्धनय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच प्रकार के संसार मे रहता है, इस कारण संसारस्थ है।

**सिद्धो**—यद्यपि यह जीव व्यवहारनय से निज आत्मा की प्राप्तिस्वरूप जो सिद्धत्व है, उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है तथापि निश्चयनय से अनन्तज्ञान और अनन्तगुण स्वभाव का धारक होने से सिद्ध है।

**उर्ध्वगमन**—

इन उपर्युक्त गुणों का धारक जीव "विस्ससोड्ढगई" स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है। यद्यपि व्यवहार से चार गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय के वश से ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है। निश्चय से केवलज्ञान अनंत गुणों की प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है, उसमें जाने के समय स्वभाव से उर्ध्वगमन करने वाला है।

हे आत्मन् ! इन सब उपर्युक्त लक्षणों में शुद्ध स्वभाव है, वही तू है। उसी शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करने का उद्यम कर। बाह्य सब परिग्रह का त्याग कर, अन्तरंग मलीनता को भी तज दे। जब तक अन्तरंग मलीनता रहेगी, बाह्य त्याग कार्यकारी नहीं होगा। भाव सहित व्रतों का आचरण कर, भाव सहित श्रावक व मुनि का लिङ्ग धारण कर। अकेला द्रव्यलिंग

तेरा उपकारी नहीं हो सकता। द्रव्यसहित भावलिंग मुक्ति का कारण है, उसी का आश्रय कर।

निज जीव तत्त्व में विराजित शुद्ध बुद्ध अनन्त हूँ।
अपने चिदानन्द ही गुणों से पुष्ट हूँ मैं अबद्ध हूँ॥
पथिक ! भटको नहीं जगत् में, रूप नहीं उपयोग हूँ।
परम शुद्ध अमूर्त आतम, सिद्ध शुद्ध विशुद्ध हूँ ॥२७॥

**सूत्र—शुद्धजीवपदार्थस्वरूपोऽहम् ॥२८॥**

सूत्रार्थ—मेरा जीवात्मा सिद्ध परमात्मा के समान मात्र शुद्ध जीव पदार्थ है।

**विशेषार्थ**— प्रश्न—पदार्थ कितने हैं ? मैं कौन पदार्थ हूँ ?

उत्तर—नव पदार्थ हैं—जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष तथा पुण्य और पाप। मैं जीव पदार्थ हूँ।

प्रश्न—जीव पदार्थ का स्वरूप बताइये ?

उत्तर—"ज्ञानदर्शनस्वभावो जीवपदार्थः"—देखना-जानना जिसका स्वभाव है वह जीव पदार्थ है।

जीव दो प्रकार के हैं—(१) संसारी अर्थात् अशुद्ध (२) सिद्ध अर्थात् शुद्ध। वे दोनों वास्तव में चेतन स्वभाव वाले हैं और चेतन परिणाम उपयोग द्वारा लक्षित होने योग्य हैं। इनमें संसारी जीव देह में रहते हैं और सिद्ध जीव देहरहित हैं।

संसारी जीवों में पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु और वनस्पति के भेद एकेन्द्रिय स्थावर पाँच प्रकार के हैं। (संसारी जीव स्थावर और त्रस दो भेद वाले हैं)

प्रश्न—जीव एकेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न किस कारण होते हैं ?

उत्तर—स्पर्शन इन्द्रिय आदि से रहित, अखंड एक ज्ञान का प्रकाशरूप आत्मस्वरूप है, उसकी भावना से रहित होकर तथा अल्प संसारी सुख के लिये स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में लंपटी होकर इस जीव ने जो स्पर्शेन्द्रिय मात्र को उत्पन्न करने वाला एकेन्द्रिय जाति नामकर्म बाँधा है उसी के उदय के काल में यह संसारी जीव एकेन्द्रिय ज्ञान मात्र क्षयोपशम को पाकर एकेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न होता है।

प्रश्न—जीव द्वीन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न क्यों होता है ?

उत्तर—शुद्ध निश्चयनय से यह जीव द्वीन्द्रिय के स्वरूप से पृथक् तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन से अभिन्न अर्थात् शुद्ध जीव पदार्थ है। ऐसे शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न आनन्दमयी एक अखण्ड सुख के रस का

आस्वाद है उसको न पाकर स्पर्शन-रसना इन्द्रिय के विषय सुख के आस्वादन में लम्पट/मगन जीव द्वीन्द्रिय जाति नामा नामकर्म को बन्ध करते हैं तथा उसके उदय काल में—संबूक, शंख, मातृवाह, सीप, लट, कृमि-गिडौला आदि द्वीन्द्रिय पर्यायों में उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार विशुद्ध ज्ञानस्वभावमयी आत्मानुभव से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्दमयी एक सुखामृत रस उसके आस्वाद से रहित होकर स्पर्शन-रसना-घ्राण इन्द्रिय में लम्पट जीव तीन इन्द्रिय जाति नामा नामकर्म का बन्ध करता है और उदयकाल में जूं, कुभी, खटमल, चींटो, बिच्छू आदि पर्याय में उत्पन्न होता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रिय की लम्पटता सहित जीव डांस-मच्छर-मक्खी-मधुमक्खी और भँवरा आदि चार इन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न होते हैं। तथा जो बहिरात्मा जीव दोषरहित परमात्मा के ध्यान से उत्पन्न निर्विकार चिदानन्दमयी सुख से विपरीत—स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु व कर्ण, पञ्चेन्द्रिय सुख में आसक्त हैं वे पञ्चेन्द्रिय जाति नामा नामकर्म का बन्ध कर लेते हैं। उदयकाल में कोई सैनी हो, तो शिक्षा-आलाप व उपदेश को ग्रहण करते हैं व असैनी हो तो मन रहित होते हैं। हेयोपादेय बुद्धि रहित होते हैं। इन पञ्चेन्द्रिय जीवों में नारकी, मनुष्य और देव तो सब सैनी ही होते हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च सैनी-असैनी दोनों होते हैं। एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक सभी तिर्यञ्च असैनी ही होते हैं।

देवों के चार समूह हैं—भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिषी और कल्पवासी। मनुष्यों के दो भेद हैं—एककर्मभूमिया—जो कर्म भूमि में पैदा होते हैं तथा दूसरे भोगभूमिया—जो भोगभूमि में पैदा होते हैं। तिर्यञ्च त्रस-स्थावर या एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय के भेद से अनेक प्रकार के हैं इनमें कोई जलचर हैं, कोई थलचर व कोई नभचर हैं। रत्न-शर्करा-बालुका-पंक-धूम-तम और महातम इन सात पृथिवियों की अपेक्षा नारकी सात भेद वाले हैं।

हे भव्यात्मन्! सबको जानने का भाव यही है कि जो सिद्ध गति की भावना रहित जीव हैं अथवा सिद्ध के समान अपना शुद्ध आत्मा है इस भावना से शून्य हैं वे जीव नरकादि चार गतियों में जन्म-मरण के दुःखों को सहते हैं।

हे मुमुक्षु! "कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिः लेश्याः" कषायों के उदय से रँगी हुई योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। यही शुभ-अशुभ गति नामा

नामकर्म व आयु कर्म के बँधने का बीज है, इसलिये सर्वप्रथम लेश्या को अभाव करने का उपाय करो। उपाय इस प्रकार है—"मैं क्रोध, मान, माया लोभ रूप चारों कषायों के उदय से भिन्न हूँ, तथा अनन्तदर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य इन चार अनन्त चतुष्टय से भिन्न नहीं हूँ। ऐसा मैं परमात्मस्वभावधारी हूँ" जब ऐसी शुभ आत्म भावना को भाया जाता है तब कषायों के उदय का नाश होता है। इस भावना के लिये ही शुभ या अशुभ मन-वचन-काय के व्यापारों का त्याग किया जाता है। इसी क्रम से तीनों योगों का अभाव हो जाता है तब कषायों के उदय से रँगी हुई योगों की प्रवृत्तिरूप लेश्या का भी अभाव हो जाता है। लेश्या के अभाव से गतिनाम कर्म तथा आयुकर्म का भी अभाव हो जाता है। तब अक्षय अनन्त सुखादि गुणों से पूर्ण मोक्ष गति का लाभ होता है।

क्रोध मान अरु मायाचार से दूर मेरा धाम है,
लेश्या प्रवृत्ति क्षीण करके, शुद्ध भजना काम है।
गति-आयु के बन्ध हीन मैं सिद्धगति को प्राप्त हूँ,
अपने में अपने को भजता, नन्त चतुष्टय प्राप्त हूँ ॥२८॥

**सूत्र—शुद्धजीवद्रव्यस्वरूपोऽहम् ॥२९॥**

**सूत्रार्थ**—मैं शुद्ध जीवद्रव्य स्वरूप हूँ। अर्थात् शुद्ध जीव द्रव्य का जो परम शुद्ध (सिद्धरूप) है वही स्वरूप वास्तव में मेरी शुद्ध आत्मा का है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—द्रव्य किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—दवियंदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥९॥

—पंचास्तिकाय

उन-उन सद्भावपर्यायों से जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं। जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

अर्थात् जो अपनी ही अवस्थाओंमें भूतकाल में परिणमन कर चुका है, वर्तमान काल में परिणमन करता है तथा भविष्य में परिणमन करेगा उसको द्रव्य कहते हैं।

( स्वभाव पर्याय की अपेक्षा द्रवीत (दवियदि) और विभाव पर्यायों की अपेक्षा गच्छदि/गच्छति कहा गया है। )

और भी द्रव्य का लक्षण कहते हैं—

दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

—पंचास्तिकाय

जो "सत्" लक्षणवाला है, जो उत्पादव्ययध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण पर्यायों के आश्रय आधार है उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।

"सत्" द्रव्य का लक्षण है—सत्ता से द्रव्य अभिन्न होने के कारण "सत्" स्वरूप ही द्रव्य लक्षण है।

**उत्पादव्ययध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है**—एक जाति का अविरोधक ऐसा जो क्रमभावी भावों का प्रवाह उसमे पूर्व भाव का विनाश सो व्यय है, उत्तर भावका प्रादुर्भाव सो उत्पाद है और पूर्व-उत्तर भावों के व्यय-उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग सो ध्रौव्य है। वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जो कि सामान्य आदेश (द्रव्य से) अभिन्न हैं विशेष आदेश से भिन्न हैं, युगपद् वर्तते हैं और स्वभावभूत हैं वे द्रव्य का लक्षण है।

**अथवा, गुणपर्यायें द्रव्य का लक्षण हैं**—अनेकान्तात्मक वस्तु के अन्वयी विशेष वे गुण हैं और व्यतिरेकी विशेष हैं वे पर्यायें हैं। वे गुण और पर्यायें जो द्रव्य में एक ही साथ तथा क्रमशः प्रवर्तते हैं, द्रव्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं तथा स्वभावभूत हैं वे द्रव्य का लक्षण हैं।

द्रव्य ६ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें मैं शुद्धजीवद्रव्य हूँ।

**प्रश्न**—जीवद्रव्य का लक्षण बताइये?

**उत्तर**—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र/कर्ण, मन, वचन, काय आयु और श्वासोच्छ्वास इन नामों वाले दस प्राणों में जो जीता है, जीवेगा और पूर्व में जीवित था वह जीव है अथवा जो निश्चय से भाव प्राणों को धारण करने से जीव है और व्यवहार से द्रव्यप्राणों को धारण करने से जीव है। वही जीवद्रव्य है।

यह जीवद्रव्य ज्ञान-दर्शन उपयोग वाला है—

जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणं ति ॥१०॥

—नियमसार

जीवद्रव्य उपयोगमय है। आत्मा के चैतन्य का अनुवर्तन करने वाला परिणाम उपयोग है। यह उपयोग धर्म है और जीव धर्मी है। उपयोग

ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानोपयोग भी स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। इनमें स्वभावज्ञान केवलज्ञान है, जो अमूर्तिक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनश्वर है और वह कार्य तथा कारण के भेद से दो प्रकार का होता है। सकल विमल केवलज्ञान कार्य स्वभाव ज्ञान है उसका कारण परमपारिणामिक भाव में स्थित त्रिकाल निरुपाधि रूप सहज ज्ञान है। केवल विभावरूपज्ञान तीन हैं—कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि।

जो केवलज्ञान है वह इन्द्रियों की सहायता से रहित असहाय है वह स्वभाव है। विभावज्ञान-मति-श्रुत-अवधि-सम्यक्ज्ञान व मति-श्रुत-विभंगावधि मिथ्याज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।

उसी प्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है—जो केवल, इन्द्रियों से रहित है वह केवलदर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों भी विभाव दर्शन हैं।

मैं केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग वाला शुद्ध जीवद्रव्य हूँ।

हे आत्मन् ! स्वशुद्ध जीवद्रव्य की प्राप्ति के लिये, ज्ञान के भेदों को जानकर, सर्वपरिग्रहों का त्याग कर, परभावों से रहित होते हुए ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होने का पुरुषार्थ करो।

हे आत्मन् ! सहज ज्ञान मेरा शरीर है, ज्ञान ही मेरी इन्द्रियाँ हैं, मेरे परमहंस चिदात्मन् तू मेरा अन्तःस्थल में सदा विराजमान रह। मैं नित्य सहज ज्ञान की भावना करता हूँ। मेरा सहज ज्ञान कैसा है ?

मेरा सहज ज्ञान सहज चैतन्य विलास रूप है, सहज परम वीतराग सुखामृत स्वरूप है, अप्रतिहत—विघ्नबाधा रहित निरावरण परम चैतन्य शक्ति रूप है, सदा अन्तर्मुख होने से अपने स्वरूप मे अविचल स्थिति रूप सहज परम चारित्र-रूप है तथा तीनों कालों में अविच्छिन्न रूप होने से सदा सन्निहित परम चैतन्य रूप हूँ। इस प्रकार मैं निज सहज ज्ञान की श्रद्धा करता हूँ, उसी की भावना करता हूँ तथा उसी की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करता हूँ।

हे भव्यात्मन् ! यह केवलज्ञानरूपी परमज्योति मोह-राग-द्वेष के निर्मूल विनाश होने से प्रकट होती है। मोह का क्षय कर बारहवें गुणस्थान को बिता तेरहवें गुणस्थानवर्ती स्नातक मुनि को ही इसका लाभ होता है, श्रावक या गृहस्थ को यह स्वप्न में भी प्रकट नहीं होती, अतः सर्व प्रपञ्च

से विश्राम ले, मुनिव्रत को निर्दोष पालन कर क्रमशः ध्यान अग्नि प्रज्वलित करते चलो, कर्मों की धूल/भस्म को उड़ाते चलो।

मैं कारण व कार्य दो प्रकार के दर्शनोपयोग सहित हूँ। कारण दर्शनोपयोग शुद्ध आत्मा के स्वरूप का श्रद्धानमात्र ही है।

शुद्ध आत्मा—सदा पावन रूप है, विभाव भावों के अगोचर है, सहज पारिणामिक भाव रूप है, निरावरण स्वभाव रूप है, अपने स्वभाव की सत्तामात्र, परम-चैतन्य का सामान्य स्वरूप, अकृत्रिम परम अपने स्वरूप में अविचल स्थिति से सहित शुद्ध चारित्र रूप, नित्य शुद्ध निरञ्जन ज्ञान रूप और अखिल दुष्ट पाप रूप वीर वैरी की सेना की ध्वजा को विध्वंस करने में कारण स्वरूप हूँ।

मैं ही घातिया कर्मों के क्षय होने पर कार्य दर्शनोपयोग हूँ। क्योंकि यह कार्य दर्शनोपयोग उन्ही जीवों के होता है जो क्षायिक हैं, सकल विमल केवलज्ञान के द्वारा तीनों भुवनों को जानने वाले हैं, अपनी आत्मा से उत्पन्न परम वीतराग सुखरूपी अमृत के समुद्र हैं, यथाख्यात नामक कार्यरूप शुद्ध चारित्र रूप हैं। इस प्रकार मैं कारण-कार्य दर्शनोपयोग सहित, केवल ज्ञानोपयोग सहित शुद्ध सिद्धसम निर्मल शुद्ध जीवद्रव्य हूँ।

शुद्ध दर्शन ज्ञान का जो पिण्ड मेरा आतमा,
प्राप्त तब ही हो मुझे जब घातिका हो खातमा।
राग-द्वेष अरु सब परिग्रह, को मैं तजता भाव से,
लब्धि केवल प्राप्त करके, आतम भजता चाव से ।।२९।।

## सूत्र—शुद्धजीवास्तिकायस्वरूपोऽहम् ।।३०।।

सूत्रार्थ—मैं शुद्ध जीव-अस्तिकाय स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

प्रश्न—अस्तिकाय किसे कहते हैं? वे कितने हैं तथा मैं कौन हूँ?

उत्तर—संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेशा तम्हा काया य अत्थिकाया य ।।२४।।

—द्रव्यसंग्रह

जो द्रव्य अस्ति अर्थात् विद्यमान हैं उनको जिनेश्वर देव अस्ति कहते हैं और जो काय के समान बहु प्रदेशों को धारण करते हैं उनको काय कहते हैं। अस्ति तथा काय दोनों मिलाने से "अस्तिकाय" होते हैं। अर्थात् अस्ति का अर्थ सत्ता है। काय का अर्थ बहुप्रदेशी है।

प्रश्न—सत्ता किसे कहते हैं ?

उत्तर—सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥

—पञ्चास्तिकाय

गाथार्थ—अस्ति रूप सत्ता सर्व पदार्थों मे रहने वाली है, नाना स्वरूप को रखने वाली है, अनन्त पर्यायों को धारने वाली है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है, एक है अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा एक है तथा अपने प्रतिपक्ष सहित है।

पाँच विशेषणों से युक्त सत्ता अपने प्रतिपक्ष भावों को रखने वाली है। वह इस तरह है कि—स्वचतुष्टय अपेक्षा जो सत्ता है उसी का प्रतिपक्ष या विरोध परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा असत्ता है। सर्व पदार्थों में रहने वाली महासत्ता की विरोधी एक पदार्थ में रहने वाली अवान्तर सत्ता है। वह महासत्ता मूर्तीक घट, सुवर्ण का घट, तामे का घट इत्यादि रूप से नाना रूप है, उसी का विरोध एक घट रूप अवान्तर सत्ता है। अथवा किसी एक घट में जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादिक अनेक तरह की सत्ता है उसका प्रतिपक्ष विशेष एक गन्धादि रूप सत्ता है। तीन काल की अपेक्षा अनन्त पर्याय रूप महासत्ता का प्रतिपक्ष विशेष एक उत्पाद की या एक व्यय की या एक ध्रौव्य की सत्ता है। एक महामसत्ता को अवान्तर सत्ता प्रतिपक्ष है। इस तरह शुद्ध संग्रह नय की अपेक्षा से एक महासत्ता है, अशुद्ध संग्रह नय की अपेक्षा से सर्व पदार्थों में रहने वाली नाना रूप अवान्तर सत्ता है। यहाँ शुद्ध जीवास्तिकाय की शुद्ध द्रव्य की सत्ता ही उपादेय या ग्रहण योग्य है। [पं. का. ज. आ. टीका पृ. ४१]

अस्तिकाय पाँच हैं—जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म और आकाश। ये सभी द्रव्य अनादिकाल से सत् हैं/विद्यमान हैं तथा काय के समान बहु प्रदेशी हैं।

"मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ"।

प्रश्न—जीवास्तिकाय का लक्षण बताइये ?

उत्तर—जीवो त्ति हवदि चेदा, उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

—पंचास्तिकाय

आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोगलक्षित है/उपयोग लक्षण वाला है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देहप्रमाण है, अमूर्त और कर्मसंयुक्त है। ( इस

गाथा में संसार दशा वाले आत्मा का सोपाधि और निरुपाधिस्वरूप कहा गया है )

१-आत्मा निश्चयनय से भाव-प्राणों को धारण करता है इसलिये "जीव" है तथा व्यवहारनय से द्रव्य प्राणों को धारण करता है इसलिये जीव है।

२-आत्मा निश्चय से चित्स्वरूप होने के कारण "चेतयिता" चेतने वाला है, व्यवहार से चित्शक्तियुक्त होने से चेतयिता है।

३-निश्चय से अपृथग्भूत ऐसे चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से उपयोगलक्षित है, व्यवहार से पृथग्भूत ऐसे चैतन्य परिणाम-स्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होने से उपयोगलक्षित है।

४-निश्चय से भावकर्मों के आस्रव बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं (ईश) समर्थ होने से "प्रभु" है, व्यवहार से द्रव्यकर्मों के आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करने मे स्वयं ईश होने से प्रभु हैं।

५-निश्चय से पौद्गलिक कर्म जिनका निमित्त है ऐसे आत्मपरिणामों कर्तृत्व होने से "कर्ता" है व्यवहार से आत्म परिणाम जिनका निमित्त है ऐसे पौद्गलिक कर्मों का कर्ता होने से "कर्ता" है। निश्चय से शुभाशुभ कर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुख-दुःख परिणामों का भोक्तृत्व होने से "भोक्ता" है, व्यवहार से शुभाशुभ कर्मों से सम्पादित (प्राप्त) इष्टानिष्ट विषयों का भोक्तृत्व होने से भोक्ता है।

निश्चय से लोकप्रमाण होने पर भी, विशिष्ट अवगाह परिणाम की शक्ति वाला होने मे नामकर्म से रचे जानेवाले छोटे-बड़े शरीर में रहता हुआ व्यवहार से देहप्रमाण है।

व्यवहार से कर्मों के साथ एकत्व परिणाम के कारण मूर्त होने पर भी, निश्चय से अरूपी स्वभाव वाला होने के कारण-अमूर्त है।

निश्चय से पुद्गल परिणाम के अनुरूप चैतन्य परिणामात्मक कर्मों के (भावकर्म) साथ संयुक्त होने से कर्मसंयुक्त है, व्यवहार से चैतन्य परिणाम को अनुरूप पुद्गल परिणामात्मक कर्मों के साथ संयुक्त होने से "कर्म-संयुक्त" है।

जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय ( सिद्ध परमात्मा में ) सिद्धत्व लक्षण शुद्ध द्रव्य व्यञ्जनपर्याय है, केवलज्ञान आदि विशेष गुण हैं, तथा अस्तित्व, वस्तुत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं और जैसे मुक्त अवस्था में अव्या-

बाध, अनन्तसुख, अनन्त गुणों की प्रकटता रूप कार्य समयसार का उत्पाद, राग आदि विभावों से शून्य परम स्वास्थ्य स्वरूप कारण समयसार का नाश, और इन दोनों के अर्थात् उत्पाद-व्यय के आधारभूत परमात्म रूप जो द्रव्य है उस रूप से स्थिरत्व (ध्रौव्य) हैं। वैसे ही मेरा कारण-समयसार रूप मेरा शुद्ध जीवास्तिकाय, शक्ति रूप से शुद्ध सिद्ध परमात्मा केवल-ज्ञान आदि विशेष गुणों से युक्त, अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख वीर्य सहित हूँ। कारण समयसार का व्यय तथा अनन्त गुणों की प्राप्ति स्वरूप उत्पाद युक्त होकर परमात्म रूप से ध्रौव्य है। यह शुद्ध जीव का शुद्ध अस्तिपना सिद्ध हुआ।

बहुत से प्रदेशों में व्याप्त हुआ देखकर जैसे शरीर को कायत्व कहते हैं अर्थात् जैसे शरीर में अधिक प्रदेश होने से शरीर को काय कहते हैं, उसी प्रकार अनंत ज्ञानादि गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेश हैं उनके समूह, संघात अथवा मेल को देखकर, मुक्त जीवों के भी कायत्व का व्यवहार अथवा कथन होता है। वैसे ही मेरा परम शुद्ध आत्मा कारण परमात्मा भी अनन्त ज्ञानादि गुणों की शक्ति सहित होने से कायवान् है। अतः मैं सिद्ध समान शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ।

हूँ अनन्त काल से मैं अन्त तक रहूँ,
गुण अनन्त धारकर मैं कायवान हूँ।
अनंत काल भ्रमणकर भी अचल एक हूँ,
सिद्ध हूँ मैं, शुद्ध हूँ मैं, वीतराग हूँ ॥३०॥

**सूत्र—अखंडशुद्धज्ञानैकस्वरूपोऽहम् ॥३१॥**

सूत्रार्थ—जैसे सिद्ध भगवान् अखंड परम शुद्ध केवलज्ञानमय हैं, वैसे ही मैं परम शुद्ध अखंड केवलज्ञानमय हूँ।

**विशेषार्थ—**

कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले सभी ज्ञान खण्डमय हैं, अपूर्ण हैं तथा कर्म के क्षय से होने वाला ज्ञान अखंड है, शुद्ध है, निर्मल है, विशुद्ध है, बाधा रहित है, सहज है, अतीन्द्रिय है यही मेरा स्वभाव है, यही मेरा सच्चा रूप है।

हे आत्मन्! लोक को देखने के लिये तुझे इन जड़ नेत्रों की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे शरीर में ज्ञानरूपी नेत्र हैं। पदार्थों के विचार करने के लिये तुझे मन की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे सारे शरीर में ज्ञानरूपी मन

है। आत्मांग में सर्वत्र विचारशक्ति है, अनन्तवीर्य है। हे अखंड शुद्ध ज्ञानैक स्वरूप आत्मन्! मेरे हृदय में सदा निवास करते रहो।

ज्ञान ही मम नेत्र हैं अरु, ज्ञान ही मम रूप है,
ज्ञान ही मम इन्द्रियाँ अरु, ज्ञान ही मम काय है।
ज्ञान हो सर्वांग से अब, हो प्रस्फुटित हे प्रभो!,
उस घड़ी की ही प्रतीक्षा, कर रहा हूँ मैं विभो ॥३१॥

**सूत्र—स्वाभाविकज्ञानदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥३२॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सिद्ध भगवान् के समान स्वाभाविक ज्ञान और दर्शन स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ**—

मैं आत्मा हूँ। ज्ञान-दर्शन मेरा स्वभाव है। वही मेरा शरीर है। मैं कहाँ रहता हूँ?—मैं जम्बूद्वीप में रहता हूँ—नहीं, भरतक्षेत्र में रहता हूँ—नहीं, आर्यखंड में—नहीं, अपने नगर में—नहीं, मकान में—नहीं, मैं शरीर में रहता हूँ—नहीं, फिर मैं कहाँ रहता हूँ? मैं अपने स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन जो मेरा स्वरूप है उसी में रहता हूँ।

बकवादी क्यों बनता चेतन, मौन अमृत पान रे,
पर परणति मे लिप्त न होना, निज में जोड़ो चाव रे।
दर्शन ज्ञान की लौ में लग जा, दूर पाप की घाम रे,
सहज शुद्ध स्वाभाविक परिणति, रूप है तेरा बावरे ॥३२॥

**सूत्र—अन्तरंगरत्नत्रयस्वरूपोऽहम् ॥३३॥**

**सूत्रार्थ**—अरहन्त व सिद्ध भगवान् के समान मेरा यह शुद्ध आत्मा भी अन्तरंग/निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है।

**विशेषार्थ**—

**प्रश्न**—जगत् में रत्न कितने हैं?

**उत्तर**—तीन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये ही सच्चे रत्न शेष। जिन्हें रत्न समझ रखा है—हीरा-पन्ना-मोती-माणिक वे मात्र पत्थर के टुकड़े हैं।

**प्रश्न**—सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताइये?

**उत्तर**—नव पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व, उनका अवबोध ज्ञान है, मार्ग पर आरूढ़ का विषयों के प्रति वर्तता हुआ समभाव चारित्र है।

[पं० का० १०७]

नव पदार्थों का श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्व शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है। इस रुचि रूप निश्चय सम्यक्दर्शन का और अल्पज्ञ अवस्था में आत्मा सम्बन्धी स्वसंवेदन ज्ञान का परम्परा से बीज है और यह स्वसंवेदन ज्ञान है सो अवश्य केवलज्ञान का बीज है।

इन ही नव पदार्थों का संशय रहित यथार्थ जानना सो सम्यग्ज्ञान है तथा इस सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बल से सर्व अन्य मार्गों से अलग होकर विशेषपने से इस मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होने वालों का इन्द्रिय और मन के भीतर आए हुए सुख या दुःख की उत्पत्ति के कारण शुभ या अशुभ पदार्थों में समता या वीतराग चारित्र के भाव रखना सो सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार चारित्र बाहरी साधन है तथा यही वीतराग चारित्र की भावना से उत्पन्न जो परमात्म स्वभाव में तृप्ति रूप निश्चयसुख है उसका बीज है और वह निश्चयसुख अक्षय और अनन्त सुख का बीज है।

[ पं. का० १०७ सं. ता. ]

हे मुमुक्षु ! निश्चय से द्रव्यलिंग, व्यवहार रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग नहीं है क्योंकि शरीर आश्रित अथवा अन्य के आश्रित होने से परद्रव्य है, दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है; क्योंकि इसको आत्माश्रित होने से (निज आत्म) द्रव्यपना है।

तात्पर्य मोक्ष सब कर्मों के अभावरूप आत्मा का परिणाम है इसलिये इसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिये। दर्शनज्ञानचारित्र आत्मा के परिणाम हैं इसलिये वे ही मोक्ष के मार्ग हैं, यह निश्चय से जानो।

हे पथिक ! स्वात्मा की रुचि, प्रतीति, तद्रूप आचरण इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। मेरा आत्मा उसी अन्तरंग रत्नत्रय-स्वरूप है। अतः इस मोक्षमार्ग में अपने को स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी को अनुभवगोचर कर और उसी आत्मा में निरन्तर विहार कर, बाहर अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

हे मुमुक्षु ! अपने अन्तरंग रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की प्राप्ति करना चाहता है तो, अनादिकाल से इस संसार में यह आत्मा अपने बुद्धिदोष के कारण परद्रव्य में राग-द्वेषादि करने में नित्य ही तिष्ठता हुआ प्रवर्त रहा है। अतः तू उसको अपनी ही बुद्धि के गुण से उन परद्रव्यों में राग-द्वेष को छुड़ाकर दर्शनज्ञानचारित्र में तिष्ठता हुआ अति निश्चल स्थापन कर। समस्त अन्य चिन्ताओं का निरोध करके अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर दर्शन-

ज्ञानचारित्र का ही ध्यान कर। समस्त कर्म व कर्मफलचेतना का त्याग करके, शुद्धज्ञानचेतनामय होकर, दर्शनज्ञानचारित्र का ही अनुभव कर। द्रव्य के स्वभाव के वश क्षण-क्षण में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उन परिणामों में तन्मय होकर दर्शनज्ञानचारित्र में ही विहार कर। तू एक ज्ञानरूप को ही निश्चयरूप से अवलंबन करता हुआ जो ज्ञेयरूप से ज्ञान में उपाधि स्वरूप है ऐसे सब ओर से फैले हुए परद्रव्य उनमें किञ्चित् भी विहार मत कर।

देखो-जानो-ठहरो निज में, निज को श्रद्धा ज्ञान करो,
यही मोक्ष का मार्ग अनुपम, ध्यावो आओ विहार करो।
अन्य द्रव्य से क्या है प्रयोजन, स्वात्मसुधारस पान करो,
समयसार को उदित करो अरु, सिद्धालय में राज्य करो ॥३३॥

**सूत्र—अनन्तचतुष्टयस्वरूपोऽहम् ॥३४॥**

सूत्रार्थ—मैं अर्हत् स्वरूप सम अनन्तचतुष्टय स्वरूप हूँ।
मैं अनन्त दर्शन स्वरूप हूँ। मैं अनन्त ज्ञान स्वरूप हूँ।
मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ। मैं अनन्त वीर्य स्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

अन्त नहीं है जिसका जग में, ऐसा दर्शन मेरा रूप,
अन्त नहीं है जिसका जग में, ऐसा ज्ञान ही मेरा भूप।
अन्त नहीं है जिसका जग में, ऐसा सुख ही मेरा रूप,
अन्त नहीं है जिसका जग में, ऐसा वीर्य ही मेरा भूप ॥

प्रश्न—इन अनन्तचतुष्टय की शक्ति तो सभी जीवों में है पर व्यक्ति कब और किस जीव के होती है ?

उत्तर—जो बाह्य व्यापार से रहित हैं, चारों प्रकार—दर्शन, ज्ञान, तप व चारित्र आराधना में लगे हुए हैं, निर्ग्रन्थ हैं, निर्मोह ऐसे भव्यात्मा साधुगण को ही अनन्त चतुष्टय की व्यक्ति (प्रकटता) होती है।

अर्थात् जो महान् परमसंयमी बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहों के आग्रह से विनिर्मुक्त होने से निर्ग्रन्थ हैं। सदा निरञ्जन निज कारण समयसार के स्वरूप का सम्यक् श्रद्धान, परिज्ञान और आचरण, उसके विरोधी मिथ्या श्रद्धान-ज्ञान-आचरण के अभाव से निर्मोही हैं। त्रिकाल निरावरण निरञ्जन परम पारिणामिक भावना से परिणत हैं, बाह्य समस्त क्रियाओं से रहित हैं तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र व तप आराधनाओं में सदा अनुरक्त

रहते हैं; वे साधु/त्यागी, यतिवर ही अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी के स्वामी बनते हैं।

मैं मुमुक्षु अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति के लिये चतुर्विध आराधनाओं में अनुरक्त होता हूँ, बाह्य प्रपञ्च से विश्राम लेता हूँ।

सूत्र—पञ्चमभावस्वरूपोऽहम् ।।३५।।

सूत्रार्थ—मैं सिद्ध परमात्मा के समान पञ्चमभावस्वरूप हूँ।

प्रश्न—भाव किसे कहते हैं, वे कितने हैं?

उत्तर—जीव के परिणामों को भाव कहते हैं। भाव मूल में पाँच प्रकार के होते हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।

कर्मों के उपशम के होने पर हुआ भाव औपशमिक भाव है। कर्मों के क्षय होने पर हुआ भाव क्षायिक भाव है। कर्मों के क्षयोपशम के होने पर हुआ भाव क्षायोपशमिक भाव है, कर्मों के उदय होने पर हुआ भाव औदयिकभाव है और सम्पूर्ण कर्मों की उपाधि से रहित ऐसा जो परिणाम में हुआ भाव वह पञ्चमभाव-पारिणामिक भाव है।

इन पाँचों भावों में से क्षायिकभाव कार्य समयसार स्वरूप है, वह तीनों लोकों में प्रक्षोभ-हलचल के लिये कारणभूत जो तीर्थंकर प्रकृति उसके द्वारा अर्जित जो सकल विमल केवलज्ञान उससे सनाथ भगवान् तीर्थंकर व अरहंत परमात्मा अथवा सिद्ध भगवान् के होता है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भाव संसारी जीवों में ही होते हैं।

पूर्वोक्त चारों भाव आवरण सहित होने से मुक्ति के कारण नहीं हैं। तीनों कालों की उपाधि से रहित, निरञ्जन, निर्दोष मेरा जीवत्व नामक पञ्चम परम पारिणामिक भाव ही मुक्ति का कारण है। यह पञ्चम भाव ही मेरा स्वरूप है। इस पञ्चम भाव रूप पारिणामिक भाव की भावना से मेरी आत्मा का स्वरूप त्रिकाल निरावरण निरञ्जन है।

मैं शुद्ध जीवात्मा हूँ—

मुझ जीव के क्षायिकभाव स्थान नहीं हैं।<br>
क्षयोपशम भाव स्थान भी मुझ जीवात्मा के नहीं हैं।<br>
औदयिक भाव स्थान भी मेरे नहीं हैं। और,<br>
उपशम भाव स्थान भी मेरा स्वरूप नहीं है॥

मैं पञ्चमगति को प्राप्त करने योग्य जीवत्व नामक पञ्चम पारिणामिक भाव स्वरूप हूँ।

नहीं उपाधि कर्मोदय की, उपशम-क्षय-क्षयोपशम की,
निरुपाधि बन केली करता, सिद्धालय के उपवन की।
वही है मेरा रूप सलोना, पञ्चमभाव परायण जो,
नित्य भजूँ मैं उसी भाव को, सिद्ध परमपद पाने को ॥३५॥

**सूत्र—नयनिक्षेपप्रमाणविदूरस्वरूपोऽहम् ॥३६॥**

**सूत्रार्थ**—मुझ आत्मा का स्वरूप नय-निक्षेप-प्रमाण के गोचर नहीं है अर्थात् जैसे शुद्ध सिद्धात्मा का स्वरूप नय-निक्षेप व प्रमाण के गोचर नहीं है, वचनातीत है वैसे ही मेरा शुद्ध स्वरूप भी नय-प्रमाण-निक्षेप आदि के कथन से सर्वथा भिन्न वचनातीत है।

**प्रश्न**—नय किसे कहते हैं?

**उत्तर**—नय शब्द का निरुक्ति अर्थ है—उच्चारण किये अर्थ, पद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देता है इसलिये वे नय कहलाते हैं।

[ध. १/१, १/३, ४, १०]

नय एक देश वस्तुग्राही है—वस्तु की एक देश परीक्षा नय का लक्षण है। [प्र. सा.]

प्रमाण के द्वारा संगृहीत वस्तु के अर्थ के एक अंश को नय कहते हैं।

मैं जो हूँ उसका पूर्ण कथन-ज्ञान या ग्रहण नय का विषय नहीं, अतः मैं नयातीत हूँ।

**प्रश्न**—निक्षेप किसे कहते हैं?

**उत्तर**—जो अनिर्णीत वस्तु नामादिक के द्वारा निर्णय करावे उसे निक्षेप कहते हैं।

मैं शुद्ध जीवात्मा नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव से भी कहने योग्य नहीं हूँ, अतः वचनातीत हूँ।

**प्रश्न**—प्रमाण किसे कहते हैं?

**उत्तर**—प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को ग्रहण करने वाला है।

मेरा शुद्धात्मा शुद्ध केवलज्ञान प्रमाण में पूर्णरूपेण झलकने पर भी उसका अनन्त गुणरूप स्वरूप पूर्ण कथन में नहीं आता। अतः मैं प्रमाणातीत/प्रमाण के भी अगोचर हूँ। स्पष्ट है कि—

मेरा परमशुद्धात्मा नय का विषय नहीं।
मेरा परमशुद्धात्मा निक्षेप का विषय नहीं।
मेरा परम शुद्धात्मा प्रमाण का भी विषय नहीं।
मेरा परम शुद्धात्मा निज स्वाभाविक ज्ञानगोचर है।

नय-प्रमाण निक्षेप से, जिसका ज्ञान न होय।
वही शुद्ध परमातमा, निज ज्ञान गोचर होय ॥३६॥

**सूत्र— सप्तभयविप्रमुक्त स्वरूपोऽहम् ॥३७॥**

**सूत्रार्थ**—मैं सप्तभयों से पूर्ण रहित निर्भयस्वरूप हूँ।

**विशेषार्थ—**

**प्रश्न**—भय किसे कहते हैं ?

**उत्तर**—जिसके उदय से उद्वेग होता है वह भय है [ स. सि. ]

अथवा

भीतिर्भयम्। भीति को भय कहते हैं। अथवा

उदय में आये हुए जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा जीव के भय उत्पन्न होता है उनकी कारण में कार्य के उपचार से भय यह संज्ञा है।

सप्तभय—इसलोक भय, परलोक भय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिक भय।

मेरे इष्ट पदार्थ का वियोग व अनिष्ट पदार्थ का संयोग न हो जाये इस प्रकार इस जन्म में क्रन्दन करने को इहलोकभय कहते हैं। परलोक में मेरा न मालूम क्या होगा, ऐसा भय करना, परलोक भय है। शरीर में वात-पित्तादि से होने वाली पीड़ा वेदना कही जाती है, वेदना के कारण मोह के वशीभूत हो करुण क्रन्दन करना वेदना भय है। जैसे कि बौद्धों के क्षणिक एकान्त पक्ष में चित्त क्षण प्रतिसमय नश्वर होता है वैसे ही पर्याय के नाश के पहले अंशि रूप आत्मा के नाश की रक्षा के लिये अक्षमता अरक्षाभय है। मैं जीवित रहूँ, कभी मेरा मरण न हो अर्थात् इस शरीर के नाश के विषय में जो चिन्ता होती है वह मृत्युभय कहलाता है। अकस्मात् उत्पन्न होने वाला महान् दुःख आकस्मिक भय है। जैसे कि बिजली आदि के गिरने से होने वाला भय। जिसमें किसी का प्रवेश

नहीं ऐसे गूढ़ दुर्गादिक का नाम गुप्ति है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हो उसको अगुप्ति कहते हैं, वहाँ बैठने से जीव को जो भय उत्पन्न होता है उसे अगुप्तिभय कहते हैं।

कर्मों के संयोग से रहित होने पर मैं परमशुद्धात्मा हूँ। मुझ शुद्धात्मा का कोई इष्ट नहीं, कोई अनिष्ट नहीं, इसका सदानिवास पञ्चमगति में है। अतः मैं इहलोक और परलोक भय से रहित निर्भय हूँ। मेरा शुद्धात्मा निरामय है/निरोगी है, अतः इसे वेदना भय कहाँ? मैं वेदना भय से रहित निर्भय हूँ। मैं स्वयं स्वरक्षित हूँ, अमूर्तिक हूँ अतः मुझे कोई हर नहीं सकता, वर नहीं सकता अतः मुझे अरक्षाभय भी क्यों, मैं अरक्षाभय रहित स्वरक्षित हूँ। मैं अनादि से अनन्तकाल तक रहूँगा अतः मेरा न जन्म, न मरण, फिर मुझ में मृत्यु भय कहाँ? नहीं मैं मृत्यु से रहित निर्भय हूँ। मैं न कहीं बैठता हूँ, न कहीं खड़ा होता हूँ, गमन-आगमन, शयन-उपवेशन से रहित मुझे अगुप्तिभय भी नहीं, मैं तो निर्भय ही हूँ।

दुनिया के सब तत्व चराचर मेरे ज्ञान में झलकें,
मैं न किसी के ज्ञान के गोचर फिर क्यों भय आ फटके।
शुद्ध बुद्ध मैं नित्य निरञ्जन रोग आदि न अटकें,
शील सत्य प्रशान्त जु रस में भय क्यों आकर भटके ॥३७॥

**सूत्र—अष्टविधकर्मनिर्मुक्तस्वरूपोऽहम् ॥३८॥**

**सूत्रार्थ**—जिस प्रकार सिद्ध परमात्मा अष्ट विध से रहित हैं वैसे ही मैं शुद्ध चेतन आत्मा शुद्ध निश्चयनय से अष्टविधकर्मों से पूर्ण मुक्त स्वरूप हूँ।

यद्यपि जीव व कर्म का कनकपाषाण की भाँति अनादिकालीन सम्बन्ध है। तथापि जीव जुदा है, कर्म जुदा हैं। कर्म जीव के स्वभाव नहीं। जीव चेतन है, कर्म कार्माण वर्गणाओं का पुद्गल पिण्ड है।

हे आत्मन्! अज्ञानतावश कर्म की शक्ति को बड़ा मानकर तू आत्मा की अनन्तशक्ति को भूल गया। तथा गुरुओं ने भेदविज्ञान की शिक्षा दी, तप, व्रत, ध्यान का उपदेश दिया तब तूने एक ही उत्तर दिया—"क्या करूँ? कर्म का उदय है। कर्मोदय से ऐसा हो गया, कर्मोदय से धर्म में, शुभ क्रियाओं में मन नहीं लगता आदि बहाने बनाते रहा। आचार्य कहते हैं—

"कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई"।
अग्नि सहे घनघात संगति लोहे की पाई॥

**विशेषार्थ—**

कर्म तो जड़ है, वे बिचारे चेतन आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं करते। परन्तु चेतन स्वयं विभावपरिणति में फँस कर्मों को निमन्त्रण देकर उनका सम्मान करता है तो कर्मों का क्या दोष। यह तो कर्म नीति है— जहाँ आदर-सम्मान मिले वहाँ टिक कर रहना चाहिये।

हे आत्मन्! जिस प्रकार विभावपरिणति कर बन्धन की शक्ति तुम्हारे भीतर है तथा उसी बन्धन से चौरासी लाख योनियों में भ्रमण की शक्ति तुम्हारे भीतर है ठीक उसी प्रकार कर्म बन्धन को काट मुक्ति में बसने तथा सिद्धालय में निवास करने की शक्ति भी तुम्हारे स्वयं के भीतर है। अपनी शक्ति को पहिचानो। अष्टकर्म से पूर्ण मुक्त मैं परम शुद्धात्मा "निष्कर्म" हूँ।

**छप्पय—**

कर्म जो अठविध कहे, जिन आगम अनुसार।
उनसे चेतन भिन्न है, अविनाशी अविकार॥
अविनाशी अविकार, चिदातम निज पहिचानो।
जो कहे कर्म बलवान, उसी को मूरख जानो॥
कह गये हमको वीर, सुनो तुम चेतन प्यारे।
कर्म बिचारे कौन, यदि तुम "सुधी" सम्हारे॥३८॥

**सूत्र—अविचलितशुद्धचिदानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३९॥**

**सूत्रार्थ—**मैं अचल हूँ, शुद्ध हूँ, चिदानन्द स्वरूप हूँ। जैसे सिद्ध परमात्मा अचल दशा को प्राप्त हो अविचलित है, कर्म से रहित शुद्ध हैं तथा चैतन्य के आनन्द से पूर्ण हैं, वैसे ही मैं अविचलित, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ।

जिस प्रकार सिद्ध भगवान् द्रव्यक्षेत्रकालादिपञ्चप्रकार संसार भ्रमण से रहित और स्व स्वरूप में निश्चल होने से अचल हैं उसी प्रकार मेरा परम शुद्धात्मा निश्चय से कर्मों से रहित हुआ चतुर्गति परिभ्रमण से रहित हुआ अचल है।

**विशेषार्थ—**

हे आत्मन्! क्रोध नरकगति का कारण है, मान मनुष्यगति का कारण है, माया तिर्यञ्चगति की कारण है और लोभ देवगति का कारण है। जब तक चारों कषायों को त्याग नहीं करता, तब तक चतुर्गति में भ्रमण

करेगा। अचलपद प्राप्ति में बाधक चार कषायों को छोड़ दे तभी अचल पञ्चमगति सिद्ध अवस्था को प्राप्त होगा। अथवा यह आत्मा अनादि-काल से मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। जब व्यवहार रत्नत्रय को निश्चल अंगीकार करे तब अनुक्रम से अपने स्वरूप अनुभव की क्रम से वृद्धि करता हुआ निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होता है तब तक तो साधक है और निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता से सब कर्मों का नाश हो तब साक्षात् सिद्ध अवस्था अचलपद की प्राप्ति होती है। वहाँ शुद्ध प्रकाश के समूह से उत्तम प्रभात के समान उदयरूप है, आनन्द से अच्छी तरह ठहरा सदा नहीं चिगता है एकरूप जिसका, जिसकी ज्ञान दीप्ति अचल है वह अचल/अविचलित मैं हूँ।

जीव के आठ मध्य-प्रदेश अचल है। वे अखंड, अविचल अवस्था में कारण हैं। यदि ये आठ प्रदेश भी चल हो जावें तो जीव स्थिर नही रह सकता। ध्यान को सिद्धि नहीं हो सकती। ध्यान की सिद्धि के बिना अविचल पद भी प्राप्त नहीं हो सकती।

अतः हे पथिक ! चंचलता को छोड़। मन की विकलता का त्याग कर। विभ्रम बुद्धि से संसार परिभ्रमण बढ़ता है उसे भी छोड़। ध्यान की सिद्धि के द्वारा अजर-अमर-अविनाशी अवस्था का तू शीघ्र दर्शन कर। अचल, अविचलित पद मेरा स्वभाव है, स्वभाव को छोड़ विभाव में रमना मेरा कर्तव्य नहीं। अतः मैं अब सब प्रकार चंचलता, कषायों की विकलता आदि विभावों का त्याग करता हूँ।

मैं शुद्ध हूँ। जिस प्रकार सिद्ध भगवान् भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म-मल से रहित होने से शुद्ध हैं उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय से मेरा आत्मा परम शुद्धात्मा है। शुद्ध निश्चयनय से कर्म मेरा नहीं, और कर्मसे मेरा कोई संबंध ही नहीं है, मैं सर्वमल से रहित शुद्ध हूँ।

हे मुमुक्षु ! यद्यपि स्वभाव से तू शुद्ध है फिर भी शुद्ध पद की अभी प्राप्ति हुई नहीं। उस शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये भावकर्म—रागद्वेष मोह, ख्याति, पूजा, लाभ, निदान आदि का त्याग करो, औदारिक-वैक्रियिक, आहारक शरीर रूप नोकर्म में प्रीति—मेरा शरीर, मेरा शरीर सुन्दर है, इसको सुन्दर-सुन्दर पकवान आदि खिलाकर पुष्ट करना चाहिये, ऐसा ममत्व, राग छोड़ो तथा द्रव्यकर्मों की पराधीनता स्वीकार कर प्रमादी न बनो। जब तक द्रव्य-भाव-नोकर्म की कणिका रूप भी मल

रहेगा तब तक शुद्ध अवस्था मिल नहीं सकती। अतः हे भव्यात्मन् ! प्रतिदिन शुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिये इस प्रकार की भावना करियेगा—

द्रव्यकर्म रहितोऽहं। राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्यादि नव कषाय, मिथ्या-माया निदान रहितोऽहम्। औदारिक शरीर रहितोऽहम्। वैक्रियिक-आहारक शरीर रहितोऽहम्। सर्व कर्मों से रहित मैं मात्र शुद्ध हूँ।

मैं चिदानन्दमयस्वरूप हूँ—जिस समय सर्व कर्म रहित चेतन आत्मा सर्व परतन्त्रता से छूटकर अपनी चिदानन्द राजधानी में क्रीडा करता है, उस समय उनके आनन्द को चिदानन्द कहते हैं। जैसे सिद्ध भगवान् चिदानन्द में लीन हो, अनन्त काल तक आनन्द का पान करते है वैसे ही कर्मों से रहित हुआ मैं अतीन्द्रिय आनन्द का स्वामी हूँ। इन्द्रियों की पराधीनता से रहित मेरा आनन्द चिदानन्द है, वही मेरा स्वभाव है।

हे मुमुक्षु ! चिदानन्द का स्मरण कर उसी की भावना कर—मैं इन्द्रियों के क्षणिक आनन्द से रहित हूँ। मैं शरीर के क्षणिक आनन्द से रहित हूँ। मैं परिवार के क्षणिक आनन्द से रहित हूँ। मैं क्षायोपशमिक ज्ञान के क्षणिक आनन्द से भी रहित हूँ। मैं आत्मा से उत्पन्न चिदानन्द स्वरूप हूँ।

हे पथिक ! उस चिदानन्द की प्राप्ति के लिये—आत्मानुभव करो। निज का श्रद्धान, निज का ज्ञान व निज में आचरण करो। जिस समय अनुभव रस प्राप्त होता है—"ज्ञानानन्द सुधारस बरसे घट अन्तर न समावे" ऐसा अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। वही आनन्द मैं हूँ।

मिथ्यात्रय से भटका जग में, रत्नत्रय की छाँह ले,<br>
द्रव्य भाव अरु नोकर्मों को, अन्दर से तू निकाल दे<br>
तेरा प्रभुवर तुझ में सुन्दर, उसको तू पहिचान ले,<br>
चिदानन्द चैतन्य प्रभू यह, मेरा आतमराम है ॥३९॥

**सूत्र—अद्वैतपरमाल्हादसुखस्वरूपोऽहम् ॥४०॥**

सूत्रार्थ—मैं अद्वैत परमाल्हाद-सुखस्वरूप हूँ। जिस प्रकार सिद्ध परमेष्ठी स्वआत्मोत्थ अन्य में न पाये जाने वाले ऐसे परम-आनन्द वा सुख स्वरूप हैं उसी प्रकार मेरा यह परम शुद्ध आत्मा भी अन्य किसी में न पाये जाने वाले ऐसे अद्वैत परमाल्हाद रूप सुखमय है।

**विशेषार्थ—**

हे पथिक ! द्वैत भाव में भक्त अलग है, भगवान् अलग है, सुख भिन्न है, आत्मा भिन्न है किन्तु सर्व विकल्पों से भिन्न मैं वही हूँ जो अरहन्त-सिद्ध भगवान् है, मैं वही हूँ जो आत्मा हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है। जहाँ "सोऽहम्" से "अहम्" की पुष्टि हो जाती है वहाँ पूज्य-पूजक, ध्येय-ध्याता, भक्त व भगवान् मे द्वैत भाव न होकर अद्वैत अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्भावकर्म चिदेशकर्ता चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रकटी जहाँ दृग ज्ञान बल ये तीनधा एकै लसा॥

—छहढाला ६-९

समस्त बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी परम समरसी भाव के आस्वादी अकिंचन व्रत के धारी महामुनिराज ही इस अद्वैत अवस्था को प्राप्त कर परमाल्हाद रूप सुखमय हो जाते हैं।

हे पथिक ! अतः उस अद्वैत परमाल्हादसुखमय अवस्था को प्राप्ति के लिये प्रतिदिन इस प्रकार की भावना करते रहो—

मैं न भक्ति रूप हूँ, न भक्त हूँ, न अरति रूप हूँ, न रति रूप हूँ, न भूमि रूप हूँ, न विभूति रूप हूँ, न ध्यान हूँ, न ध्येय हूँ, न ध्याता हूँ। मैं चिन्मात्रमूर्ति स्वरूप हूँ।

जिसकी पूजा की जाती है वह मैं हूँ, जो पूजक है वह भी मैं ही हूँ। जहाँ पर पूज्य-पूजक भाव होता है वहीं पर भक्ति करने वाला भक्त व पूजक माना जाता है और वह पूज्य पुरुष की भक्ति करता है। परन्तु शुद्ध निश्चयनय से अत्यन्त शुद्ध अवस्था को धारण करने वाला मेरा आत्मा न पूज्य है, न पूजक है। वह तो दोनों से सर्वथा भिन्न परम अद्वैत रूप परमाल्हाद रूप सुख स्वरूप है।

जिसका ध्याता किया जाता है वह ध्येय कहलाता है। जो ध्यान करता है वह ध्यान कहलाता है और ध्यान करना या एक को अग्रकर चिंतन करना ध्यान कहलाता है। निश्चयनय से मेरा आत्मा अत्यन्त शुद्ध है इस-लिये वह न तो ध्याता है न ध्यान रूप है और न ध्येय रूप है। वह तीनों से भिन्न है।

इस प्रकार मैं स्वयं ज्ञान हूँ, ध्यान हूँ, सुख हूँ, दर्शन हूँ। मुझ से भिन्न ज्ञान नहीं, ज्ञायक नहीं तथा ज्ञेय भी नहीं, मुझसे भिन्न ध्यान नहीं, ध्याता नहीं व ध्येय भी नहीं तथा मुझसे भिन्न सुख नहीं, सुख के साधन नहीं व अन्य कोई सुख उपादेय नहीं, क्योंकि मैं हूँ पूर्ण सुख हूँ और मुझ से भिन्न अन्य कोई दर्शक नहीं, दर्शन योग्य नहीं व दर्शन भी नहीं। जो कुछ हूँ सब मैं हूँ, मैं अद्वैत-परम-आल्हाद सुख स्वरूप हूँ।

पूज्य पूजक भाव नहीं जहँ, ध्येय ध्याता भी नहीं,
शुद्ध चिन्मूरत ये आतम, मात्र अद्वैत भई।
परम-आनन्द का पिटारा, सुख सुधा बरसा करे,
गोता लगाता जो इसी में, शान्त आनन्द रस चखे ॥४०॥

**इत्यादिस्वशुद्धात्मस्वरूपे निश्चलावस्थाननिर्विकल्पगुणस्मरणं सर्वसाधुपद प्राप्त्यर्थं स्वशुद्धात्मध्यानम्।**

इस प्रकार आचार्य-उपाध्याय-साधु इन तीनों परम पद की प्राप्ति के लिये अपनी शुद्धात्मा में सदाकाल निश्चल रूप से रहने वाले और सब प्रकार के विकल्पों से रहित, निर्विकल्प गुणों के स्मरण स्वरूप अपनी शुद्धात्मा के ध्यान का स्वरूप वर्णन करने वाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

**इति ध्यान-सूत्राणि**

●

# ध्यान-सूत्राणि

## सूत्र-पाठ

### प्रथम अधिकार

रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपञ्चेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायकर्मभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्यात्वशल्यत्रयगारवत्रयदंडत्रयादि-विभाव-परिणामशून्योऽहं ॥१॥ निजनिरञ्जनस्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दसुखानुभूतिरूपमात्रलक्षणेनस्वसंवेदनज्ञानसम्यक्प्राप्त्याभरितविज्ञानेनगम्यप्राप्त्या भरितावस्थोऽहम्॥२॥ सहजशुद्धपारिणामिकभावस्वभावोऽहम् ॥३॥ सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहम् ॥४॥ भेदाचलनिर्भरानन्द स्वरूपोऽहम् ॥५॥ चित्कलास्वरूपोऽहम् ॥६॥ चिन्मुद्रांकितनिर्विभागस्वरूपोऽहं॥७॥ चिन्मात्रमूर्तिस्वरूपोऽहम् ॥८॥ चैतन्यरत्नाकरस्वरूपोऽहम्॥९॥ चैतन्यामरद्रुमस्वरूपोऽहं॥१०॥चैतन्यामृताहारस्वरूपोऽहं॥११॥ चैतन्यरसरसायनस्वरूपोऽहं ॥१२॥ चैतन्यचिह्नस्वरूपोऽहं॥१३॥ चैतन्यकल्याणवृक्षस्वरूपोऽहं॥१४॥ चैतन्यपुञ्जस्वरूपोऽहं ॥१५॥ ज्ञानज्योतिस्वरूपोऽहं ॥१६॥ ज्ञानामृतप्रवाहस्वरूपोऽहम् ॥१७॥ ज्ञानार्णवस्वरूपोऽहम् ॥१८॥ निरुपम ेप स्वरूपोऽहम् ॥१९॥ निरवद्यस्वरूपोऽहम् ॥२०॥ शुद्धचिन्मात्र स्वरूपोऽहम् ॥२१॥ शुद्धाखण्डैकमूर्तस्वरूपोऽहम् ॥२२॥ अनन्तज्ञान स्वरूपोऽहं ॥२३॥ अनन्तदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥२४॥ अनन्तसुख स्वरूपोऽहम् ॥२५॥ अनन्तशक्तिस्वरूपोऽहम् ॥२६॥ सहजानन्दस्वरूपोऽहम् ॥२७॥ परमानन्द स्वरूपोऽहं ॥२८॥ परम ज्ञानानन्द स्वरूपोऽहं॥२९॥ सदानन्द स्वरूपोऽहम् ॥३०॥ चिदानन्दस्वरूपोऽहम् ॥ ३१ ॥

निजानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३२॥ निज निरंजन स्वरूपोऽहम्॥३३॥ सहजसुखानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३४॥ नित्यानन्दस्वरूपोऽहम्॥३५॥ शुद्धात्मस्वरूपोऽहम् ॥ ३६ ॥ परमज्योतिस्वरूपोऽहम् ॥३७॥ स्वात्मोपलब्धिस्वरूपोऽहम् ॥ ३८ ॥ शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपोऽहम् ॥ ३९ ॥ शुद्धात्म संवित्तिस्वरूपोऽहम् ॥ ४० ॥ भूतार्थ-स्वरूपोऽहम् ॥४१॥ परमात्मस्वरूपोऽहम् ॥४२॥ निश्चय-पञ्चाचारस्वरूपोऽहम् ॥४३॥ समयसारस्वरूपोऽहम् ॥४४॥ अध्यात्मसारस्वरूपोऽहम् ॥४५॥ परममंगलस्वरूपोऽहम् ॥४६॥ परमोत्तमस्वरूपोऽहम् ॥४७॥ परमशरणोऽहम् ॥४८॥ परम-केवलज्ञानोत्पत्तिकारणस्वरूपोऽहम् ॥४९॥ सकलकर्मक्षयकारण-स्वरूपोऽहम् ॥५०॥ परमाद्वैतस्वरूपोऽहम् ॥५१॥ परमस्वा-ध्यायस्वरूपोऽहम् ॥५२॥ परमसमाधिस्वरूपोऽहम् ॥५३॥ परमस्वास्थ्यस्वरूपोऽहम्॥५४॥ परमभेदज्ञानस्वरूपोऽहम्॥५५॥ परमस्वसंवेदनस्वरूपोऽहम् ॥५६॥ परम समरसिकभावस्वरूपोऽहम् ॥५७॥ क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपोऽहम् ॥५८॥ केवलज्ञान-स्वरूपोऽहम् ॥५९॥ केवलदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥६०॥ अनन्तवीर्य-स्वरूपोऽहम् ॥६१॥ परमसूक्ष्मस्वरूपोऽहम् ॥६२॥ अवगाहन-स्वरूपोऽहम् ॥६३॥ अव्याबाधस्वरूपोऽहम् ॥६४॥ अष्टविध-कर्मरहितोऽहम् ॥६५॥ निरञ्जनस्वरूपोऽहम् ॥६६॥ अष्ट-गुणसहितोऽहम् ॥६७॥ कृतकृत्योऽहम् ॥६८॥ लोकाग्रवासी-स्वरूपोऽहम् ॥६९॥ अनुपमोऽहम् ॥७०॥ अचिन्त्योऽहम्॥७१॥ अतर्क्योऽहम् ॥७२॥ अप्रमेयस्वरूपोऽहम् ॥७३॥ अतिशय-स्वरूपोऽहम् ॥७४॥ अक्षयस्वरूपोऽहम् ॥७५॥ शाश्वतोऽहं॥७६॥ शुद्धस्वरूपोऽहम्॥७७॥ सिद्धस्वरूपोऽहम्॥७८॥ सोऽहम् ॥७९॥ घातिचतुष्टयरहितोऽहम्॥८०॥ अष्टादशदोषरहितोऽहम् ॥८१॥ पञ्चकल्याणकांकितोऽहम् ॥८२॥ अष्टमहाप्रातिहार्यविशिष्टोऽ-

हम् ॥८३॥ चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतोऽहम् ॥८४॥ शतेन्द्रवृन्द-वंद्यपादारविन्दवन्दोऽहम् ॥८५॥ विशिष्टानन्तचतुष्टयसमव-शरणादिविभूतिरूपान्तरंगबहिरंगश्रीसमेतोऽहम् ॥८६॥ परम-कारुण्यरसोपेतसर्वभाषात्मकदिव्यध्वनिस्वरूपोऽहम् ॥ ८७ ॥ कोट्यादित्यप्रभासंकाशपरमौदारिकदिव्यशरीरोऽहम् ॥ ८८ ॥ परमपवित्रोऽहम् ॥८९॥ परममंगलोऽहम् ॥९०॥ त्रिजगद्गुरु-स्वरूपोऽहम् ॥९१॥ स्वयंभूरहम् ॥९२॥ शाश्वतोऽहम् ॥९३॥ जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसकलपदार्थयुगपदावलोकनसमर्थसकल-विमलकेवलज्ञानस्वरूपोऽहम्॥९४॥ विशदाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभा-समयसकलविमलकेवलदर्शनस्वरूपोऽहम्॥९५॥अतिशयातिशय-मूर्तानन्तसुखस्वरूपोऽहम् ॥९६॥ अवार्यवीर्यानन्तबलस्वरूपो-ऽहम् ॥९७॥ अतीन्द्रियातिशयामूर्तिकस्वरूपोऽहम् ॥९८॥ अचि-न्त्यानन्तगुणस्वरूपोऽहं॥९९॥ निर्दोषपरमात्मस्वरूपोऽहं ॥१००॥

## द्वितीय अधिकार

ज्ञानावरणादिमूलोत्तररूपसकलकर्मविनिर्मुक्तोऽहम् ॥१॥ सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणसमेतोऽहम् ॥२॥ निष्क्रियटंको-त्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपोऽहम् ॥३॥ किञ्चिन्न्यूनोऽन्त्यचरमशरीर प्रमाणोऽहम् ॥४॥ अमूर्तोऽहम्॥५॥ अखण्डशुद्धचिन्मूर्तिरहं॥६॥ निर्व्यप्रसहजानन्दसुखमयोऽहम्॥७॥ शुद्धजीवघनाकारोऽहम्॥८॥ नित्योऽहम् ॥९॥ निष्कलंकोऽहम् ॥१०॥ उर्ध्वगतिस्वभावोऽ-हम्॥११॥ जगत्त्रयपूज्योऽहम् ॥१२॥ लोकाग्रनिवासोऽहं॥१३॥ त्रिजगद्वन्दितोऽहम् ॥१४॥ अनन्तज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥१५॥ अनन्तदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥१६॥ अनन्तवीर्यस्वरूपोऽहम् ॥१७॥ अनन्तसुखस्वरूपोऽहम् ॥१८॥ अनन्तगुण स्वरूपोऽहम् ॥१९॥ अनन्तशक्तिस्वरूपोऽहम् ॥२०॥ अनन्तानन्तस्वरूपोऽहम् ॥२१॥ निर्वेद स्वरूपोऽहम् ॥२२॥ निर्मोहस्वरूपोऽहम् ॥२३॥ निरा-

मयस्वरूपोऽहम् ॥२४॥ निरायुष्क स्वरूपोऽहम् ॥२५॥ निरा-युष स्वरूपोऽहम् ॥२६॥ निर्नामस्वरूपोऽहम् ॥२७॥ निर्गोत्र स्वरूपोऽहम् ॥२८॥ निर्विघ्नस्वरूपोऽहम् ॥२९॥ निर्गति स्वरूपोऽहम् ॥३०॥ निरिन्द्रियस्वरूपोऽहम् ॥३१॥ निष्काय-स्वरूपोऽहम् ॥३२॥ निर्योगस्वरूपोऽहम् ॥३३॥ निजशुद्धात्म-स्मरण निश्चयसिद्धोऽहम् ॥३४॥ परमज्योतिस्वरूपोऽहम्॥३५॥ निज निरञ्जनस्वरूपोऽहम् ॥३६॥ चिन्मयस्वरूपोऽहम् ॥३७॥ ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३८॥

## तृतीय अधिकार

व्यवहारनिश्चयनयपञ्चाचारपरमदयारसपरिणतिपञ्चप्रकार-संसारसागरोत्तरणकारणभूतपूतपोतपात्ररूपनिजनिरञ्जनचित्स्व-भावनाप्रियचतुर्वर्णचक्रवर्त्याचार्यपरमेष्ठिस्वरूपोऽहम् ॥१॥ निजनित्यानंदैकतत्त्वभावस्वरूपोऽहम् ॥ २ ॥ सकलविमल-केवलज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥ ३ ॥ दंडत्रयखण्डिताखण्डचित्पिंड-स्वरूपोऽहम् ॥ ४ ॥ दण्डत्रयखंडिताखंडितचित्पिंडस्वरूपोऽ-हम् ॥ ४ ॥ चतुर्गतिसंसारदूरस्वरूपोऽहम् ॥ ५ ॥ निश्चय-पञ्चाचारस्वरूपोऽहम् ॥ ६ ॥ भूतार्थषडावश्यकस्वरूपोऽ-हम् ॥७॥ सप्तभयविप्रमुक्तस्वरूपोऽहम् ॥८॥ विशिष्टगुणपुष्ट-स्वरूपोऽहम् ॥९॥ नवकेवललब्धि स्वरूपोऽहम् ॥१०॥ अष्ट-विधकर्मकलंकरहितस्वरूपोऽहम् ॥११॥ अष्टादशदोषरहित-स्वरूपोऽहम् ॥१२॥ सप्तनयव्यतिरिक्त स्वरूपोऽहम् ॥१३॥ निश्चयव्यवहाराष्टविधज्ञानाचारस्वरूपोऽहम् ॥१४॥ अष्टविध-दर्शनाचारस्वरूपोऽहं॥१५॥द्वादशविधतपाचारस्वरूपोऽहं॥१६॥ पञ्चविधवीर्याचारस्वरूपोऽहम्॥१७॥ त्रयोदशविधचारित्राचार-स्वरूपोऽहम् ॥१८॥ क्षायिकज्ञानस्वरूपोऽहम् ॥१९॥ क्षायिक-दर्शनस्वरूपोऽहम् ॥२०॥ क्षायिकचारित्रस्वरूपोऽहम् ॥२१॥

क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपोऽहम् ॥२२॥ क्षायिकपञ्चलब्धिस्वरूपोऽहम् ॥२३॥ परमशुद्धचिद्रूपस्वरूपोऽहम् ॥२४॥ विशुद्धचैतन्यस्वरूपोऽहम् ॥२५॥ शुद्धचित्कायस्वरूपोऽहम् ॥२६॥ निजजीवतत्त्वस्वरूपोऽहम् ॥२७॥ शुद्धजीवपदार्थस्वरूपोऽहम् ॥२८॥ शुद्धजीवद्रव्यस्वरूपोऽहम् ॥२९॥ शुद्धजीवास्तिकायस्वरूपोऽहम् ॥३०॥ अखंडशुद्धज्ञानैकस्वरूपोऽहम् ॥३१॥ स्वाभाविकज्ञानदर्शनस्वरूपोऽहम् ॥३२॥ अन्तरंगरत्नत्रयस्वरूपोऽहम् ॥३३॥ अनन्तचतुष्टयस्वरूपोऽहम् ॥३४॥ पञ्चमभावस्वरूपोऽहम् ॥३५॥ नयनिक्षेपप्रमाणविदूरस्वरूपोऽहम् ॥३६॥ सप्तभयविप्रमुक्तस्वरूपोऽहम् ॥३७॥ अष्टविधकर्मनिर्मुक्तस्वरूपोऽहम् ॥३८॥ अविचलितशुद्धचिदानन्दस्वरूपोऽहम् ॥३९॥ अद्वैतपरमाल्हादसुखस्वरूपोऽहम् ॥४०॥

•

प. पू. श्री 108
शिष्य मुनि 108 श्री

श्री सुरेन्द्र कुमार जैन

श्री विनोद कुमार जैन
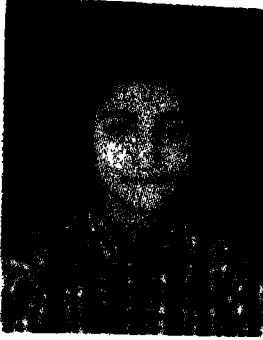
श्री सुचित्रा जैन

श्री विरेन्द्र कुमार जैन

श्री रघु राज जैन

श्री मति सुनिता जैन
रघुवर पुरा

# दान दाताओं की सूची एवम पते

1. **सुरेशचन्द जैन,** Shop-2221784
   H. N. X/3756 धर्मपुरा, गांधी नगर,
   दिल्ली–31 House-2221785

2. **विनोद कुमार जैन,** 2462692
   H. N 3980 गली नं॰ 17 अजीत नगर दिल्ली–31

3. **प्रमोद कुमार जैन,**
   **मुकेश कुमार जैन,**
   **संजीव कुमार जैन,**
   कबूल नगर, शाहदरा, दिल्ली–32

4. **श्री वकील चन्द जैन,** (निनाने वाले) फैज
   **श्री त्रिलोक चन्द जैन,**
   **श्री प्रेम चन्द जैन,**
   **श्री राज पाल जैन,**

5. **श्री धर्म पाल जैन,** 38 कबूल नगर, मंत्री

# आदि सारस्वत् ग्रन्थ माला द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

1. आत्मज्ञानामृत
2. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका
3. नीति सार समुच्चय
4. प्रति क्रमण
5. छह ढाला
7. दिगम्बरत्व और दिगम्बरत्व मुनि
8. सारस्वत् प्रश्नोत्तरी कब क्यों कहा कैसे
9. सम्यक्त्व जैन धर्म प्रश्नात्तरी
10. द्रव्य संग्रह
11. पंच परमेष्ठी पूजन
12. चौसठ ऋिद्धि विधान
13. सास्वत् प्रश्नोत्तरी
14. रत्नकरण्ड श्रावका चार एवं छह ढाला
15. ध्यान सूत्राणि

आचार्य 108 श्री विमल सागर जी महाराज